हिमाचली

संस्कृति का इतिहास

डा० पदम चन्द्र काश्यप
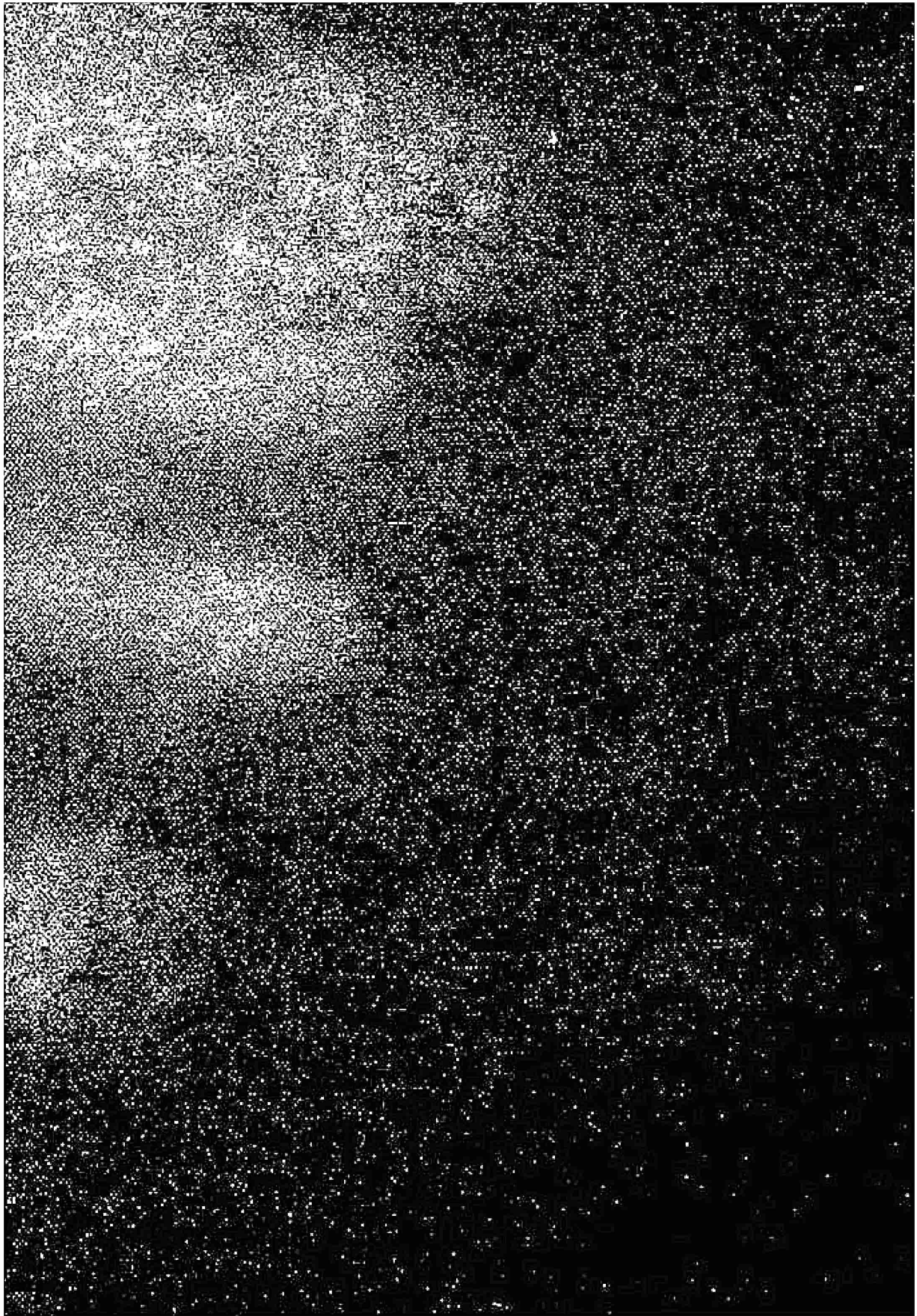
हिमाचली संस्कृति का इतिहास
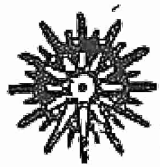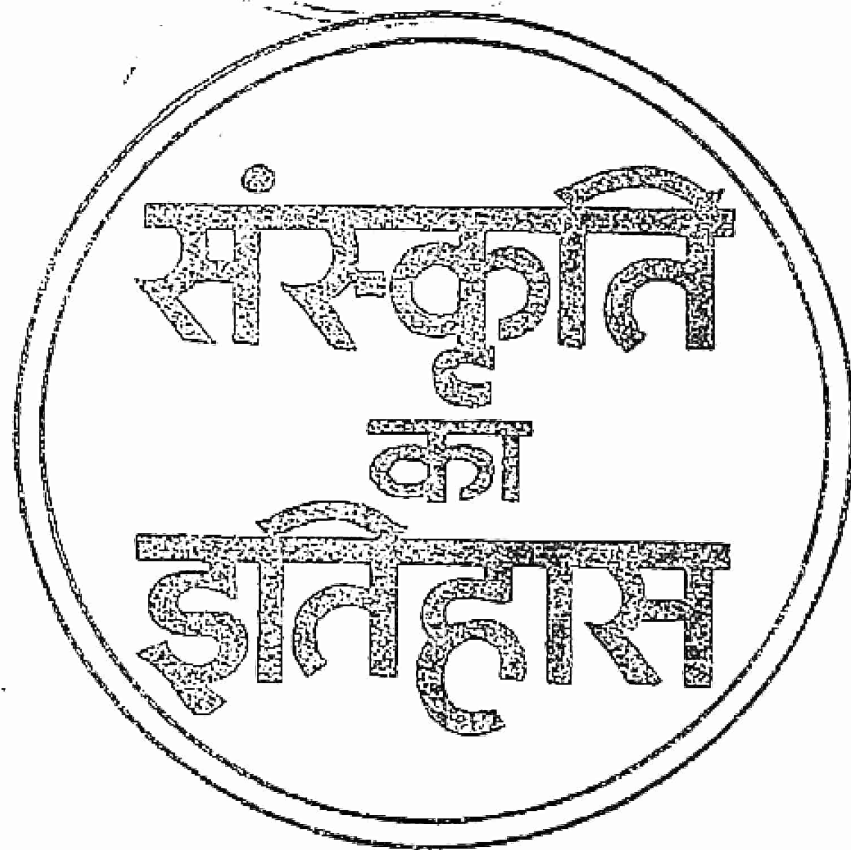
आर्य प्रकाशन मण्डल दिल्ली-31

डा॰ पद्म चन्द्र काश्यप

प्रकाशक
आर्य प्रकाशन मण्डल
महावीर चौक, गांधीनगर, दिल्ली-110031

प्रथम संस्करण
1986

मूल्य
पचहत्तर रुपये

आवरण चित्र : सुभाष मदान

मुद्रक
शांति मुद्रणालय, दिल्ली-32

HIMACHALI SANSKRITI KA ITIHAS (HINDI)
By Dr. PADAM CHANDRA KASHYAP Price Rs. 75.00

भूमिका

संस्कृति की कहानी ही इतिहास है।

वर्तमान शताब्दी के आरंभिक वर्षों तक भारतीय इतिहास की सीमारेखा भगवान बुद्ध का जन्म तथा नन्द-मौर्य वंश की स्थापना मानी जाती रही। उससे पहले की सहस्राब्दियों को प्रागैतिहासिक काल कह कर छोड़ दिया जाता था।

वेद, रामायण और महाभारत को धार्मिक एवं साहित्यिक रचनाओं की सूचियों में शामिल किया जाता था। उनकी चर्चा मुख्यत: सामाजिक संगठन तथा धर्म निरूपण के लिए ही की जाती थी। मान्यता यह रही कि उनमें वर्णित समाज मूलत: ग्रामीण था।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में बलोचिस्तान और सिन्ध के कुछ एक स्थानों की खुदाई में एक उच्च सभ्यता के अवशेष मिले। इसकी तुलना मिस्र, सुमेर और चीन की सभ्यताओं से की जाने लगी। मोहनजोदाड़ो के अवशेषों ने भारतीय इतिहास में नया अध्याय जोड़ा। उसका शीर्षक दिया गया सिन्धु घाटी सभ्यता।

उसके उपरान्त रावी नदी के किनारे मोहनजोदाड़ो से भी बड़े एक अन्य नगर के अवशेष मिले। यहां पर भी वही सभ्यता व्याप्त देखी गई। यह नगर हड़प्पा था। इसके आधार पर इस सभ्यता को नया नाम दिया गया हड़प्पन सभ्यता अथवा हड़प्पन संस्कृति।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, नई-नई जगहों पर नए नए भूमिगत नगर-नगरियां मिलती गईं। शिवालकीय क्षेत्र में रोपड़, राजस्थान में कालीबंगा और गुजरात में लोथल पर महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले। पाकिस्तान के बहावलपुर और चोलिस्तान मरुस्थल में लगभग 650 बस्तियों की एक शृंखला मिली।

विज्ञान प्रगति करता रहा। अन्तरिक्ष की खोज शुरू हुई। भू-उपग्रह छोड़े गए। अमेरिकी भू-उपग्रह लैंडसैट ने भारतीय महाद्वीप के पश्चिम व पश्चिमोत्तरी भाग के चित्र लिए। उधर भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्था ने आधुनिक उपकरणों की सहायता से इस क्षेत्र के भूमितल की जानकारी हासिल की। मालूम हुआ कि लगभग सारा सप्त सिन्धु इलाका सूखी नदियों के बहाव से अटा पड़ा है। इस सारे भू-प्रदेश को एक नदी शिवालिक से लेकर अरब सागर तक दो भागों में काटती दीखती है। इस नदी की तीन मुख्य धाराएं थीं।

यह नदी ही सरस्वती थी। शिवालिक से निकल कर यह नदी दक्षिण-पश्चिम

की ओर बहती थी और पटियाला के निकट इसमें एक विशाल जलप्रवाह मिल जाता था। यह जलप्रवाह सतलुज नदी था। सरस्वती-सतलुज का यह संयुक्त प्रवाह कभी राजस्थान से होकर कच्छ की रण में जा गिरता था और कभी पश्चिम की ओर सिन्धु के समानान्तर बहकर उसके दहाने से लगभग 150 किलोमीटर पूर्व में स्वतंत्र रूप से सागर में मिल जाता था। जब सतलुज ने सरस्वती से पीठ मोड़ी, अपना अलग रास्ता अपनाया, तो केवल सरस्वती का अस्तित्व ही समाप्त नहीं हुआ, वह प्राचीन संस्कृति भी अपने घर को छोड़ दूसरी जगह जाने को बाध्य हुई। सप्तसिन्धु नष्ट और वीरान हो गया।

इसी सरस्वती-सतलुज के किनारे उस प्राचीन युग के अधिकांश अवशेष मिले हैं। यही सरस्वती नदी उन लोगों का जीवनाधार थी। और इसी सरस्वती के गीत वेदों ने भी गाए। अतः हड़प्पन संस्कृति और वैदिक संस्कृति दो विभिन्न संस्कृतियां नहीं हैं, वे एक ही हैं। इसका वास्तविक नाम सरस्वती सिन्धु सभ्यता है और प्रस्तुत पुस्तक में इसी नाम का प्रयोग किया गया है।

शिवालकीय क्षेत्र इस सरस्वती-सिन्धु सभ्यता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रीड़ा-स्थल रहा है। यह क्षेत्र वर्तमान हिमाचल प्रदेश का अभिन्न अंग है, इस दृष्टि से हिमाचल प्रदेश की संस्कृति का इतिहास सरस्वती-सिन्धु सभ्यता का ही इतिहास है। इस कथन की पुष्टि वैदिक वाङ्मय से भी होती है। वेदों में वर्णित दशराज्ञ युद्ध, शम्बर-इन्द्र एवं वृत्र-इंद्र संघर्ष यहीं हुए थे।

अभी तक प्रायः सभी विद्वान यह मानते आए हैं कि सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के अवशेष केवल भूमि के नीचे ही दबे पड़े हैं और उत्खनन से ही प्रकाश में आ सकते हैं। लेकिन प्रस्तुत लेखक ने रोपड़ से ऊपर हिमाचल प्रदेश में सतलुज के किनारे ऐसी नौ बस्तियां खोजी हैं, जो सरस्वती-सिन्धु युग से आज तक जीवित चली आ रही हैं। चार-पांच हज़ार वर्षों से जीवित ये बस्तियां हैं कुल्लू में निरमंड, शिमला में दत्तनगर, निरथ, शिंगवा, शनेर, लाड़सा और डोंड़सा तथा मंडी में काव एवं ममेल।

यही नहीं, कुल्लू की व्यास उपत्यका में मलाणा भी निस्संदेह उन्हीं लोगों की बस्ती है। अन्तर्साक्ष्य के आधार पर पूर्व में हाटकोटी तथा पश्चिम में नगरकोट भी सरस्वती-सिन्धु लोगों की ही नगरियां मालूम पड़ती हैं।

सारस्वत-सैन्धवों की इन बस्तियों के जीवन में ही हमें हिमाचली संस्कृति ही नहीं समूची भारतीय संस्कृति के मूल स्वर सुनाई पड़ते हैं। यह कहना शायद अनुचित न होगा कि इससे भारतीय इतिहास को नए आयाम मिले हैं। कुछ पुरानी मान्यताएं खंडित हुई हैं और नवीन तथ्य सामने आए हैं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, इतर संस्कृत साहित्य, ताम्रपत्र, लोककथा, गाथा, देववार्ता, लोकगीत, सभी को आधार माना गया है। निष्कर्ष निकालने में उनसे सहायता ली गई है

और अपने मत की पुष्टि उनमें वर्णित तथ्यों, घटनाओं, उल्लेखों और विवरणों से करने का प्रयत्न किया गया है।

इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के जन्मदाता नाग और आर्य थे। कालान्तर में ये दोनों जातियां देव का पर्याय बन गईं। जहां इन्द्र देवता बना, वहां नाग भी देवत्व पा गए। दोनों ऐतिहासिक जातियां हैं। ऐसा भी आभास होता है कि तब वर्ण-व्यवस्था गुणों से थी। ब्राह्मण मुख्यतः नाग लोग ही थे। सारस्वत-सैन्धव सप्तसिन्धु क्षेत्र का त्याग कर प्रायः 500 कुटुम्बों की नई बस्ती बसाते थे। समाज में भीतरके और बाहिरके का भेद आरंभ हो गया था, लेकिन धार्मिक कृत्यों में सभी वर्ग समान रूप से सांझीदार थे। रक्त की शुद्धता और चरित्र की शुचिता पर बहुत ज्यादा जोर दिया जाता था।

इस लम्बे अर्से में हिमाचली जीवन में निजी विशेषताएं भी मुखर हुईं। इतिहास में कतिपय घटनाएं केवल आंचलिक महत्त्व की घटीं जिन्होंने हिमाचली संस्कृति के इतिहास को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया। यह प्राचीन संस्कृति किन-किन स्थितियों से गुजरी, उसमें क्या-क्या परिवर्तन होता गया, जीवन ने कब-कब, क्यों, कैसा मोड़ लिया और समय-समय पर मूल्यों में क्या बदलाव आता रहा, प्रस्तुत पुस्तक का यही विवेच्य विषय है। इसे भारतवर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखने और समझने की कोशिश की गई है।

परिणाम यह हुआ कि देश के सभी प्रमुख धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव की प्रतिध्वनि इस पुस्तक में सुनाई पड़ती है। शैव, वैष्णव व बौद्ध धर्म की शास्त्रीय व्याख्या को भी थोड़े-से शब्दों में व्यक्त किया गया है जिससे यहां की घटनाओं को ठीक तरह समझा जा सके। मूर्तिकला और चित्रकला की महत्ता को देशव्यापी लहर में रखकर देखा गया है। यहां की 'गूर' प्रणाली पर विशेष प्रकाश डाला गया है। गूरों ने ही संस्कृति का रक्षण किया है। जीवन को देखने के दो विरोधी दृष्टिकोणों—विकासवाद का सिद्धान्त तथा ह्रासवाद का सिद्धान्त—का पहली बार विवेचन किया गया है।

पुस्तक को आठ अध्यायों में बांटा गया है। पहले अध्याय में संस्कृति क्या है—इसकी विवेचना की गई है और हिमाचली संस्कृति के विशिष्ट पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के मूल सूत्रों को ढूंढ़ने की कोशिश की गई है। तीसरे अध्याय में प्रदेश की जीवित, मृत व गाथाई जातियों का विवरण दिया गया है। चौथे अध्याय में हिमाचली देवी-देवताओं का गुण-कर्म आधार पर वर्गीकरण कर यहां के धर्म की जड़ें खोजी गई हैं। पांचवें अध्याय में बुद्ध से लेकर गुप्तकाल तक के एक हजार वर्षों में हुए जातीय सम्मिश्रण तथा तद्जनित धार्मिक-सामाजिक परिवर्तनों की कहानी है। छठे अध्याय में हिमाचल के साम्राज्य का अंग बन कर कला के नए कीर्तिमान प्राप्त

करने का जिकर है। सातवें अध्याय में राजा-राणा-ठाकुरशाही, सांस्कृतिक आघात एवं सामान्य जनता की दुर्दशा दिखाई गई है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत बदलते मूल्यों, भौतिक समृद्धि, बौद्धिक जागरण और सामाजिक प्रगति का उल्लेख आठवें अध्याय में किया गया है।

इस पुस्तक में पहली बार हर तथ्य को 'क्यों' की कसौटी पर परखने की कोशिश की गई है। सारस्वत-सैन्धवों की कथा होने के कारण यह अपने प्रकार का पहला ग्रन्थ है। सदैव यह ध्यान रखा गया है कि विवेचन तटस्थ व्याख्याकार की तरह किया जाए ताकि जो जैसा भला-बुरा है, वह सामने आए। इसमें क्या कमियां हैं, इस प्रकार के प्रयत्न की क्या सीमाएं हैं, उनके प्रति लेखक सचेत है। उसकी केवल यही कामना है कि पाठक उसी खुले मन से इसे पढ़ें जिससे यह पुस्तक लिखी गई है।

—पदमचन्द्र काश्यप

विषय-सूची

पहला अध्याय

संस्कृति

संस्कृति है क्या ? प्रश्न रोचक है, परंतु उत्तर कठिन। एक जगह अंगुली लगाकर नहीं कहा जा सकता कि संस्कृति यहां है, यह है। धर्म संस्कृति है, कला संस्कृति है, इतिहास भी संस्कृति है, लेकिन केवल वे ही संस्कृति हैं, यह कहना गलत होगा। वेदान्तियों के ब्रह्म की तरह संस्कृति यह भी है, वह भी है, किन्तु इस यह और वह से परे कुछ और भी है।

विद्वानों ने संस्कृति को कई रूपों में देखा है, ठीक "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी" के अनुरूप। साहित्यकारों ने संस्कृति में सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् के दर्शन किए। इतिहास-प्रेमियों को इसमें तथ्यों, घटनाओं, आंदोलनों और क्रान्तियों का ताना-बाना मिला। समाज-शास्त्रियों ने जब समाज के स्वरूप, उसकी विशेषताओं, अच्छाइयों, बुराइयों की छानबीन की, तो देखा, ये सब संस्कृति की ही तस्वीरें हैं। इसमें उन्हें जातिगत और सामाजिक गुत्थियों को समझने और सुलझाने के सूत्र और मंत्र मिले। पुरातत्ववेत्ताओं ने अपनी खोजों और उपलब्धियों की जांच-पड़ताल संस्कृति की कसौटी पर की और मानव-शास्त्रियों ने मनुष्य के जन्म, उसकी आदिम अवस्था, शरीर की बनावट और नाड़ियों में बहते रक्त की पहचान इसके द्वारा करने का विधान बनाया। दार्शनिकों को इसमें अपने चिन्तन का आधार मिला। इस तरह मनीषियों, बुद्धि-जीवियों, कलाकारों, भाषाविदों, वैज्ञानिकों, आस्तिकों और नास्तिकों ने संस्कृति को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा। परिणाम कुछ-कुछ वैसा रहा जैसा कि अन्धों द्वारा दिया जाने वाला हाथी की शक्ल और आकार का विवरण।

यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, उसका स्वरूप इन्द्रधनुष की तरह पकड़ से बाहर है। वर्षा के बाद इन्द्रधनुष बड़ा आकर्षक और सुन्दर लगता है। आकाश और पृथ्वी के हाथों में वर और वधू के आंचल की तरह दीखता है, किन्तु उसका प्रकट होना, लुप्त हो जाना, उसकी बनावट, प्रकृति और सभी कुछ एक रहस्य है। यही स्थिति संस्कृति की है।

परिभाषा

शब्दकोष के पन्ने उलटने पर संस्कृति की जो परिभाषाएं मिलती हैं, उनके

अनुसार संसार में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे परिचय करना संस्कृति है। यह भी माना जाता है कि मन, आचार और रुचियों को जो परिष्कृत करता है, मांजता है, वह संस्कृति है। पारिभाषिकों का दूसरा वर्ग मानता है कि शिक्षा और अनुशासन द्वारा मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक और कलात्मक स्वभाव का विकास ही संस्कृति है। वह कहता है कि संस्कृति वह क्रियाकलाप है, जो कलाकार में सृजन और रसिक में आनन्दानुभूति कराता है। एक अन्य परिभाषा में कहा गया है कि किसी व्यक्ति या समूह की संस्कृति का मानदंड उसका ज्ञान, उसका साहित्य, संगीत और कला से प्रेम या व्यवहार के संस्कार हैं, अर्थात् संस्कृति उन व्यक्तियों के समूह के कलात्मक और बौद्धिक विकास का नाम है।

इन सभी परिभाषाओं से ऐसा मालूम पड़ता है कि संस्कृति किसी पूर्व अवस्था में लाए गए सुधार का परिणाम है अथवा उस अवस्था का एक सुनियोजित, सुनिश्चित दिशा में विकसित होना है। संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है, "सम्यक्-कृति", अर्थात् अच्छा करना, श्रेष्ठतर बनाना, सुधारना, संशोधित करना या परिमार्जित करना। इससे यह मालूम होता है कि इसके दो स्तर हैं संस्कृति से पहले के और संस्कृति के बाद के। प्रकृति ने कुछ गुण सभी प्राणियों को दिए हैं—और ये गुण हैं क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, कामवासना आदि। क्रोध करना मनुष्य की प्रकृति है, लोभ करना उसका स्वभाव है। वह बेगानों से द्वेष करता है और अपनों से उसे अनुराग है। वह अपने बेगानों में भेद करता है। यदि वह इन प्रकृति के दिए हुए गुणों पर रोक न लगाए, तो उसमें और जानवर में कोई फर्क नहीं रह जाता है। उस जिन्दगी को जिस पर न कोई अंकुश है और न जिसकी कोई मर्यादा ही है, पशु-जीवन कहा जाता है। इसलिए मनुष्य इन आवेगों पर रोक लगाता है और कोशिश करता है कि वह गुस्से पर काबू पाए। वह चाहता है कि लोभ-मोह, ईर्ष्या-द्वेष और कामवासना का गुलाम न बने, बल्कि उन्हें ही अपना गुलाम बनाए। इन अवगुणों पर आदमी जितना विजयी होता है, उसकी संस्कृति उतनी ही ऊंची समझी जाती है। इन्हें काबू में कर समाज के सर्वांगीण जीवन का जो तत्त्व निर्माण करते हैं, वे संस्कृति के अंग हैं। या यों कहें कि जानवर से आदमी बनना ही मूलरूप में संस्कृति है।

संस्कृति ऐसी चीज नहीं, जिसकी रचना पचास-साठ साल में हो जाए। इसके लिए शताब्दियां दरकार हैं। एक समाज के लोग सैकड़ों सालों तक जिस तरह रहते-सहते, खाते-पीते, सोचते-समझते, धर्म-कर्म करते या राजकाज चलाते रहते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति बनती है। आदिकाल से हम जिस रूप में शासन चलाते आए हैं, 'देऊ देवी' को मानते हैं, मकान, मन्दिर, देऊरे बनाते आए हैं, बरतन और घर का अन्य सामान बनाते रहे हैं, कपड़े और जेवर पहनते हैं, शादी-ब्याह श्राद्ध करते, पर्व-त्यौहार मनाते आए हैं, अथवा अपने पड़ोसी से

दोस्ती या दुश्मनी का बर्ताव करते आए हैं, वह सबका सब हमारी संस्कृति का अंश है। संस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय, संग्रहालय, थियेटर, सिनेमाघर, रेडियो और टेलीविजन ही नहीं हैं, बल्कि राजनीतिक दल, आर्थिक संस्थाएं, सामाजिक संगठन भी होते हैं, हमारा नाच-गाना भी है, क्योंकि इन सभी पर हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी रहती है। हमारा परिवार कैसा हो, संयुक्त हो या ऐकिक; बुजुर्गों का आदर, बड़ों का मान, घर के मुखिया का विशेष दायित्व, माता-पिता को देवतुल्य मानना, गुरु के प्रति श्रद्धा, देवता को राजा और राजा को देवता मानना भी संस्कृति के लक्षण हैं। यह मानना कि हमारा पुनर्जन्म होता है, अच्छे कर्म से स्वर्ग मिलता है, बुरे कामों का फल नरक में भोगना पड़ता है और भाग्य का लिखा कोई मेट नहीं सकता है, हमारी संस्कृति पर निर्भर करता है।

संस्कृति में हमारा भूत निहित है, वर्तमान गुंफित है और भविष्य गर्भित है। कल हम जो थे, आज हैं और कल बनेंगे, सभी कुछ संस्कृति से मालूम पड़ता है। "देश और उसके लोगों की परम्पराओं और अनुश्रुतियों, उनके रीति-रिवाजों, उनकी भाषा, कला, यहां तक कि समूचे रूप में उनकी संस्कृति से न केवल उनका अतीत प्रकाश में आता है, बल्कि लोगों की विचारधाराओं से उनके भविष्य के बारे में भी अन्दाजे लगाए जा सकते हैं, और वास्तविकता यह है कि जनता की संस्कृति की कहानी ही किसी देश की असल कहानी होती है।"[1]

हमारा सारा जीवन संस्कृति से ओतप्रोत है। हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें हमारी संस्कृति की झलक होती है। सरल शब्दों में कहें तो संस्कृति जिन्दगी जीने के तरीके का नाम है। हम क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं, जीवन को किस दृष्टि से देखते हैं, हमारे कार्य किन विचारों, भावों और इच्छाओं से प्रेरित हैं, अर्थात् हमारे सोचने और करने के सारे व्यवहार-प्रकार ही संस्कृति हैं। अतः संस्कृति मानव के ऐतिहासिक विकास में जीवन-यापन की रीति का नाम है। जीवन को उसका वास्तविक मूल्य प्रदान करने वाले तत्त्वों का नाम ही संस्कृति है। हमारे भाव, हमारी अनुभूति, अभिव्यक्ति, आस्था, निष्ठा, आकांक्षा, इच्छा और कार्य संस्कृति द्वारा प्रेरित होते हैं। हम इसी से ज्ञान, विश्वास, कला, आचार-विचार, विधि-विधान, पूजा-अर्चना और रीति-रिवाज ग्रहण करते हैं।

संस्कृति जन्म-प्रसूत भी है और ज्ञान-प्रसूत भी। वह वैयक्तिक है, वर्गगत और जातिगत भी है। प्रकृति ने जो गुण दिए, वे जन्म से मिले। पैतृक गुण माता-पिता के रक्त से मिले। विद्या, मनन, चिन्तन, स्वाध्याय, अनुभव और संगति से परिष्कृत गुण अपने प्रयत्न से आए। संस्कार व्यक्ति की तरह समाज के भी होते

---

1. लालचन्द प्रार्थी : कुलूत देश की कहानी

हैं। संस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है। उसमें उक्त देश, जाति या समाज का चिन्तन-मनन, रहन-सहन, आचार-विचार आदि सभी बातों का समावेश होता है। इस अर्थ में संस्कृति सार्वदेशिक, सार्वभौमिक और विश्वव्यापी हो जाती है। मनुष्य अन्ततः एक ही जीवश्रेणी का प्राणी है। उसकी अवगतियां और उदात्तीकरण की वृत्तियां एक मार्ग से चलती हैं। व्यक्तिगत स्तर पर विभिन्नता होने पर भी मानवचित्त एक ही है। मनुष्य चाहे पूर्व का हो, चाहे पश्चिम का। भले ही वह जापान, चीन, मिस्र, अरब का हो या यूरोप, अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया का। वह रूस में रहता हो या अफ्रीका में, वह अदृश्य दैवी शक्ति से भयभीत है, अनागत का उसे डर है, अतीत के प्रति उसमें अगाध श्रद्धा है और रूढ़ियों में उसे विश्वास है—किन्तु जहां वह रहता है और जब से रहता आया है, उन भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणों से उसमें वैविध्य भी काफी आ गया है। ज्यों-ज्यों जो वर्ग और समुदाय विज्ञान और टेकनोलोजी के क्षेत्र में अधिक उन्नति करता है, उसका सांस्कृतिक स्तर अन्य वर्गों और जातियों से उसी अनुपात में भिन्न होता जाता है।

यह ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है; लेकिन जिन्दगी वहीं खत्म नहीं हो जाती, वह आर्थिक विकास से भी कहीं ऊंची चीज है। यही बात संस्कृति की है। समय के साथ वह विकसित होती है और परिवर्तित होती रहती है। इतिहास के अन्दर हमें दो सिद्धांत काम करते दीखते हैं—एक सातत्य का सिद्धान्त और दूसरा परिवर्तन का। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी लगते हैं, परन्तु विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्तन का अंश है। उसी प्रकार परिवर्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिए रहता है।

सभ्यता

बहुधा संस्कृति और सभ्यता को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, लेकिन ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। संस्कृति कुछ अंशों में सभ्यता से भिन्न गुण है। सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है। अतः संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन गुण है। सभ्यता का संबंध बाहरी बातों से है, संस्कृति का संबंध भीतरी गुणों से है। सभ्यता केवल भौतिक और शारीरिक उन्नयन है, जबकि संस्कृति मानसिक और बौद्धिक विकास है। संस्कृति और सभ्यता का आपसी संबंध दूध में मक्खन, फूलों में सुगंध और शरीर में आत्मा जैसा है। मकान और उसमें लगी सामग्री सभ्यता का क्षेत्र है, लेकिन मकान की कल्पना, वह किस आकार का, किस प्रकार का, किस बनावट का हो, वह संस्कृति की बात है। इस दृष्टि से देखें तो सभ्यता बाहरी ढांचा मात्र है, जो संस्कृति के बिना निष्प्राण व निस्सार है। उसकी अपेक्षा संस्कृति ज्यादा टिकाऊ है। सभ्यता

की सामग्रियां टूट-फूटकर विनष्ट हो जाती हैं, लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता है। सभ्यता अपेक्षाकृत जल्दी बनती है और जल्दी बिगड़ भी जाती है। संस्कृति के बनने में भी पर्याप्त समय लगता है और बिगड़ने में भी।

लेकिन एक बात हमेशा ध्यान में रखनी होगी। सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे की पूरक हैं। वे साथ-साथ प्रगति करती हुई एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। समृद्ध सभ्यता में सुसंस्कृति का सहज विकास होता है, जिसके फलस्वरूप आचार-विचार में गरिमा आती है तथा धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती है। पंचतन्त्रकार ने "ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले, आगच्छन्ति गृह येषा कार्यार्थं सुहृदयोजना:" में जब सभ्य शब्द का प्रयोग किया तो अभिप्राय सुसंस्कृत से ही था।

निर्माणक तत्त्व

संस्कृति के निर्माण में भूगोल और इतिहास का बहुत बड़ा हाथ रहता है। भूगोल ने ही भारत को एक रूप दिया है, उत्तर में नगाधिराज हिमालय और दक्षिण में सागर। इससे यह देश आत्मनिर्भर हुआ, आत्म-तुष्ट रहा। केवल एक को छोड़कर इसके सभी द्वार बाहर की ओर से बन्द थे। इस खुले पश्चिमी दरवाजे से बाहर के लोगों के बड़े-बड़े झुंड यहां आए। कई लोगों का कहना है कि इस प्रकार का सबसे बड़ा झुंड आर्यों का था। उनके बाद कई और लोग आए, लेकिन कोई दूसरा कभी इतनी बड़ी संख्या में दोबारा नहीं आया है।

जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह कदापि आदि से अन्त तक आर्य नहीं है। उसका मूल स्वर, मूल स्वरूप और मुख्य अवयव भले ही आर्य है किन्तु उसका वर्तमान स्वर एवं स्वरूप स्थिर करने में और लोगों का भी हाथ है। यहां यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस तथ्य पर उस विवाद का कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि आर्य देशज हैं या कहीं बाहर से आए हैं और कि यहां के बसने वालों को उन्होंने खदेड़ दिया था। वैसे भी ज्यों-ज्यों पुराने अवशेष सामने आ रहे हैं, पुरातत्त्ववेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि यह धारणा निर्मूल है कि सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के निर्माता व रचयिता द्रविड़ थे या मध्य एशिया अथवा भूमध्य सागर के आसपास से आए कोई और लोग थे जिन्हें आर्यों ने विस्थापित किया था। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, सिन्धु सभ्यता के जन्मदाताओं में स्वयं आर्य भी थे। भारतीय संस्कृति के वर्तमान स्वरूप का उल्लेख करते हुए डा० रामधारी सिंह दिनकर[1] कहते हैं कि "यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है, एवं

---

1. संस्कृति के चार अध्याय

उसके भीतर अनेक औषधियों का रस समाहित है। यहां कौन आर्य या अनार्य, द्रविड़ या मंगोल, शक या हूण है, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। बाहर से जो लोग आए, उनमें से प्रत्येक का कुछ-न-कुछ धर्म रहा होगा, एवं उनमें से प्रत्येक की कुछ अपनी आदतें रही होंगी, अपने भाव, रीति-रीवाज रहे होंगे। यदि वे जातियां वीर थीं, तो वीरता की बहुत सारी कहानियां उनके साथ आई होंगी। यदि वे जातियां धार्मिक थीं, तो अनेक प्रकार के देवी-देवता और धार्मिक विश्वास उनके साथ आए होंगे। लिखित या अलिखित उनका कुछ साहित्य रहा होगा, उनके कुछ गान रहे होंगे। उनका कुछ नृत्य और मनोविनोद भी रहा होगा। किन्तु इनमें से किसी भी वस्तु या विचार का अब कोई अलग अस्तित्व नहीं है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व इस देश में जितनी भी जातियों के लोग आए, सब हिन्दू हो गए।"

भारत की संस्कृति एक है। सामान्यत: सभी राम और कृष्ण को मानते हैं। गंगा सभी के लिए पवित्र है। सरस्वती सभी के मन में गौरव का भाव जगाती है, अर्थात् सभी की संस्कृति का मूल यही भारत है। वर्णमाला सबकी एक है, भले ही प्रान्त-प्रान्त में आचार-भेद है, भाषा-भेद है, पहराव अलग-अलग है, खान-पान भिन्न-भिन्न है, किन्तु कर्म और जन्मान्तर सभी मानते हैं। सभी मानते हैं कि जीवन नश्वर है। सभी का समाज की सम्पूर्णता में विश्वास है। सभी पारिवारिक जीवन और उत्तरदायित्व की पवित्रता मानते हैं। सभी के मन में मानवमात्र से बन्धुत्व और प्राणीमात्र के प्रति करुणा है। देवताओं के असंख्य नाम और रूप हैं, पुराणों में तो तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं का जिकर है। ये सभी आर्य, अनार्य जातियों के सम्प्रदायों और विश्वासों से लिए गए हैं। एक भारतीय के लिए इसमें कोई झंझट नहीं है, क्योंकि वे सब समान अलौकिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक गुणों का मूर्त रूप हैं। वह चाहे 'महादेऊ' हो, या 'बड़ा देऊ', 'नाग रिखी' हो या माहू नाग, अम्बिका, चामुंडा, महिषासुरमर्दिनी हो या वज्रेश्वरी और रघुनाथ हो, माधोराय व द्वारकाधीश हो। हमारी इस भावना का बहुत ही अनूठा चित्रण कर्नाटक में बेलूर के केशव मंदिर में अंकित इस प्रार्थना में हुआ है :

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पतय: कर्तेति नैयायिका:।
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरता: कर्मेति मीमांसका:।
सोऽयं वो विदधातु वाँछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरि:॥

सभी धर्मों, मतमतान्तरों, दर्शनशास्त्रों के प्रति सहिष्णुता। सभी का मार्ग ठीक, सब वांछित फल देने वाले, किसी नाम से पुकारो, किसी नाम से जानो। यह सहिष्णुता, उदारचित्तता ही भारतीय संस्कृति का प्रमुख स्वर है।

प्राचीन इतिहास, परम्परा, रूढ़ि और आदर्श की समानता, समस्त भारतवर्ष

की संस्कृति को एक बनाती है. इस दृष्टिकोण से उसे विभिन्न जातियों, समाजों, वर्गों या राज्यों एवं प्रदेशों में बांटा नहीं जा सकता। किन्तु यह भी तथ्य है कि भारत एक विशाल देश है, एक महाद्वीप है, अतः यह अनोखी बात नहीं कि उसके विविध भागों की कुछ एक विशिष्ट निजी सांस्कृतिक विशेषताएं भी हों। और जिस प्रकार एक गुलदस्ते में विविध रंग और सुगन्ध के पुष्प अपनी-अपनी विशेषता रखते हुए भी उस सामूहिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय और आंचलिक विशेषताएं भी इस देश की सामूहिक संस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती हैं।

हिमाचली संस्कृति के विशिष्ट पहलू

हिमाचली संस्कृति की स्थिति कुछ निराली है। यह संस्कृति आज भी अछूती है, शुद्ध है। इसकी परम्परा-प्राप्त अक्षुण्ण धारा को अभी तक संसार की कोई संस्कृति पूरी तरह प्रभावित या आविल नहीं कर सकी है। इसलिए नहीं, कि किसी ने प्रयत्न ही न किया हो। भगवान् बुद्ध से लेकर ईसाई मिशनरियों तक ने यहाँ के लोगों को अपने मार्ग पर चलने को प्रेरित किया। साम्राज्यवादियों और सम्राटों ने तथा बाहर के धर्मान्ध शासकों ने यहां की संस्कृति को विचलित करने की भर-पूर कोशिश की, लेकिन असफल रहे। दूसरे, हिमाचल प्रदेश उन क्षेत्रों में से एक है, जहां भारत की आदिम, अर्थात् वैदिक और वेद-पूर्व संस्कृति जन्मी, फूली और फली। भारतीय कांग्रेस के सन् 1957 अधिवेशन के सभापति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी[1] के अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल रूप सप्तसिन्धु में बन चुका था।

वेदों में वर्णित सात नदियों में से केवल सिन्धु और वितस्ता (जेहलम) को छोड़ बाकी सभी नदियां, असक्नी (चनाब), परूष्णी (रावी), अर्जिकीया या विपाशा (व्यास), शतुद्रु (सतलुज) और सरस्वती वस्तुतः हिमाचल प्रदेश की ही नदियां हैं। मानसरोवर राकसताल से निकलने वाली सतलुज के अलावा अन्य चारों नदियों का उद्गम इसी प्रदेश के पर्वतों में है। सरस्वती शिवालिकीय क्षेत्र से निकलती थी, और संभवतः गिरि-पब्बर का जल इसमें मिलता था। व्यास रोहतांग के व्यासकुंड से निकलती है। रावी धौलाधार के बड़ा बंघाल से। चनाब लाहुल-स्पिति के बारांलाचा जोत से निकलती है, चन्द्रा जोत के दक्षिण-पूर्वी छोर से और भागा उत्तर-पश्चिमी किनारे से। व्यास, चनाब (चन्द्रा-भागा), और रावी का मिथकों, कथाओं, पुराणों और परम्पराओं में गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के समान ही उल्लेख हुआ है। इनके इर्द-गिर्द लोककथाओं, लोक-

1. लोमहर्षिणी—प्रस्तावना

उसके भीतर अनेक औषधियों का रस समाहित है। यहां कौन आर्य या अनार्य, द्रविड़ या मंगोल, शक या हूण है, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। बाहर से जो लोग आए, उनमें से प्रत्येक का कुछ-न-कुछ धर्म रहा होगा, एवं उनमें से प्रत्येक की कुछ अपनी आदतें रही होंगी, अपने भाव, रीति-रीवाज रहे होंगे। यदि वे जातियां वीर थीं, तो वीरता की बहुत सारी कहानियां उनके साथ आई होंगी। यदि वे जातियां धार्मिक थीं, तो अनेक प्रकार के देवी-देवता और धार्मिक विश्वास उनके साथ आए होंगे। लिखित या अलिखित उनका कुछ साहित्य रहा होगा, उनके कुछ गान रहे होंगे। उनका कुछ नृत्य और मनोविनोद भी रहा होगा। किन्तु इनमें से किसी भी वस्तु या विचार का अब कोई अलग अस्तित्व नहीं है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व इस देश में जितनी भी जातियों के लोग आए, सब हिन्दू हो गए।"

भारत की संस्कृति एक है। सामान्यतः सभी राम और कृष्ण को मानते हैं। गंगा सभी के लिए पवित्र है। सरस्वती सभी के मन में गौरव का भाव जगाती है, अर्थात् सभी की संस्कृति का मूल यही भारत है। वर्णमाला सबकी एक है, भले ही प्रान्त-प्रान्त में आचार-भेद है, भाषा-भेद है, पहराव अलग-अलग है, खान-पान भिन्न-भिन्न है, किन्तु कर्म और जन्मान्तर सभी मानते हैं। सभी मानते हैं कि जीवन नश्वर है। सभी का समाज की सम्पूर्णता में विश्वास है। सभी पारिवारिक जीवन और उत्तरदायित्व की पवित्रता मानते हैं। सभी के मन में मानवमात्र से बन्धुत्व और प्राणीमात्र के प्रति करुणा है। देवताओं के असंख्य नाम और रूप हैं, पुराणों में तो तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं का जिकर है। ये सभी आर्य, अनार्य जातियों के सम्प्रदायों और विश्वासों से लिए गए हैं। एक भारतीय के लिए इसमें कोई झंझट नहीं है, क्योंकि वे सब समान अलौकिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक गुणों का मूर्त रूप हैं। वह चाहे 'महादेऊ' हो, या 'बड़ा देऊ', 'नाग रिखी' हो या माहू नाग, अम्बिका, चामुंडा, महिषासुरमर्दिनी हो या वज्रेश्वरी और रघुनाथ हो, माधोराय व द्वारकाधीश हो। हमारी इस भावना का बहुत ही अनूठा चित्रण कर्नाटक में वेलूर के केशव मंदिर में अंकित इस प्रार्थना में हुआ है :

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पतयः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वाँछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

सभी धर्मों, मतमतान्तरों, दर्शनशास्त्रों के प्रति सहिष्णुता। सभी का मार्ग ठीक, सब वांछित फल देने वाले, किसी नाम से पुकारो, किसी नाम से जानो। यह सहिष्णुता, उदारचित्तता ही भारतीय संस्कृति का प्रमुख स्वर है।

प्राचीन इतिहास, परम्परा, रूढ़ि और आदर्श की समानता, समस्त भारतवर्ष

की संस्कृति को एक बनाती है. इस दृष्टिकोण से उसे विभिन्न जातियों, समाजों, वर्गों या राज्यों एवं प्रदेशों में बांटा नहीं जा सकता। किन्तु यह भी तथ्य है कि भारत एक विशाल देश है, एक महाद्वीप है, अतः यह अनोखी बात नहीं कि उसके विविध भागों की कुछ एक विशिष्ट निजी सांस्कृतिक विशेषताएं भी हों। और जिस प्रकार एक गुलदस्ते में विविध रंग और सुगन्ध के पुष्प अपनी-अपनी विशेषता रखते हुए भी उस सामूहिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय और आंचलिक विशेषताएं भी इस देश की सामूहिक संस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती हैं।

हिमाचली संस्कृति के विशिष्ट पहलू

हिमाचली संस्कृति की स्थिति कुछ निराली है। यह संस्कृति आज भी अछूती है, शुद्ध है। इसकी परम्परा-प्राप्त अक्षुण्ण धारा को अभी तक संसार की कोई संस्कृति पूरी तरह प्रभावित या आविल नहीं कर सकी है। इसलिए नहीं, कि किसी ने प्रयत्न ही न किया हो। भगवान् बुद्ध से लेकर ईसाई मिशनरियों तक ने यहाँ के लोगों को अपने मार्ग पर चलने को प्रेरित किया। साम्राज्यवादियों और सम्राटों ने तथा बाहर के धर्मान्ध शासकों ने यहां की संस्कृति को विचलित करने की भरपूर कोशिश की, लेकिन असफल रहे। दूसरे, हिमाचल प्रदेश उन क्षेत्रों में से एक है, जहां भारत की आदिम, अर्थात् वैदिक और वेद-पूर्व संस्कृति जन्मी, फूली और फली। भारतीय कांग्रेस के सन् 1957 अधिवेशन के सभापति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी[1] के अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल रूप सप्तसिन्धु में बन चुका था।

वेदों में वर्णित सात नदियों में से केवल सिन्धु और वितस्ता (जेहलम) को छोड़ बाकी सभी नदियां, अस्कनी (चनाब), परूषणी (रावी), अर्जिकीया या विपाशा (व्यास), शतुद्रु (सतलुज) और सरस्वती वस्तुतः हिमाचल प्रदेश की ही नदियां हैं। मानसरोवर राकसताल से निकलने वाली सतलुज के अलावा अन्य चारों नदियों का उद्गम इसी प्रदेश के पर्वतों में है। सरस्वती शिवालिकीय क्षेत्र से निकलती थी, और संभवतः गिरि-पब्बर का जल इसमें मिलता था। व्यास रोहतांग के व्यासकुंड से निकलती है। रावी धौलाधार के बड़ा बंघाल से। चनाब लाहुल-स्पिति के बारांलाचा जोत से निकलती है, चन्द्रा जोत के दक्षिण-पूर्वी छोर से और भागा उत्तर-पश्चिमी किनारे से। व्यास, चनाब (चन्द्रा-भागा), और रावी का मिथकों, कथाओं, पुराणों और परम्पराओं में गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के समान ही उल्लेख हुआ है। इनके इर्द-गिर्द लोककथाओं, लोक-

1. लोमहर्षिणी—प्रस्तावना

गीतों, लोकगाथाओं, पर्वों और त्योहारों का ताना-बाना बुना हुआ है।

विश्व मानचित्र पर हिमाचल प्रदेश भले ही सिर्फ एक नाम ही हो, भारतीय गणराज्य का एक छोटा-सा भाग हो और देश की 70 करोड़ जनसंख्या में से केवल 45 लाख लोग ही यहां बसते हों, लेकिन संस्कृति के क्षेत्र में, विशेषकर हिन्दू संस्कृति के मौलिक स्वरूप के सन्दर्भ में हिमाचल प्रदेश का महत्त्व सर्वाधिक है। देश की संस्कृति का मूल यहीं मिलता है। इसके आसपास ही कहीं किसी ऋषि ने प्रथम वेदमन्त्र के दर्शन किए होंगे। अग्नि शायद यहीं कहीं उपजी थी, और शायद सूर्य की पहली किरण ने मानव का स्वागत भी इसी प्रदेश की किसी नदी के किनारे किया होगा। यह दावा न तो कपोलकल्पना है, न किसी विक्षिप्त मस्तिष्क की उड़ान और न ही यह अवांछित, संकुचित क्षेत्र—भक्ति और आंचलिक दम्भ का परिणाम है।

भारतीय इतिहास कांग्रेस के सन् 1952 अधिवेशन के सभापति डा० राधा-कुमुद मुखर्जी[1] ने 'अपना पक्का मत' व्यक्त करते हुए कहा था कि "आदि मनुष्य पंजाब और शिवालिक की ऊंची भूमि पर विकसित हुआ होगा।" वह यह मानते लगते हैं कि मनुष्य भारत में ही उत्पन्न हुआ था और इसी देश में उसकी सभ्यता भी विकसित हुई थी। शिवालिक श्रृंखला मैदान और पहाड़ का मिलन-स्थल है। कहां मैदान समाप्त हुआ और कब पहाड़ उग आया, तथा वे कैसे एक-दूसरे में घुल-मिल गए, यहां देखा जा सकता है।

पंजाब विश्वविद्यालय के एक खोज दल ने बिलासपुर से लगभग 50 किलो-मीटर पश्चिम में हरितल्यानगढ़ के निकट एक पशु जबड़ा प्राप्त किया है। प्रारंभिक अनुमान के अनुसार यह जबड़ा तकरीबन 80 लाख वर्ष पुराना है। इस जबड़े के दांत सुरक्षित हैं। इसी विश्वविद्यालय के एक अन्य दल को उपर्युक्त स्थल के समीप कुछ और अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ये अस्थि-पंजर उस काल के हैं जब मानव धीरे-धीरे अपने वर्तमान स्वरूप और आकार की ओर विकसित हो रहा था। यद्यपि अभी तक कोई अति प्राचीन समूचा मानव अस्थिपंजर प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे पता लगता है कि आदि मानव ने शिवालिक और हिमालय की इसी भूमि में जीवन व्यतीत किया था।

कांगड़ा में व्यास-बाणगंगा उपत्यका, बीच में नालागढ़-बिलासपुर की सतलुज-सिरसा घाटी तथा पूर्व में सिरमौर में मारकंडा उपत्यका में आदि मानव द्वारा प्रयुक्त पाषाण-शस्त्र मिले हैं। इस प्रकार के औजार और शस्त्र मुख्यत: गुलेर, डेरागोपीपुर, पंचसरन, ढलियारा, कांगड़ा, बिलासपुर, नालागढ़ और सुकेती में

1. संस्कृति के चार अध्याय में उद्धृत।

मिले हैं। जानकार लोगों का कहना है कि सिरसा-सतलुज और मारकंडा क्षेत्र में प्राप्त औजार कम से कम 40 हजार वर्ष पुराने हैं। रोपड़ में नवपाषाणयुगीन अवशेष मिले हैं।

इससे विदित होता है कि मानव-विकास के लम्बे इतिहास में इस प्रदेश ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। छ: हजार वर्ष पूर्व से छ: लाख वर्ष पूर्व के इस दीर्घ काल में मनुष्य किस-किस स्थिति से गुजरा, जीवन-यापन के उसने कौन-कौन-से साधन अपनाए, विकास की किन-किन मंजिलों को पार किया, आज केवल अनुमान का विषय रह गया है।

सरस्वती-विपाशा

वेदों की साक्षी से सविता के दर्शन ऋषियों को यहीं कहीं हुए थे। भारतीय समाज की नींव सरस्वती के किनारे ही रखी गई थी, और यह सरस्वती हिमाचल की ही जाया थी। हिमाचल की ही दूसरी नदी "अर्जिकीया व्यास के तट पर थकी हुई ऊषा ने अपना जीर्णशीर्ण शकट गिराया और स्वयं पश्चिम दिशा में चली गई थी।" ऋषि विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ के पुत्रों का वध कर डाला। वसिष्ठ के मन पर गंभीर आघात लगा और पुत्रों के मोह से व्याकुल महर्षि ने अर्जिकीया में कूदकर अपने प्राण त्याग देने की चेष्टा की। किन्तु नदी ने उन्हें डूबने नहीं दिया। वसिष्ठ का मोह दूर हुआ और उन्होंने नदी का नामकरण किया, विपाशा अर्थात् पाश, बन्धों को दूर करने वाली। इस घटना की ओर संकेत ब्रह्मांड पुराण की व्यासस्तुति में किया गया प्रतीत होता है :

> पीठे जालन्धरे चैव सद्य: पाप हरा परा,
> विपाशेति नदी श्रेष्ठा वर्तते लोक पावनी।

दशराज्ञ युद्ध

दशराज्ञ युद्ध से पूर्व इसी विपाशा तथा हिमाचल की तीसरी नदी शतुद्रु (सतलुज) से विश्वामित्र ने बड़े सम्मान और श्रद्धा से प्रार्थना की थी कि उसे और उसकी सेनाओं को पार उतरने के लिए अपने पानी के बहाव को कम करें और इतना उतार दें कि वे सुविधा से दूसरी पार जा सकें और सुदास के विरुद्ध युद्ध में भाग ले सकें। उधर वसिष्ठ ने इन्द्र से अनुरोध किया था कि वह इन दोनों नदियों को पारगम्य बना दे जिससे दोनों ओर की सेनाएं लड़ने योग्य हो जाएं। दोनों पक्षों की सेनाएं इन नदियों के आर-पार रही होंगी, इससे यह मत कि दशराज्ञ युद्ध रावी के किनारे हुआ होगा, ठीक नहीं लगता है। रावी के किनारे पहुंचने के लिए दोनों पक्षों की सेनाओं को पूर्व से पश्चिम जाना पड़ा होगा, और एक ही दिशा से उन्हें सतलुज और व्यास को पार करना पड़ा होगा; ताकि उस स्थल पर

पहुंच जाएं। यह स्थल क्या कुरुक्षेत्र की तरह कोई विशेष महत्त्व रखता था ? इसका कोई संकेत कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यह दशराज्ञ युद्ध व्यास और सतलुज के बीच के क्षेत्र में हुआ था। इस युद्ध में एक ओर महर्षि वसिष्ठ थे तो दूसरी ओर ब्रह्मर्षि विश्वामित्र। विपक्षी जातियां थीं यदु और पुरु, भरत और तृत्सु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्मू, जह्नू और भृगु। महर्षि वसिष्ठ विजयी सुदास के गुरु थे। यह युद्ध कब हुआ, कहना कठिन है। यदि यह तब हुआ जब व्यास सतलुज में न मिलकर सीधे सिंधु नदी में जा मिलती थी और सतलुज पटियाला के निकट सरस्वती में मिल जाती थी। उस स्थिति में रणस्थल बहावलपुर-हड़प्पा क्षेत्र रहा होगा। इसे स्वीकारने में बाधा यह है कि उस दशा में ऋषिद्वय प्रार्थना सरस्वती से करते, सतलुज से नहीं, क्योंकि संयुक्त बहाव सरस्वती के नाम से ही जाना जाता था। शायद यह घटना, उस काल की है जब व्यास-सतलुज में मिल चुकी थी। युद्धस्थल इन दोनों नदियों के बीच का भाग रहा होगा। सतलुज-व्यास के बीच का क्षेत्र ठीक जालन्धर द्वाब बन जाता है। जालन्धर वेदोत्तर वाङ्मय में त्रिगर्त के पर्यायवाची के रूप में भी आता है। जालन्धर या तो त्रिगर्त तक फैला था, या त्रिगर्त की मैदानी सीमा जालन्धर तक थी। ब्रह्मांड पुराण में जालन्धरपीठ की महानदेवी का नाम वज्रे-श्वरी दिया गया है, और वज्रेश्वरी कांगड़ा की देवी और कटोच्चों की कुलजा है। त्रिगर्त स्पष्टत: कांगड़ा ही है। इस तरह त्रिगर्त-जालन्धर आर्य अस्त्र-शस्त्र के महान टकराव का स्थल बन जाता है। आर्य तब इस इलाके में और इसके आजू-बाजू ही रहते थे। यही कारण है कि आगे चलकर यहां के लोगों के अस्त्र-प्रेम को देखकर उन्हें आयुध-जीवी कहा जाने लगा था।

दशराज्ञ युद्ध से पूर्व सुदास का पिता दिवोदास 40 वर्षों तक शम्बर के साथ युद्ध करता रहा और अन्त में विजय प्राप्त करने के लिए उसे इन्द्र की सहायता लेनी पड़ी। शम्बर पर्वतेश था, उसके सौ दुर्ग थे। ऋग्वेद में उसे अहि और दानव कहा गया है :

> य: शम्बरं पर्वतेषुक्षियन्त चत्वारिंश्यां शरधन्वविन्दन्,
> ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्र: ।[1]

शम्बर के ये दुर्ग संभवत: शिवालिक और धौलाधार पर्वतमालाओं पर थे। शम्बर का राज्य व्यास और रावी के बीच का पहाड़ी इलाका रहा होगा। इस क्षेत्र में वर्तमान कांगड़ा, मंडी, कुल्लू और चम्बा आते हैं। राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि शम्बर कांगड़ा के पहाड़ी किलों का मालिक था। यद्यपि आल इंडिया गेजेटियर दिवोदास-शम्बर युद्ध पांचाल अथवा रुहेलखंड की पहाड़ियों में हुआ

1. ऋग्वेद (11.2.1.11)

कहता है, किन्तु अब प्राय: सभी विद्वान यह मानते हैं कि यह युद्ध सप्तसिन्धु क्षेत्र में स्थित वर्तमान हिमाचल की पहाड़ियों में हुआ था। संभवत: यह शिवालिकीय क्षेत्र रहा होगा। दिवोदास का राज्य रावी, व्यास और सतलुज के बीच का मैदानी भाग था, जिसमें आधुनिक पंजाब के जालन्धर, कपूरथला, अमृतसर, फिरोजपुर, गुरदासपुर और होशियारपुर के जिले और पश्चिमी पाकिस्तान का सीमावर्ती प्रदेश आता है। इससे यह प्रतीत होता है कि तृत्सुओं के चक्रवर्ती पद प्राप्ति में हिमाचल के वीर लोग ही रोड़े थे और उनकी यह अभिलाषा दिवोदास की अगली पीढ़ी में सुदास तभी पूरा कर सका जब उसने इन्द्र की सहायता से विश्वामित्र और शम्बर-पुत्र भेद को हराया।

अत: यह निर्विवाद तथ्य है कि वैदिक युग में हिमाचल का शिवालिकीय क्षेत्र आर्य जीवन के केन्द्र स्थानों में से एक था, जिसके फलस्वरूप आज भी इस प्रदेश की संस्कृति के कई ऐसे पक्ष हैं जो उन बीते दिनों की याद ताजा करते हैं। प्रार्थी का यह कहना किसी सीमा तक उचित है कि "ऋग्वैदिक आर्यों की संस्कृति और आर्य सभ्यता की झलक अपने सीमित रूप में न्यूनाधिक परिस्थितियों में यदि कहीं प्रचलित रही है तो वह यही भूखंड है, जिसमें कश्मीर, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश और नेपाल-आसाम तक के पहाड़ी इलाके शामिल हैं। हिमाचल की इन्हीं घाटियों और वादियों में आदि भृगु ने पहली बार अग्नि देवता को साक्षात् रूप में आकाश से पृथ्वी पर उतारा। यहीं मनु से मानव का जन्म हुआ। सप्तऋषियों ने इसी हिमालय के दामन में तप किया। इन्हीं वादियों से सप्तसिन्धु की अनेक नदियों ने जन्म लिया। सत्ययुग के अन्त में पैदा हुए ऋषि जमदग्नि, उनके लड़के श्री परशुराम और मां रेणुका के वर्णन से यह दामन भरा पड़ा है।"[1]

अराजकता का आभास

कभी-कभी ऐसा महसूस होने लगता है कि संस्कृति के क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश में निरी अराजकता है। सभी बातों में विरोधाभास है। कोई भी चीज सारे प्रदेश में एक-सी नहीं लगती है। न एक देवी, न एक देवता, न समान कला, न कौशल, न एक बोली, न भाषा। पांच-दस मील की कोई रियासत रही और उसने अपने आपको 'देश' कहलाया। उस 'देश' के गीत गाए गए और जब कभी पत्थरों से, रस्सी से, वृक्षों की टहनियों से, तीरकमान या टोपीदार बन्दूकों से सौ-दो सौ सैनिकों की 'सेना' ने अपनी सीमा से बढ़कर या चढ़कर एक आध-गाँव जीत लिया, तो इस विजय वाहिनी के शौर्य के गीत गाए गए। और इस तरह इन चालीस-पैंतालीस छोटी-बड़ी रियासतों के 'बसाहरे', 'शडोचे', 'कुड्ुवे', 'कोटगरू', 'ठेउगिए',

---

1. कुलूत देश की कहानी।

'नाहणिये', 'सकेतड़', 'मंडयाल', 'चम्याल', 'पठानिये' एवं 'गुलेरिये' ने सदा यही दर्शाया कि उनके पड़ोसी नीच हैं, हीन हैं। इस बड़े और छोटे के झगड़े ने सारे समाज को लम्बे अर्से तक आक्रान्त कर रखा।

प्रदेश की भौगोलिक एवं भाषाई वास्तविकता का चित्रण 'चार कोस पर पाणी बदले, आठ कोस पर बांणी' कहावत में बड़ा अच्छा हुआ है। यहां की बस्तियां ही मुख्यतः नदी-नालों, गाड़ों व दरिया के किनारे हैं। ये नदी-नाले हर धार-पर्वत से निकलते हैं। जितनी धारें हैं, उतनी ही गाडें हैं। धारें बेशुमार हैं, इसलिए नदी-नाले भी बहुत ज्यादा हैं। इन धारों-गाडों ने जहां एक ओर मनुष्य के लिए भूमि और जल सुलभ कराया, वहां दूसरी ओर उसे एकान्तवासी भी बना दिया। वह अपने में ही मस्त, अपने ही परिवार, कुटुम्ब, अल्ल और खूंद में ही उसे सब कुछ मिल गया। न उसे दूसरों से मिलने की चाह रही और न ही तो आवश्यकता। थोड़ी-सी जरूरतें रहीं और वे उसी धार या गाड की सीमा में पूरी हो गई। यदि कभी बाहर निकला तो अपने देऊदेवी के साथ और वह भी समूह में, झुंड में। अकेला रहना तो शायद उसे ज्यादा नहीं अखरा, लेकिन अकेले दूर के धार-गाड में जाना उसे अवश्य अरुचिकर रहा।

कुछ समय पूर्व तक वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप देश के अन्य भागों में है, उसे प्रदेश के ज्यादा लोग जानते भी नहीं थे। यहां के लोक-साहित्य में आर्य, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्दों का प्रयोग आधुनिक ही है। इस प्रदेश के बहुत बड़े भाग में आर्य शब्द को कोई जानता भी न था और न क्षत्रिय की ही पहचान थी—न जातियों, उपजातियों की गणना में, न लोक चेतना में। विशद परिप्रेक्ष्य में केवल माणू, देऊनाग और राक्स का ही जिकर आता है। माणू न आर्य था और न आर्येतर। वह यदि था तो भाट, खश, कनैत, राहू, डागी, डूम, मेघ, घिरथ, कोली, नाई, सोई, बाजगी, बेटेहड़, लुहार, कुम्हार या ऐसा जैसा ही कोई और। भाट थे, तो पुरोहित, नगरकोटिये, गाहरी, पाधे, भटेड़ु, हलवाहे, स्वांतरू, राठी या करेण्डू। क्षत्रिय की गणना में केवल राजा-राणा, मियां और राठी ही आते थे। कनैत, खश और राहू इस वर्ग से बाहर थे। कालक्रम में इन जातियों की उपजातियों की संख्या बहुत अधिक हो गई। अठारहवीं सदी में कांगड़ा में वर्ण-व्यवस्था के एक सर्वेक्षण से मालूम होता है कि "कांगड़ा देस के सभी लोक अपणी-अपणी अल्लों से मशहूर हैं।" अल्ल इन उपजातियों की अलग-अलग इकाइयों को कहा जाता था। अकेले कांगड़ा में, तब, इनकी संख्या 1565 थी, जिनमें 521 ब्राह्मणों की, 321 क्षत्रियों की, 88 खत्रियों की, 221 घिरथों की और 96 कोलियों की अल्लें थीं।

लेकिन यह स्थिति उस कदर हास्यप्रद नहीं है, जितनी दीखती है। रामायण के सर्वप्रथम संकलन के समय भारतवर्ष में छोटी-छोटी रियासतें थीं। उस समय ऐसा कोई बड़ा राज्य या प्रान्त नहीं था जिसका उल्लेख महाभारत में हुआ हो।

जैकोबी के इस मत को पुष्ट करते हुए डा०एच०डी० सांकलिया ने कहा है कि पुराने अवशेषों की खोजों से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि रामायण काल और उससे पूर्व भारतवर्ष में छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयां थीं, जिनका अपना शासनतन्त्र था, अपना पृथक् अस्तित्व था ।[1] हिमाचल प्रदेश रामायण काल से बहुत पहले बस चुका था । आर्य इस क्षेत्र में बसकर ही पूर्व की ओर गांगेय प्रदेश में गए थे अत: तब से चली आ रही राज्य और सामाजिक व्यवस्था यदि यहां कायम है, तो आश्चर्य क्या ? इस प्रदेश की रियासतें, राहणू, और ठकुराइयां वस्तुतः प्राचीनतम काल की निशानियां थीं । इन सहस्राब्दियों में स्वाभाविक तौर पर ये 40-45 इकाइयां अपने आप में संतुष्ट रहकर अपना-अपना जीवन जीती रहीं । उनके अपने देवी-देवता बने, निजी कुलज स्थापित हुए, पूजा-अर्चना के लिए अलग देऊरे, मन्दिर, व्रत, त्योहार, पर्व व मेले निश्चित हुए । लोग भी अलग-अलग सामाजिक इकाई बनते गए । इन पर ईसा की दसवीं से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक मैदान से भाग कर आए राजपूत-ब्राह्मण शरणार्थियों ने अपनी संस्कृति की कलम पैवंद की, जिससे एक सुदृढ़ वृक्ष बन गया । इस तरह ऐतिहासिक और भौगोलिक वैविध्य ने प्रदेश का अत्यन्त मनोहारी अनेक-रंगीय चित्र बनाया, जो अपने आप में अनुपम है, अद्वितीय है । लेकिन ज्यादा गहरे जाकर देखें तो इस सारे विरोध, वैविध्य और भिन्नता में भी एक ऐसा सूत्र वर्तमान है जो एक कोने से दूसरे कोने तक चला आता है ।

क्षेत्रीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति को सामान्यतः तीन क्षेत्रीय भागों में बांटा जाता है : (1) पार्वतीय सीमान्तक, (2) सिन्धु-गांगेय प्रदेशीय, तथा (3) दक्षिणी । इन तीनों क्षेत्रों की मूल संस्कृति का स्वर एक है, स्रोत एक है । आश्चर्य की बात यह है कि इन तीन उपसंस्कृतियों की अपनी-अपनी जो मुख्य विशेषतायें हैं, वे सभी किसी-न-किसी रूप में हिमाचल में मिलती हैं । हम देखेंगे कि जातीय और राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह प्रदेश अपने आप में लघु भारत है । भारत की लगभग सभी जातियों का आगमन यहां हुआ । देश के सभी राजनीतिक परिवर्तनों में यह भागीदार रहा और उसके सभी सांस्कृतिक एवं धार्मिक आन्दोलनों से यह प्रभावित होता रहा है । इसके बावजूद, इसका अपना पृथक् अस्तित्व और विशिष्ट व्यक्तित्व बना रहा है ।

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि समूची भारतीय संस्कृति अपने पूर्ण वैभव में हिमाचल में देखी जा सकती है । यहां पर लोक संस्कृति का लगभग वही रूप वर्तमान है, जो तमिलनाडु में है, कर्नाटक में है, असम की पहाड़ियों में है, गंगा के

1. टाइम्स आफ इंडिया में लेख

किनारे और पंचनदीय क्षेत्र में है। कलात्मक अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों ने मुक्त वातावरण में निर्बाध ढंग से सृजन और विकास के अवसर यहां पाए हैं, यहां मोहक, अनूठे चित्र चित्रित किए गए, भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ, और संगीत की विशिष्ट स्वरलहरी से समूचे देश का वायुमंडल गुंजारित किया गया है। इनके अतिरिक्त, जैसा हम कह चुके हैं, हिमाचली संस्कृति की कतिपय निजी विशेषताएं हैं, जिन्होंने समग्र रूप में अखिल भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित किया है और जिनका अनुशीलन भारतीय संस्कृति की सही समझ के लिए अनिवार्य है।

हिमाचली संस्कृति के तीन रूप

हिमाचल प्रदेश के भी तीन भौगोलिक भाग किए जा सकते हैं। काश्मीर को छोड़कर, भारत का यही एक इलाका है जो सप्तसिन्धु मैदान से भीतरी हिमालय तक फैला हुआ है। बाहरी शिवालिकीय क्षेत्र तो सिन्धु-गांगेय मैदान का भाग ही समझा जा सकता है। यह नूरपुर से पांवटा तक फैला है। वैसे भी शिवालिक तो हिमाचल का ही पर्वत है, वही इसका द्वार है। इसी क्षेत्र में हजारों वर्षों तक भारतीय इतिहास बनता और बिगड़ता रहा है। शिवालिक और हिमालय के बीच के हिस्से में इतिहास और संस्कृति के सभी चिह्न सुरक्षित हैं। इस सन्दर्भ में यह भाग हमारे अध्ययन के लिए नितान्त उपयोगी है। तीसरा क्षेत्र सीमान्तक है, यह मुख्यतः बौद्ध है। प्राचीन काल से यह मध्य एशिया और तिब्बत के साथ व्यापार, व्यवहार और आचार के विनिमय का राजमार्ग रहा है। प्रदेश के ये तीन सांस्कृतिक विभाग हैं :

(1) शिवालिकीय पट्टी। इसमें नालागढ़, बिलासपुर, ऊना और कांगड़ा का दक्षिण-पश्चिमी भाग आता है।

(2) मध्य खंड। इसमें सिरमौर, शिमला, सोलन, सुकेत, मंडी, कुल्लू, हमीरपुर एवं कांगड़ा का पूर्वोत्तरी भाग और चम्बा के इलाके शामिल हैं।

(3) सीमान्त क्षेत्र। इसके अन्तर्गत लाहुल-स्पिति और किन्नौर आते हैं।

सीमान्त क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का सीमान्त रूप मिलता है, लेकिन इसे जन-जातीय या ट्राइबल कहना किसी भी हालत में उचित नहीं है। लाहुल-स्पिति और किन्नौर में किन्नर, किरात और भोट तत्वों के ऊपर आर्य-खश-शक एवं लामाबौद्ध परम्पराओं का सम्मिश्रण हुआ है। यहां पर हिन्दू और बौद्ध मान्यताएं एवं जीवन-पद्धतियां इस प्रकार घुल-मिल गई है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि मूल रूप में कौन किससे प्रेरित हैं। यहां का प्रिय धर्म, सहजयान मन्त्रयान भी पूरी तरह विशुद्ध बौद्ध सहजयान नहीं है, उसमें भी हिन्दू तन्त्रवाद और मन्त्रयान की कुछ रीतियां, कुछ प्रतीक शामिल हो गए हैं।

मध्य खंड की संस्कृति में अनेक बिम्ब हैं। वह वैदिक-सप्तसिन्धु, पौराणिक एवं लोक संस्कृति की अपूर्व खिचड़ी है। यहां का एक व्यक्ति यदि सीताराम राधेश्याम के नामोच्चारण को अपशकुन समझता है और अपने छोटे भाई की प्रताड़ना करते हुए कहता है कि :

"गीआ न लामणू
झझोटी न बामणू
दोती दोती राधेश्याम सीताराम
ऐहा कौरी तेरे पारी पांडो भाई छेओ,
ऐवे रोहो होंऊ छेंणों।"

भाई, तुम यह क्या कर रहे हो? प्रातः उठकर न गीत गाते हो, न लामण, न झझोटी और बामणू जैसे प्रेम गीतों का गान करते हो। पहला काम तुम कर रहे हो तो राधेश्याम सीताराम के जाप का। तुम्हारे इस प्रकार के कार्य से ही तो सामने के घर वाले भाई की मृत्यु हो गई। तुम क्या अब यह चाहते हो कि मैं भी मर जाऊं?

तो दूसरा व्यक्ति भाव विभोर होकर गा उठता है :

बागां दे फुल भौरयां दे जूठे,
सच्चा कृष्णे दा नौं हरि
यह जिह्वा नाम जपो भाई दुनिया आलयो,
यह दिन फिर नहीं औण गे,
सच्चा कृष्णे दा नौं हरि।

और

कृष्णे महल बणाया सोहावां,
अप्पु रैंहदा सुअर्ग पुरी।
सैयो कम्म करो दिन राती
भजन करो इक्को घड़ी,
झूठा सब संसार
सच्चा इक तेरा नौं हरि।

क्योंकि वह तारण हार है :

भीलणी दे कोकणु वी मिट्ठे करी चखी गेया,
ब्राह्मण सुदामा कच्चा भत्त खाई तारेया,
थम्मणे की फाड़ी परल्हादुए की लाज राखी,
दैंते हरनाकशे की नक्खां संग फाड़ेया,
इयां मिज्जो देखुए की तार गाजे जदुनाथ,
तां तिज्जो जाणा मैं मोर मुकुट वालेया।

"शिवालिकीय क्षेत्र पर सिन्धु-गांगेय प्रदेशीय संस्कृति की तुलनात्मक रूप से ज्यादा गहरी छाप है। यह बात नृत्य के प्रति यहां के लोगों के दृष्टिकोण से जाहिर है। नृत्य हिमाचल प्रदेश के सीमान्त और मध्य खंड के मानव का स्वभाव है। वह उसका 'जीऊ प्राण' है। मंडलाकार नाच अथवा नाटी उसकी सांस्कृतिक परम्परा का मुख्य बाह्य प्रकाशन है, जबकि शिवालिकीय पट्टी में रहने वाला हिमाचली नाटी से उस कदर लगाव नहीं रखता है। उसके मेलों में मनोरंजन के अनेक साधन हैं, लेकिन नाच नहीं है। इसी प्रकार उसके मेले में देवता अपने दलबल के साथ रथ पर चढ़कर नहीं आता है। वह अपने मन्दिर के एकान्त में अपनी समाधि कहिए चाहे अपने देवत्व की गरिमा में मग्न रहता है। वह जनता के सामाजिक जीवन के प्रति निर्लिप्त-सा है, उसमें भाग नहीं लेता है। न ही तो यहां का देवता अपनी बात किसी मनुष्य द्वारा कहलवाने को राजी है, इसलिए उसका कोई गूर नहीं। उससे यदि किसी को कुछ मांगना हो तो उसे देवता के भौण, डेरा या देहरा पर आकर मनौती मांगनी होगी।"[1]

हिमाचली मानव ने भारतीय समाज के प्रारंभिक काल से सदा देश के अन्य भागों की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक उथल-पुथल में कन्धे से कन्धा मिलाकर बराबर का भाग लिया है। यह इसलिए संभव हुआ कि जालंधर तक का इलाका लम्बे अर्से तक उसका ही भाग था और उधर नाहन पांवटा यमुना के तटवर्ती क्षेत्र होने के कारण दिल्ली की सीधी पहुंच के भीतर रहा है।

इस प्रकार हमने देखा कि हिमाचली संस्कृति अति प्राचीन है। इसे चाहे आंचलिक कहें या क्षेत्रीय, वस्तुतः इसी संस्कृति में भारतीय इतिहास का पुराना चेहरा छिपा हुआ है। यही संस्कृति भारत के इतिहास की साक्षी रही है। इसने सर्वप्रथम चक्रवर्ती सम्राट की परिकल्पना को साकार होते देखा है, जब दिवोदास ने वृत्र और शम्बर को परास्त कर अपनी सार्वभौमिकता प्रमाणित की थी और उसके पुत्र सुदास ने दशराज्ञ में विजयी होकर चक्रवर्ती पद से अपने आपको विभूषित किया था। इसी के आसपास कहीं हमारा देश आर्यवर्त से भारतवर्ष बना था, जब विश्वामित्र के नाती, शकुन्तला-पुत्र भरत का, इस देश के चक्रवर्ती सम्राट के रूप में अभिषेक हुआ था। यही नहीं, इसी प्रदेश ने सप्तसिन्धु से आए लोगों का स्वागत किया और उन्हें बांहें खोलकर हृदय से लगाया, अपने यहां बसाया जब किन्हीं प्राकृतिक कारणों से उन्हें अपना घर-बार छोड़ देना पड़ा था। यहां पर आज भी कुछ वे बस्तियां मौजूद हैं, जो उन लोगों ने आबाद की थीं।

एक और बड़ी बात यह है कि हिमाचल प्रदेश ही भारत का वह हिस्सा है,

---

1. पद्मचन्द्र काश्यप, हिमाचल प्रदेश, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन।

जहां बौद्ध धर्म अपने जन्म से लेकर चला आ रहा है। यहां भगवान् बुद्ध स्वयं आए, अशोक ने स्मारक बनवाया, महायानियों और हीनयानियों ने बिहार स्थापित किए और कनिष्क ने बौद्ध धर्म की चतुर्थ महासंगती का आयोजन किया था। जब सातवीं-आठवीं शताब्दी में इस धर्म का अन्यत्र लोप हो रहा था, तब से हिमाचल के सीमान्त ने उसे अपने हृदय से लगा रखा है।

शकों ने, कुषाणों ने इस प्रदेश में बड़े-बड़े मन्दिर स्थापित किए, शिव की पूजा-अर्चना के लिए अनेक अग्राहार ब्राह्मणों को दिए। जब भारत महमूद गजनवी के क्रूर प्रहारों से पीड़ित था, तब इसने भी वज्रेश्वरी की मूर्ति को खंडित होते देखा और देश के अन्य भागों की तरह मर्मान्तिक आघात सहा।

काल-विभाजन

इतने लम्बे इतिहास को एकसाथ देख पाना संभव नहीं है। इसलिए सुविधा के लिए हम इसे अलग-अलग कालों में विभक्त कर लेते हैं। यों तो संस्कृति का काल-विभाजन कुछ जंचता नहीं है, लेकिन इस लम्बी यात्रा में जो कोई बड़े-बड़े पड़ाव आए, जहां जीवन में गति आई और समाज ने नया मोड़ लिया, जिस जगह पहुंचकर कोई विशिष्ट परिवर्तन अथवा क्रांति आई, उन जगहों, उन मोड़ों से हमें कुछ सहायता मिल सकती है। हिमाचली मानव ने जब इतना लम्बा सफर तै किया, तो वह कहीं ठहरा, कहीं रात बिताई। किसी पड़ाव पर पहुंच कर केवल थोड़ा सुस्ताया और अगले पड़ाव की ओर चल पड़ा। कोई कोई पड़ाव दूर, पर्वत के उस पार, नदी की दूसरी तरफ था। क्लान्तश्रान्त, थका-मांदा, वह चलता गया, बिना रुके, बिना विश्राम किए, क्योंकि सूर्यास्त से पहले उसे पड़ाव पकड़ना था। वह चढ़ता गया, चढ़ता गया, पसीने से तरबतर, हांफता-कांपता बड़ी देर से वह मंजिल पर पहुंचा। मार्ग में वह कभी अकेला रहा, कभी कोई राह-गीर मिल गया, रास्ता जानने वाला साथ हो लिया। इस तरह चलते-ठहरते, चढ़ते-उतरते वह एक पड़ाव के बाद दूसरे पड़ाव पर आता गया और नये पड़ाव की ओर नित्यप्रति बढ़ता ही गया।

वह मानव सृष्टि के आरंभ से चला आ रहा है, वह पहले सिन्धु सभ्यता के युग में पहुंचा। यह युग बास्तव में सरस्वती-सतलुज युग है। इस युग में उसने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वह स्वयं सरस्वती-सतलुज भू-प्रदेश में गया और वहां के लोगों को अपने घर बुला लाया। आर्य जातियों के गृहयुद्ध, जिसे दशराज्ञ कहते हैं, उसमें बराबर का भाग लिया, महाभारत के चक्रव्यूह में व्यूह उसने ही बनाया था द्रोणाचार्य के निर्देशन में। चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे अपनी सेना में भरती होने को आह्वान किया। इसी बीच में खश आ चुके थे, बाद में शक-कुषाण भी आए, हूण आए, गूजर भी। सभी स्थानीय लोग और आगन्तुक एकाकार हो

गए। नए हिमाचली मानव का जन्म हुआ। धर्म के क्षेत्र में प्रगति हुई। नरमेध और अन्य बलियां पीछे पड़ गईं। ध्यान स्वाध्याय, चिन्तन-मनन पर रहा, विहार बने, मतमतान्तरों के बीच शास्त्रार्थ होते रहे। देवालयों में मूर्तियां स्थापित हुईं और नागों की पिंडी, शिवलिंग बन गई। अत: जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो ये दौर न तो सीढ़ियां हैं, न चरण ही। ये केवल पड़ाव हैं।

मानदंड

इस बात को ध्यान में रखना होगा कि संस्कृति के सन्दर्भ में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल की बात करना व्यर्थ है। संस्कृति प्रवाहमती है। वह न तो किसी वंश-विशेष के साथ अथवा राज्य और राजा के साथ संबंधित है और न ही उसके लिए कोई तिथि या दिवस विशेष अर्थपूर्ण है। वह तो समाज की कथा है, उसके विकास की कहानी है। इतिहास जिस रूप में देखा जाता है और उसमें वंश, राज, राजा, तिथि, सन्, शासनकाल, विजय-पराजय पर जो बल दिया जाता है, संस्कृति के लिए उसका विशेष महत्त्व नहीं है। किसी समय कहां कौन-सा राजा था? कौन-सा जनपद था? वह कब स्थापित हुआ और वह कब समाप्त हो गया? इनसे संस्कृति के अध्ययन में विशेष सहायता नहीं मिलती। किसी मुद्रा में उसकी रुचि है तो अंकित उन चित्रों में जिनसे लोगों की आस्था, उनके धर्म, उनकी भाषा, लिपि एवं आचार-विचार पर प्रकाश पड़ता हो। मंदिर किसने बनाया, इससे ज्यादा काम की बात यह है कि उसमें मूर्ति किस देवता की है और भवन तथा मूर्ति के निर्माण में किस कोटि की कला प्रदर्शित हुई है। कला-कृतियों से समाज का कौन-सा चित्र उभरकर सामने आता है, समाज का वर्तमान स्वरूप किस प्रकार बना, उसके पीछे कौन-सी शक्तियां, कौन-सी अनुभूतियां, विचार काम कर रहे थे। समाज के संगठन, उसके स्वरूप में क्या बदलाव आया और क्यों आया, संस्कृति के काल-विभाजन के लिए इन्हें ही आधार माना जाएगा।

हिमाचली संस्कृति की शैशवावस्था को हम वैदिक-सिन्धु सभ्यता युग अथवा सप्तसिन्धु युग का नाम दे सकते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह युग चार हजार वर्ष ईसा पूर्व से छ: सौ वर्ष ईसा पूर्व तक का है। इस युग में हिमाचली समाज की बुनियादी रचना हुई। नागों और आर्यों तथा किन्नरों और गन्धर्वों की संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वही यहां की बुनियादी संस्कृति बनी। इस दौरान जातीय संघर्ष भी हुए, जाति-विशेष के अपने अन्दरूनी संघर्ष भी हुए, आर्यों का दानवों, दस्यों, दासों से लम्बे अर्से तक टकराव होता रहा, लेकिन बाद में उनके साथ रोटी-बेटी का संबंध हो जाने से सामासिक संस्कृति ने जन्म लिया। इस युग में सभ्यता और संस्कृति सप्तसिन्धु क्षेत्र से

बढ़कर पूर्व की ओर गांगेय प्रदेश में गई और फलत: यहां की आवाज मद्धम पड़ गई। उससे पहले यहां जमदग्नि और परशुराम सिन्धु क्षेत्र के मानव एवं प्रकृति-कृत विनाश से त्रस्त लोगों की टुकड़ियों को अपने साथ लाकर शिवालिक और हिमालय के बीच के भाग में सुरक्षित कर बसा गए थे। इसी युग में धर्म की वह रूपरेखा भी बनी, जो आज भी शिव-नाग की पूजा में सारे प्रदेश में व्याप्त है। 'पिंडी' से लिंग और लिंग से शिव इसी युग में बने। यही नहीं, संभवत: इन्हीं शताब्दियों में इस प्रदेश का अन्यतम आविष्कार अर्थात् गूर भी देवत्व प्राप्त कर चुका था। पुरानी और नई बस्तियों का सामाजिक ढांचा, जिसमें खूंद-अल्ल का प्राधान्य रहा, निश्चित हो गया था।

दूसरा युग भगवान बुद्ध के आविर्भाव से प्रारंभ होता है। इसमें धर्म का स्वरूप परिष्कृत हुआ। मंदिर बने, मूर्तियां स्थापित की गईं। बिहार बने, जो ज्ञान-विज्ञान, विद्या, धर्म के केन्द्र रहे। शक, कुषाण आकर हिन्दू समाज में जज्ब हो गए थे। कनिष्क तथा दूसरे शक-कुषाण शासकों ने बौद्ध और शैव मतों को प्रश्रय देकर उन्हें दार्शनिकता का जामा पहनाया। कुलिन्द, त्रिगर्त, कुलूत और औदुम्बर जैसे जनपद स्थापित हुए। इसी काल में छोटे-छोटे जनपदों का लोप होना शुरू हुआ और उन्होंने बड़े राज्यों में परिवर्तित होना आरंभ कर दिया था। बाद में आने वाले हूणों और गूजरों को छोड़ जातीय रूप से हिमाचली मानव बन चुका था, उसकी नाड़ी में विभिन्न लहू बहने शुरू हो गए थे। पृथक्-पृथक् छोटी-मोटी बस्तियों के खूंद से निकल कर राज्य बन जाने से उल्टे खूंद भावना और मजबूत हो गई, जिसने आगे चलकर राहणू, ठकुराइयों का रूप लिया। हम इसे बौद्ध-शैव जनपदीय युग कह सकते हैं।

तीसरा युग गुप्तकालीन है, तब यह प्रदेश साम्राज्य का भाग बन गया। उस पर गुप्तों की ओर से सामन्त, महासामन्तों का प्रभुत्व जम गया। गुप्तों से मैत्री कर चंबा जैसे कुछ राज्यों में जो स्थायित्व आया, उसके परिणामस्वरूप कला, मुख्यत: वास्तु एवं मूर्तिकला, का उद्‌भव और उत्कर्ष हुआ, जिसके नमूने आज भी चकित कर देते हैं। भारत की केन्द्रीय सत्ता के साथ बरताव बराबर बना रहा और जालन्धर पीठ त्रिगर्त का भाग बना चला आया। जालन्धर में ही चीनी यात्री युवान च्वांग हिमाचली राजा का अतिथि रहा और त्रिगर्त और कुलूत आया। तब भी बौद्ध, शाक्त, शैव मत आपस में सौहार्दपूर्ण रह रहे थे, किन्तु नाथों, सिद्धों, जोगियों और तांत्रिकों का प्राबल्य होना आरंभ हो गया था। उत्तर में एक नई शक्ति उभर रही थी। यह शक्ति तिब्बत के भोटों और गुगे की थी। वे सीमान्त में प्रवेश करने लग पड़े थे और कुछ इलाकों पर उन्होंने कब्जा भी कर लिया था। तिब्बत के लामायान को, जो सहजयान और मन्त्रयान पर आधारित है, यहां प्रचलित कर दिया था और सिद्धार्थ के धर्म का अनुशीलन करने के लिए

यहां से भिक्षु नालन्दा और विक्रमशिला तक जाने लगे थे। इस प्रकार यह इलाका भारत और तिब्बत के बीच एक तरह का पुल बन गया।

अगले पड़ाव को हम सांस्कृतिक आघात का काल कह सकते हैं। सन् 1009 ई० में गजनी के महमूद ने भारत पर एक आक्रमण के बाद दूसरा आक्रमण किया। उसने यहां के देव मन्दिरों को लूटा। जगत् प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर का विध्वंस किया और हिमाचल की प्रमुख देवी कांगड़ा की वज्रेश्वरी के मन्दिर को लूटा, तोड़ा-फोड़ा। यह लम्बे इतिहास में पहली घटना थी जब किसी विरोधी ने धर्म के नाम पर धर्म-स्थान को नष्ट-भ्रष्ट किया था। कांगड़ा का दुर्ग इस क्षेत्र के वैभव, उसकी प्रतिष्ठा का प्रतीक था। वह इलाके की 'नाक' था। उसका आक्रमण-कारियों के हाथ चला जाना बेशक करारी चोट थी और आन को, मान को बहुत बड़ा धक्का था, लेकिन जिस घटना ने मर्माहत किया, लोगों को स्तंभित किया, वह था अधिष्ठात्री वज्रेश्वरी-अम्बिका की मूर्ति को उठाकर गजनी पहुंचाना। अब तक जीत-हार होती रही, राज बदलते रहे, नए शासक आए, नए राजवंश स्थापित हुए, धर्म के विविध रूप स्थिर हुए, मतमतान्तर का प्रचलन हुआ, लेकिन कभी धर्म-स्थानों, देव-मन्दिरों, पूजा-गृहों, देवी-देवताओं को नष्ट-भ्रष्ट और खंडित नहीं किया गया था।

इस आक्रमण ने जन-चेतना को नया मोड़ दिया। एक ओर देवी की शक्ति में विश्वास डगमगा गया, दूसरी ओर मुसलमानों के प्रति द्वेष-भाव ने जन्म लिया। तीसरे जनता ने अपने आपको बेसहारा पाया, बिना छत्र के अनुभव किया। वह किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो गई और इस स्थिति से छुटकारा पाने के उपाय खोजने लगी।

इसी युग में देश के अन्य भागों में भी मुस्लिम आक्रमणों से राज्य-च्युत या डरकर भागे हुए राजपूत-ब्राह्मण यहां आए और आकर नए राज्य स्थापित किए।

उसके बाद दूसरा धक्का तब लगा जब सिकन्दर लोधी (1488-1517 ई०) ने महमूद गजनवी की तरह ही नगरकोट की देव-मूर्तियों को उठवाकर तुड़वा दिया।

नए राज्यों के साथ नए देवता भी उपजे। शेरगुल, महासू, देवी खसुम्भा महिषासुरमर्दिनी आदि नागेतर देवता स्थापित हुए या स्वयं प्रकट हुए। चमत्कारों पर विश्वास जमा। इस चमत्कार के वातावरण को पैदा करने में सिद्धों, योगियों, नाथों ने भी योगदान दिया। समाज एक विचित्र स्थिति में उलझ गया। हां, दिल्ली का हस्तक्षेप बना रहा और जब भी वहां कोई महत्त्वा-कांक्षी बादशाह या सुलतान तख्त पर बैठा, उसने इस प्रदेश की ओर प्रस्थान किया और यहां के 'राये' और 'जमींदारों' को अपने अधीन किया। इसे रजवाड़ा युग भी कहा जा सकता है। समाज पूरी तरह जड़ हो गया था। राजा और

देवता में भेद मिट गया था। कांगड़ा और नाहन के इलाके बराबर दिल्ली के हस्तक्षेप के शिकार रहे, लेकिन मध्य भाग और पूर्वोत्तरी सीमान्त कुछ हद तक स्वतंत्र बने रहे। इस स्थिति को बदलने की कोशिश नेपाल से आकर गोरखों ने की, लेकिन सफल नहीं हुए। त्रिगर्त ने आधिपत्य स्थापना के कुछ सफल प्रयास किए, लेकिन आरंभिक सफलता के बाद एकदम असफल रहे।

कुछ शताब्दियों पूर्व वैष्णव धर्म का प्रचार आरम्भ हो गया था और चन्द एक राजघराने वैष्णव बन गए थे और उन्होंने वैष्णव धर्म को राजधर्म घोषित कर दिया था। भगवान विष्णु अपने विविध रूपों में मन्दिरों में स्थापित हुए, लेकिन कहीं-कहीं शिव की तरह ही उन्हें भी मेलों में शामिल होने के लिए निकल आना पड़ा।

गोरखों, सिखों और अंग्रेजों के बीच यहां प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष हुए, जिसमें अंग्रेज सफल रहे। आधा प्रदेश एक बन गया, रियासतें समाप्त हुईं। सतलुज के आर-पार की रियासतों को सनदें देकर अंग्रेजी छत्र-छाया में लाया गया। राजा निरंकुश तो थे ही, अब अपनी सुरक्षा का भार अंग्रेजों पर डाल विलासी भी हो गए। प्रजा पिसती गई। उसने विद्रोह किया और देश में चले स्वतंत्रता-संग्राम में शामिल हो गई। आर्य समाज लोकप्रिय होता गया, इधर-उधर ईसाइयों के मिशन स्थापित हुए। सेम्युल स्टोक, सत्यानन्द स्टोक बन गया। मिशनरियों का सारा उद्देश्य, समूचा कार्यक्रम छिन्न-भिन्न हो गया और धीरे-धीरे एक-एक कर ये मिशन उठ ही गए। लेकिन कोटगढ़ जैसे स्थानों पर मिशन स्कूल चलते रहे, जिन्होंने प्रदेश में नवजागरण लाने में बड़ा काम किया।

नवजागरण काल में राजा राणाशाही के विरुद्ध आवाज उठी, उनके देवत्व को चुनौती दी गई और उनके शासन करने के दैवी अधिकार को लोगों ने अमान्य ठहराया। आन्दोलनों, संघर्षों के परिणामस्वरूप लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान हुआ और अपना व्यक्तित्व पहचानने का अवसर मिला, वे अपने आपको नए दृष्टिकोण से देखने लगे। एकीकरण की चाह बढ़ी। हिमाचल और बृहद् हिमाचल के स्वप्न देखे गए, अर्थात् इस क्षेत्र के प्राचीन सांस्कृतिक व्यक्तित्व को एक करने के सफल प्रयास किए गए।

हिमाचल के रूप में नए राज्य के निर्माण से जनचेतना जाग्रत हुई और हिमाचली जीवन सब तरफ से विकसित होने लगा, समृद्ध होने लगा। कुंठाएं समाप्त हुईं, रूढ़ियां टूटने लगीं। अर्थव्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन होने लगा। रियासतें खत्म हुईं। पंचायतों, टैरिटोरियल कौंसिल और विधान सभा में लोगों के अपने प्रतिनिधि चुने गए। डा० यशवन्तसिंह परमार सफल राजनीतिक और सांस्कृतिक नेता के रूप में सामने आए।

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र का एक प्रकार से कायाकल्प हो गया। इससे

संस्कृति में भी क्रांति आई। पुराने मूल्य धीरे-धीरे बदलने लगे, बन्धन ढीले पड़ते गए, टूटते गए। गांव का, परिवार का ढांचा बदलने लगा। गांव अलगाव से निकल कर खिचड़ी बन गया। उसके अपने आदमी बाहर गए, और बाहर के आदमी उसमें आकर रहने लगे। फलस्वरूप विचारों का, रहन-सहन का, भाषा-बोली का, रीति-रिवाजों का वह समन्वय होने लगा कि संस्कृति के पुराने स्वर ही बदल गए। इतना बड़ा परिवर्तन शायद आदिकाल में ही हुआ था जब यहां के समाज एवं संस्कृति का बुनियादी स्वरूप स्थिर हुआ था।

दूसरा अध्याय

सरस्वती-सिन्धु सम्बन्ध

मूल सूत्र

हिमाचली संस्कृति की जड़ की ओर जब हम जाते हैं तो हमें दो सूत्र मिलते हैं, वैदिक वाङ्मय और स्थानीय अनुश्रुतियां। इन अनुश्रुतियों में गाथाएं, कथाएं, गीत, आनुष्ठानिक क्रियाएं व रचनाएं, मेले और यज्ञ शामिल हैं। इनका संस्कृति के अनुशीलन में वही महत्व है जो वेदों और पुराणों का है। असल में वेद-पुराण भी तो मौखिक परम्पराओं, अनुश्रुतियों के संग्रह ही हैं। वेद किसी एक रचयिता ने एक ही बार संकलित किया हो, ऐसी बात नहीं है। वह भी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा देखे गए मन्त्रों का संकलन मात्र है। इन मन्त्रों का मानस-चेतना में बीज था और लम्बे समय तक वे समाज में अनु-श्रुतियों के रूप में विद्यमान थे, तभी तो उनकी सच्चाई को मन्त्रदृष्टा ऋषि अनुभव कर सके, उसे देख सके। एक ही ऋषि ने एक ही मन्त्र के सत्य को देखा, स्थिति यह भी नहीं। एक मन्त्र को एक से अधिक ऋषियों ने एक से अधिक काल में देखा था, अर्थात् समय-समय पर जो अनुभव, जो ज्ञान प्राप्त होता रहा, चिन्तन से जो सत्य दिखा, उसकी अभिव्यक्ति को वेदमन्त्र कहा गया है। एक ही देवता इन्द्र की तीन कालों में आर्य ऋषियों ने आराधना की और उस आराधना के क्रम में विविध मन्त्रों की रचना की और उन ऋचाओं में विभिन्न आख्यानों का उल्लेख किया। वेद[1] ने इन्द्र से जब यह कहा कि

इदाहि ते वेविश्वतः पुराजा प्रलास आसु पुरुकृत सरवाय

ये मध्यमास उत नतमासू उतावमस्य पुरूहूतं बाधि।

"इन्द्र तू भी विस्मय से पूर्ण है। जो ऋषि आदिकाल में रहते थे, वे तुम्हारे लिए यज्ञ करके तुम्हारे मित्र बन गए। बीच के काल वालों ने भी वैसा ही किया और फिर आज के ऋषियों ने भी तुम्हारी मित्रता प्राप्त की। इसलिए तुम उस मन्त्र को सुनो जो तुम्हारी पूजा करने वाले तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं," तो

1. ऋग्वेद (6/11/50)

इशारा इसी तथ्य की ओर था।

जहां तक रामायण और महाभारत का सम्बन्ध है, उनका वर्तमान स्वरूप तो उनमें वर्णित घटनाओं के सैकड़ों वर्षों बाद निश्चित हुआ। दामोदर सातव-लेकर[1] ने कहा है कि पुराण ग्रन्थों में सम्पूर्ण प्राचीनतम गाथाओं का संग्रह है और उन्हीं को आधार बनाकर रामायण, महाभारत आदि इतिहासों में अर्वाचीन ऐतिहासिक कथाओं का संग्रह किया गया है। वे स्पष्ट मानते हैं कि रामायण-महाभारत की कथाएं ऐतिहासिक हैं और ये कथाएं पुरानी और नई दोनों तरह की हैं। इस तरह अगर उन प्राचीनतम कथाओं का संग्रह इतिहास है तो अनु-श्रुतियों में वर्णित घटनाओं और आख्यानों में जिन तथ्यों का जिकर है, वे भी इतिहास हैं।

वैदिक संदर्भों एवं लौकिक अनुश्रुतियों के अलावा एक अन्य महत्त्वपूर्ण ऐति-हासिक सूत्र उपलब्ध है, जिसमें सिन्धु सभ्यता के दिनों के एक नगर का उल्लेख है, जिसका सम्बन्ध इस प्रदेश के एक स्थान विशेष से है और वह स्थान आज भी वर्तमान है।

इन सूत्रों से हिमाचल वैदिककालीन प्रदेश तथा सिन्धुयुगीन क्षेत्र प्रमाणित होता है। इसीलिए हमने इस अध्याय का शीर्षक भी सरस्वती-सिन्धु सम्बन्ध दिया है। वैदिक सभ्यता व संस्कृति सरस्वती के किनारे फली-फूली। जिसे हम सिन्धु या हड़प्पन सभ्यता कहते हैं, वह मुख्यतः उस बहुत बड़े भूखंड की सभ्यता है जो सप्तसिन्धु प्रदेश कहलाता है। वैदिक और तथाकथित सिन्धु-हड़प्पन सभ्यता का क्षेत्र एक ही बैठता है अर्थात् पश्चिम में सिन्धु नदी से पूर्व में यमुना नदी का हिमालय से सागर तक का क्षेत्र। उस युग में इस क्षेत्र की मुख्य नदी सिन्धु न होकर सरस्वती थी। सरस्वती का प्रवाह हिमाचल, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, गुजरात से होकर अरब सागर तक था। इसमें पाकिस्तान के पंजाब और सिन्ध सूबे भी आ जाते थे। अमरीकी भू-उपग्रह लैंडसेट तथा भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्थान के अहमदाबाद केन्द्र से यह प्रतिपादित हुआ है कि सरस्वती एक समय में सिन्धु मैदानी क्षेत्र में आर से पार तक बहती थी और शिवालिकीय यमुना तराई के इलाके को दक्षिणी सागर से मिलाती थी। इस नदी का यह प्रवाह मार्ग अरब सागर के तटवर्ती सिन्ध क्षेत्र से भीतरी भागों में आने-जाने, यातायात, व्यापार का मुख्य मार्ग था। ऋग्वेद[2] में यह स्पष्ट उल्लेख है कि यह नदी पर्वतों से निकलकर सागर में मिलती थी और इसके तट पर नगरों की

---

1. महाभारत, आदि पर्व की भूमिका
2. ऋग्वेद 7-95-2 और 7-96-2

एक अटूट श्रृंखला थी। यह नदी तीसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व तक बहती रही थी।

सतलुज-सरस्वती मिलन

लैंडसेट ने सरस्वती-यमुना-घघर-सतलुज प्रदेश के जो चित्र लिए हैं उनसे मालूम होता है कि पटियाला से लगभग 25 किलोमीटर दक्षिण तक सरस्वती-घग्घर का पाट बहुत संकरा है, लेकिन वहां से आगे एकदम छः से आठ किलोमीटर चौड़ा हो जाता है। यह चौड़ाई इस कारण हुई कि उस स्थान पर एक बड़ी नदी उसमें आकर मिली। सरस्वती का उद्गम शिवालिक पर्वत श्रृंखला थी, जिस पर अधिक बर्फ नहीं गिरती थी। नदी का आधार मुख्यत: मानसून का पानी था, उसी तरह जैसा कि सरस्वती की सहायिका दृषद्वती का वर्षा के जल पर ही इन्हसार था। इस कारण केवल वर्षाकाल को छोड़ बाकी समय इस नदी में पानी का ज्यादा बहाव नहीं होता था और न ही सारे साल जल पर्याप्त मात्रा में बहता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उसका पाट संकरा हो।

जो नदी पटियाला के दक्षिण में इससे आ मिलती थी, वह दूर उत्तर-पूर्व में हिमाच्छादित हिमालय से निकलती थी। यह नदी सतलुज थी। हिमालय से बाहर आकर रोपड़ के पास लगभग 90 डिगरी का कोण बना यह नदी पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। लगभग 150 किलोमीटर पश्चिम तक बहने के बाद इसमें व्यास नदी आ मिलती है। उसके उपरान्त नदी दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती है। विशेषज्ञों का मानना है कि कोई नदी अपने बहाव में 90 डिग्री का कोण तभी बनाती है जब वह बहाव बदलती है और दूसरा मार्ग ढूंढ़ती है।

जहां अन्तरिक्ष से लिए गए चित्रों में पटियाला के निकट सतलुज का सूखा पाट घघर के पाट से मिलता स्पष्ट दिखाई देता है, वहां सतलुज की अनेक धाराओं के सूखे पाटों, मार्गों से एक प्रकार से सारा क्षेत्र भरा पड़ा लगता है। सतलुज के मुख्य तीन मार्ग रहे हैं। एक तो यह नदी अकेले ही पंजाब में रोपड़ व पटियाला, हरियाणा में टोहाना व सिरसा तथा राजस्थान में बीकानेर, जोधपुर एवं पंचपदरा होते हुए कच्छ की रण में जा गिरती थी। दूसरा मार्ग उसका सरस्वती के साथ पटियाला के पास से हो जाता था। तीसरे मार्ग से मालूम होता है कि किसी समय सतलुज सरस्वती से पाकिस्तान के फोर्ट अब्बास से कुछ पहले मिल जाती थी, जहां से कुछ आगे जा वह हाकरा नदी की धारा से बहती थी। फोर्ट अब्बास के पास इस संयुक्त नदी का पाट एक बार फिर बहुत चौड़ा हो जाता था।

सतलुज के बदलते मार्ग

भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि मैदानी भागों में सतलुज ने पिछले चार हजार वर्षों में कई बार अपना रास्ता बदला है। कभी वह स्वतंत्र रूप से सागर

में मिली, कभी सिन्धु के साथ मिलकर समुद्र में जा गिरी, तो कभी सरस्वती से मिलकर कच्छ की रण में। जब यह कच्छ में जा गिरती थी, तब सिन्धु नदी के साथ इसका कोई संबंध नहीं था और आज के सागर-संगम से वह स्थान लगभग 150 किलोमीटर पूर्व में था। दसवीं शताब्दी तक सतलुज पाकिस्तान की हाकरा नदी में जा मिलती थी, तब इसका मार्ग पटियाला से नीचे हरियाणा के सिरसा, राजस्थान के बीकानेर और पाकिस्तान के बहावलपुर से होकर जाता था। फिर सन् 1245 ई० के आसपास इस दरिया का बहाव उत्तर की ओर झुक गया। तब तक हाकरा सूख गयी थी, लेकिन सतलुज वर्तमान घघर के बहाव के साथ ही उसी मार्ग पर बहती रही। सन् 1593 ई० के लगभग उसने घघर का मार्ग बिल्कुल छोड़ दिया और एक बार फिर उत्तर की धारा से बहने लगी। व्यास दक्षिण की तरफ बढ़कर हरिके के पास उससे आकर मिली और ये दोनों नदियां एक ही मार्ग से बहती आईं। एक धारा एक बार फिर घघर से जा मिली, लेकिन सन् 1776 में घघर को छोड़कर व्यास का साथ पकड़ लिया।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, सरस्वती ईसा से दो-अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व तक बहती रही। सम्भवतः उस समय ही सतलुज ने दूसरा मार्ग अपनाया होगा और फलस्वरूप सरस्वती में पानी कम पड़ गया और नदी धीरे-धीरे लुप्त हो गई। इस दृष्टि से देखा जाए तो सतलुज ही वह नदी थी जिसने सरस्वती को उसका वह स्वरूप दिया था जिसके गीत वेदों में गाए गए और जिसके किनारे भारतीय संस्कृति ने जन्म लिया।

इस नदी के जन्म, उद्गम और मार्ग से सम्बन्धित अनेक गाथायें हैं। एक मान्यता यह है कि शतुद्रु का उद्गमस्थल गन्धमादन और हिमवान पर्वतों के बीच अनवतप्तसर (मानसरोवर) है, जिसके चारों ओर चार प्रकार के मुख हैं। गोमुख से गंगा निकली है और सतलुज गजमुख से निकली है। किन्नौर में इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा है कि किसी समय यहां बाणासुर का राज था। आरम्भ में बाणासुर कामरू राजा का सेनापति था, लेकिन बाद में वह शोणितपुर (सराहन) का राजा बन गया। कामरू में राजपूर्ण नामक ब्राह्मण राजा था। उसके दरबार का वातावरण द्वेषपूर्ण था, उससे खिन्न होकर बाणासुर ने पद त्याग दिया और शांति की खोज में पूर्व की ओर मानसरोवर चला गया। जब वहां पहुंचा तो उसने देखा कि मानसरोवर का जल अत्यन्त उद्वेलित है तब वहां कैलाश पर्वत नहीं था। सांगपू (ब्रह्मपुत्र) मानसरोवर में गिरती थी, और उसने सारे सरोवर के जल को पीला कर रखा था। पीले, लाल और नीले जल में कलह पूरे जोरों पर था और प्रत्येक जल दूसरे जल को सरोवर से बाहर निकाल फेंकने पर उतारू था।

उधर शिव क्रुद्ध होकर तांडव नृत्य कर रहे थे, और भयंकर पदचाप से कैलाश हिल रहा था। शिव ने उसे ठोकर लगाई और पर्वत मानसरोवर के उत्तर में

पृथ्वी पर आ गिरा। उसके गिरने से चारों ओर अत्यधिक उथल-पुथल हुई। बाणासुर ने स्थिति की गम्भीरता को पहचाना और जलों के बीच मध्यस्थता का निश्चय किया। उसने तीनों जलों को समझाया-बुझाया। पीले जल से उसने आग्रह किया कि वह सरोवर में गिरने के बजाय सरोवर से बाहर पूर्व की ओर बहे। वह मान गया और उस दिन से ब्रह्मपुत्र ने अपना मार्ग पूर्व से पश्चिम की बजाय पश्चिम से पूर्व की दिशा में कर लिया। लाल जल को बाणासुर ने मानस से लेकर दूसरे निकट के सरोवर में डाल दिया और उसे बहने का सुझाव दिया। तब से यह लाल जल सिन्धु नदी के मार्ग से बह रहा है। अब रहा स्वच्छ नीला जल। उसे आदेश दिया कि वह उसके पीछे-पीछे चलता आ जाए। आगे-आगे बाणासुर और उसके पीछे मानसरोवर का नीला जल चल पड़ा। राकसताल से लगभग 320 किलोमीटर चलकर वे शिपकी पहुंचे। शिपकी से किन्नौर के एक कोण से दूसरे कोण तक दक्षिण-पश्चिम दिशा में, कड़छम होते हुए वे सराहन पहुंचे। मार्ग में बास्पा और स्पिति नदियों का जल उसमें मिल गया। सराहन पहुंचकर बाणासुर ने जल को अपना मार्ग स्वयं ढूंढ़ निकालने को कहा और स्वयं वहीं राज्य स्थापित कर राज करने लग पड़ा। दक्षिण किन्नौर में इस नदी को समुन्दर कहा जाता है और उत्तरी किन्नौर में लंगशिग, सुकसंग व शुंगटी के नाम से जाना जाता है। अन्यत्र उसे सिर्फ 'नै' भी कहा जाता है।

सराहन से सतलुज शिमला, सोलन और बिलासपुर जिलों से होती हुई रोपड़ के स्थान पर पहाड़ों से निकलकर मैदान में दाखिल होती है। रोपड़ से ऊपर इस नदी ने कभी अपना मार्ग नहीं बदला और आरम्भ से आज तक उसी रास्ते पर चलती रही, जिस पर बाणासुर लाया था। भौगोलिक सच्चाई यह है कि हिमाचल में यह नदी हिमालय की गहरी घाटियों में से होकर बहती है अतः इसे चाहने पर भी मार्ग बदलने की सुविधा नहीं है।

सरस्वती वैदिककालीन लोगों की जीवन रेखा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने प्रारम्भिक दिनों में वैदिक सभ्यता इस नदी के किनारे फूली-फली थी। यही कारण है कि आर्यों ने मुक्त कंठ से उसकी स्तुति-वन्दना की। गंगा के सिवाय किसी भी दूसरी नदी ने भारतीय जनमानस को इतना प्रभावित नहीं किया जितना सरस्वती ने किया है। जहां तक वैदिककालीन लोगों का सम्बन्ध है, उनकी आराध्य यही नदी रही, और उसके निमित्त उन्होंने ऋचाओं की ऋचाएं रच डालीं। जैसा भू-उपग्रह के चित्रों से मालूम हुआ है, स्वयं सरस्वती का आधार सतलुज था। सरस्वती, दृषद्वती और शतुद्रु नदी समूह का नाम प्राचीन ऋषियों ने सरस्वती ही रखा। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि तथाकथित सिन्धु अथवा हड़प्पन सभ्यता के अवशेष सर्वाधिक इस नदी समूह के पुराने, सूखे मार्गों के किनारे मिले है। इन अवशेषों की यह शृंखला समुद्र से लेकर रोपड़ तक देखी

जा सकती हैं । पाकिस्तान के बहावलपुर-चोलिस्तान क्षेत्र में ही फोर्ट अब्बास और दिलावर के बीच इस दरिया के पुराने मार्ग के किनारे 650 बस्तियां पाई गई हैं । ज्यों-ज्यों खोजों के नए परिणाम सामने आ रहे हैं, यह बात साफ जाहिर हो रही है कि पुरानी बस्तियों के अवशेष सरस्वती-सतलुज क्षेत्र में ही बिखरे पड़े हैं । हरियाणा, राजस्थान और पंजाब तथा पाकिस्तान में चोलिस्तान के उत्खनन से यही प्रमाण मिलते हैं । इन अवशेषों पर आधारित सभ्यता तथा संस्कृति को सिन्धु सभ्यता का नाम इसलिए दिया गया क्योंकि सबसे पहले मोहनजोदाड़ो आदि नगर सिन्धु नदी के पास-पास ही मिले थे और दूसरा बड़ा नगर हड़प्पा रावी के किनारे । लेकिन नई उपलब्धियों को दृष्टि में रखकर ये नाम उचित नहीं लगते । यदि अवशेषों की बहुलता पर ही सभ्यता का नाम रखना है तो उचित नाम सरस्वती-सिन्धु सभ्यता होगा ।

वैदिक व सरस्वती-सिन्धु सभ्यता एक ही

इससे यह संकेत मिलता है कि वस्तुत: सिन्धु सभ्यता ही वैदिक सभ्यता भी है और वैदिकयुगीन लोग, आर्य एवं अनार्य दोनों ही इस सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के जन्मदाता हैं । इससे यह भ्रांति भी दूर हो जाती है कि आर्यों ने सिन्धु लोगों को मार भगाया और उनके नगरों को नष्ट किया तथा उनकी जगहों पर स्वयं कब्जा किया ।

आज तक जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे रोपड़ तथा रोपड़ से नीचे ही मिले हैं । यह ठीक है कि सतलुज की उपत्यका में रोपड़ से ऊपर शिवालिक तथा हिमालय के इलाके आ जाते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि शिवालिक के पीछे केवल निर्जन जंगल ही था । कांगड़ा जैसी बड़ी उपत्यकाएं तथा सतलुज के किनारे की समतल भूमि अत्यन्त उपजाऊ रही है, जिस कारण वहां लोग बसते रहे होंगे और खेती-बाड़ी करते होंगे । मानचित्र पर देखें तो सिन्धु से पूर्व के समस्त सप्तसिन्धु क्षेत्र का पहाड़ी इलाका जम्मू-कश्मीर और हिमाचल में पड़ता है । सरस्वती-सिन्धु लोगों को जब भवन आदि बनाने के लिए देवदारु आदि लकड़ी की जरूरत पड़ी, तो वह लकड़ी रोपड़ के ही आसपास तो मिली नहीं होगी, उसके जंगल तो उससे ऊपर ही रहे होंगे और उस लकड़ी को मैदानी नगरों को सुलभ कराने के लिए भी तो लोग यहां रहते ही रहे होंगे । इसके अलावा वेदों में वर्णित शम्बर और वृत्र के गढ़ और पुर भी तो यहीं कहीं थे ।

किन्हीं प्राकृतिक कारणों से जब इस सतलुज-सरस्वती नदी ने या तो अपना प्रवाह-मार्ग बदला, या उसमें जल कम पड़ गया, या भयंकर सूखा पड़ा या सैलाब आया, कुछ भी हुआ हो, कारण कुछ भी रहे हों, जब मैदानी भागों में सरस्वती-सिन्धु सभ्यता कमजोर पड़ गई और उस विशाल क्षेत्र में जीवन-यापन असुविधा-

जनक हो गया और लोगों को घर-बार छोड़ देना पड़ा, बस्तियां खाली करनी पड़ीं, तब निश्चयपूर्वक उस विशाल क्षेत्र से त्राण पाने के लिए लोग हिमाचल में भी आए। यह इसलिए भी हुआ कि सप्तसिन्धु की सात में से पांच नदियां और मुख्यत: सरस्वती और सतलुज तथा उसकी सहायक नदी व्यास हिमाचल की ही हैं, इसलिए इन नदियों के मार्ग के साथ ही वे लोग पहाड़ों में आ गए। दूसरे यहां उन्हीं के लोग पहले से बसते थे, उनकी अपनी बस्तियां थीं।

हिमाचल से समानता

यही कारण है कि सरस्वती-सिन्धु अवशेषों से प्राप्त तात्कालिक जीवन और हिमाचल के आज के जीवन में निकट की समानता है। मोहनजोदाड़ो, हड़प्पा, काली बंगां, लोथल तथा रोपड़ से प्राप्त अवशेषों की तुलना जब हिमाचल से की जाए, तो मालूम होता है कि गृह-निर्माण, वेश-भूषा, आभूषण, केश-विन्यास तो लगभग एक जैसे हैं, धर्म के क्षेत्र में बहुत ज्यादा समानता है। प्राय: सभी विद्वान सहमत हैं कि सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के उपभोक्ताओं की मुख्य देवी मातृदेवी थी और प्रमुख देवता शिव। इन दोनों की अनेक चित्र-अंकित मुद्राएं खुदाई से प्राप्त हुई हैं। एक ऐसी मुद्रा भी है जिसमें एक देवता है, उसके दोनों ओर भक्त हैं तथा देवता के ऊपर नागफन दिखाया गया है, जिससे अनुमान लगाया जाता है। कि वे लोग नागपूजक रहे होंगे। निस्सन्देह शिव, नाग और मातृदेवी उनके बड़े देवताओं में से थे। हम अगले अध्यायों में देखेंगे हिमाचल का धर्म भी मूलत: शैव-शाक्त-नाग है। यहां आज भी लोक-धर्म की वही रूपरेखा है जो पांच-छ: हजार वर्ष पूर्व सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के दिनों में थी। दोनों शिव-शक्ति के साथ प्राकृतिक तत्त्वों और लिंग (पिंडी) की पूजा करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहां सप्तसिन्धु तथा अन्य क्षेत्रों में नाग और शिव शायद अलग-अलग देवता थे, वहां हिमाचल में वे दोनों एकाकार होकर 'देऊ नाग' बन गए।[1]

इससे भी बढ़कर दैनिक जीवन में समानताएं हैं। सिन्धु घाटी के मैदानी भागों में ईंटों के मकान बनते थे, पहाड़ी भागों में पत्थर के। बलोचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्रों की खुदाई करने पर इस प्रकार के मकान मिले हैं, जिनकी दीवारें नींव से दो-तीन फुट की ऊंचाई तक पत्थरों की बनी होती थीं, ऊपर लकड़ी के शहतीर डालकर पुन: पत्थर से चिनाई की जाती थी। हिमाचल में आज भी भवन निर्माण की यही रीति है। विशेष ध्यान देने वाली बात यह है कि प्रत्येक मकान बनाने वाले का यह प्रयत्न रहता है कि अधिक-से-अधिक संख्या में सुघड़ और छिला हुआ, ईंटों के समान, किन्तु आकार में बहुत बड़ा चौकोर पत्थर लगे सकें।

---

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन

दत्तनगर जैसे स्थानों में तो ईंटों की लम्बी दीवार तक ही खुदाई में मिली है। मकान की एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने के लिए जो सीढ़ियां हिमाचल में पुराने घरों में प्रयुक्त होती रही हैं, वे मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा की सीढ़ियों जैसी हैं, अंतर सिर्फ यह है कि सिन्धु घाटी के इन नगरों की सीढ़ियां ईंट-पत्थर की होती थीं, परन्तु हिमाचल में लकड़ी की। वृक्षों के सूखे तने को छीलकर उसमें पांव रखने के लिए 'पौड़' अथवा डंडे उसी तरह के छोटे, संकरे और ऊंचे होते हैं जिस प्रकार के इन नगरों में होते थे।

हड़प्पा के कई भवनों की दीवारों पर लैम्प या दीपक रखने के लिए आधार बने हैं। यह दीवार पर चुनी हुई ईंटों के दीवार की सतह से आगे बढ़ाकर बनाए गए हैं। यह ईंट बीच में गहरी कर दी जाती थी ताकि दीपक उनमें दृढ़ता से टिक सकें। इसी तरह की योजना प्राय: सभी पुराने हिमाचली घरों में है, जहां ईंटों की जगह पत्थरों का प्रयोग होता है।

हिमाचल के लगभग सभी मकानों में एक कमरा ऐसा हुआ करता है जिसमें प्रवेश के लिए कोई द्वार नहीं, तथा जिसमें वायु और सूर्य-प्रकाश की भी कोई व्यवस्था नहीं। कमरे के फर्श से ही लकड़ी का तख्ता हटाकर उसमें प्रवेश के लिए मार्ग बनाया जाता है। इस तख्ते को उठाने के लिए इसमें गोल कुंडी लगी रहती है। यह कमरा, जिसे कई स्थानों पर 'खुडी' कहा जाता है, सामान्यत: अन्न-धन भंडार होता है। इसी प्रकार के कमरे मोहनजोदाड़ो के मकानों में भी देखे गए हैं।

सिन्धु घाटी के मकानों में खिड़कियां नहीं होती थीं। दीवारों में ही चौड़े से चौकोर या त्रिकोण छिद्र रख दिए जाते थे, जिन से कमरों में न केवल वायु और प्रकाश आता था, अपितु भीतर से बाहर देखा भी जा सकता था। हिमाचल में भी उसी प्रकार दीवार में 'तोरे' या बड़े छिद्र रखे जाते हैं, जो कहीं केवल आधा फुट चौड़े तो कहीं एक-एक फुट तक चौड़े होते हैं।

यही नहीं, मोहनजोदाड़ो के जिस स्नानघर की विद्वान इतनी चर्चा करते हैं और जिस पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार के जलाशय तो हिमाचल में सर्वत्र हैं। इन्हें 'बावलियां' कहा जाता है। ये एक-दो फुट लम्बाई, चौड़ाई और गहराई से लेकर 25-30 फुट लम्बी, 10-15 फुट चौड़ी और 8-10 फुट गहरी होती हैं। इनमें चारों ओर पत्थर की सुन्दर पौड़ियां होती हैं और गन्दे पानी के निकास के लिए भूमिगत मोरियां बनी रहती हैं। भ्रमौर की 'अर्ध गया' और निरमंड की चंदी बावली इसका उदाहरण हैं। जब हम यह ध्यान दें कि मोहन-जोदाड़ो के महान स्नानघर के जलाशय की लम्बाई 39 फुट, चौड़ाई 23 फुट और गहराई 8 फुट है, तो पर्वत की इन बावलियों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है और दोनों प्रकार के जलाशयों का आपसी सम्बन्ध भी प्रमाणित हो जाता है। वसिष्ठ जैसे पुरातन ऐतिहासिक स्थानों में इन बावलियों के तीन ओर जिस प्रकार

के बरामदे और कमरे हैं उसी प्रकार के कमरे और बरामदे मोहनजोदाड़ो के स्नानघर की खुदाई से मिले हैं।

वेशभूषा में भी अनेक समानताएं दिखाई देती हैं। मोहनजोदाड़ो तथा अन्य स्थानों से अभी तक इस प्रकार का कोई नमूना नहीं मिला जिससे ज्ञात हो कि तब किस प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे, किन्तु मूर्तियों और मुद्राओं पर चित्रित मानवाकृतियों से मालूम पड़ता है कि प्राय: एक ही वस्त्र सारे शरीर को ढांकता था। ऊपर के भाग पर एक शाल-सी ओढ़ी जाती थी और निचले भाग के गिर्द एक वस्त्र धोती की तरह लपेटा जाता था, ऐसा एक मूर्ति के वस्त्रों से संकेत मिलता है। शरीर के ऊपर के भाग का वस्त्र बायें कन्धे के ऊपर से डालकर दायें कन्धे के नीचे से ओढ़ा जाता था, जिससे दायां बाजू खुला रहे, पर छाती तथा अन्य अंग ढक जाएं। ठीक इसी प्रकार का पहनावा हिमाचल के कई भागों में मुख्यत: निम्न वर्ग की स्त्रियां पहने हुए मिलेंगी। एक ही पट्टू (चादर) सारे शरीर को ढांप लेता है। कमर के पास जिस तरह मोहनजोदाड़ो की एक मूर्ति एक रस्सी-सी लपेटे दीखती है, उसी प्रकार के 'रजटा' से हिमाचल की ये नारियां भी पट्टू या दोहड़ू को कस कर रखती हैं। 'गाची' जैसा चौड़ा वस्त्र भी उस युग में पहना जाता था, ऐसे संकेत मिलते हैं।

इससे भी विचित्र स्थिति स्त्रियों के सिर के पहनावे की है। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा में शिरोभूषा बहुत भारी तथा अलंकृत होती थी। यह शिरोभूषा किस वर्ग के लोगों में प्रचलित थी, कहना कठिन है। पंखे की आकृति का शिरोवस्त्र विशेष प्रिय जान पड़ता है। यह पीछे से किसी पक्के नारे से थामा जाता था। इस प्रकार की भूषा संसार के किसी दूसरे देश में देखने को नहीं मिलती है। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा में भी यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है जिन्हें पुरातत्त्वज्ञ मातृदेवी की मूर्तियां मानते हैं। मध्यवर्ती हिमाचल में पर्वों और त्यौहारों और उत्सवों में इस प्रकार की भूषा देखने को मिलती है। इसे 'गूजर' कहते हैं। बालों को सिर के पीछे इकट्ठा कर दिया जाता है, उन्हें काले ऊनी धागों 'बोनणी' से बांधा जाता है और ऊपर से एक पीला वस्त्र उन्हें ढांप रखता है। इस पीले वस्त्र को 'जगातरा' कहते हैं। इसके ऊपर लाल वस्त्र लगाया जाता है जो 'पड़ेशणी धाटू' कहलाता है। इस प्रकार यह शिरोवस्त्र पंखे के समान नीचे की ओर खुलता है। यह हूबहू मातृ देवी के शिरोवस्त्र की प्रतिलिपि ही प्रतीत होती है। 'गूजर' से मिलता-जुलता एक दूसरा शिरोविन्यास है जिसे 'टाली' या 'चूंडा' कहते हैं। पब्बर उपत्यका में ब्राह्मण स्त्रियां तथा अन्यत्र खश, राठ, कनैत तथा हरिजन विवाहित नारियां इन्हें धारण करती रही हैं। 'टाली' या 'चूंडे' में ब्राह्मण स्त्रियां तो बालों को सिर के ऊपर इकट्ठा करके उसके ऊपर लाल या केसरी रंग की पगड़ी-सी लगाती हैं, पर खश तथा हरिजन स्त्रियां इन बालों को

पहले तो काली ऊन की लम्बोतरी-सी टोपी में बांधती हैं और उसके ऊपर सफेद कपड़ा चार तह करके लपेटा जाता है। राहू स्त्रियां 'चूंडे' पर काला धाटू लपेटती हैं। धाटू पहनने से पूर्व सिर के बाल लगभग उसी तरह गूंथे जाते हैं, जिस प्रकार प्राचीन काल में ऋषि बालक या बालिकाएं गूंथा करते थे। मोहनजोदाड़ो से प्राप्त कतिपय मुद्राओं से लगता है कि उस युग में पुरुष लम्बे बाल रखा करते थे, जो कभी-कभी सिर के बीच से कटे रहते थे। उसी प्रकार के बालों का प्रचलन हिमाचल के कई भागों में था और कहीं-कहीं तो आज भी उसी प्रकार के बाल जिन्हें 'ओझरे' या 'झुलपें' कहते हैं, दीख पड़ते हैं। 'ओझरे' में मांगपट्टी उस्तरे से साफ की हुई होती है।

हिमाचल में आभूषण तो वही हैं, जो सरस्वती सिन्धु घाटी में थे। कभी-कभी तो यह धोखा हो जाता है कि संग्रहालय में रखे गए मोहनजोदाड़ो के आभूषण किसी हिमाचली नारी के पुराने आभूषणों की पिटारी से निकाल कर रखे गए हों। सिर से लेकर पैरों तक के वही जेवर। कान के झुमके, ढेढू, गले की कंठियां, दाड़माड़ा, कठमाड़ा और जौमाड़ा। चमकली में अब भी खजूर की गुठलियों की आकृति की फलियां लगती हैं। हाथ के कंगन, पांव की नेउरियां ठीक उसी तरह की हैं जैसी आज से पांच-छः हजार वर्ष पूर्व उस युग में हुआ करती थीं। हाटकोटी की वज्रेश्वरी देवी के गले में मूंगों, मुंडों के हार उन हारों के समान हैं, जो संग्रहालय में देखने को मिलते हैं।

खुदाई में पत्थर की ओखलियां और पीसने की पट्टियां भी मिली हैं। हिमाचल प्रदेश में घर-घर में, प्रत्येक खल्यान में धान कूटने की 'कानी' या ओखली हुआ करती थी।

अन्न रखने के लिए मोहनजोदाड़ो में मिट्टी के बड़े-बड़े घड़े हुआ करते थे। मुंह उनके अपेक्षाकृत कम चौड़े हुआ करते थे। प्रदेश के भीतरी भागों में अन्न रखने की लगभग यही व्यवस्था है। भ्रमौर के इलाके के 'कुल्ह' ठीक उसी प्रकार के मिट्टी के घड़े हैं और कुल्लू की 'मांदलें' भी। अन्यत्र मिट्टी के घड़ों के स्थान पर बेंत के घड़े से काम लिया जाता है, जिन्हें 'ढुंढकू' या 'ढूंढकी' कहते हैं। 'ढूंढकू' चौड़े आकार का और ढूंढकी लम्बोतरी होती है।

इसी तरह भोजन के लिए पत्थर की थाली का प्रयोग किया जाता था। हिमाचल प्रदेश में भी खाने के लिए लकड़ी की थाली बरती जाती रही है जिसे 'कोशा' कहते हैं। विद्वानों का मानना है कि सरस्वती-सिन्धु लोग मांसाहारी थे। हिमाचल मांस खाने वालों का प्रदेश है, जहां प्रत्येक उत्सव पर 'खाडू बकरे' काटे जाते हैं।

सारस्वत-सैन्धवों को तांबा और कांसा धातुओं का ज्ञान था। उनके अधिकांश बर्तन तांबे या कांसे के हुआ करते थे। हिमाचल में भी ये दो धातुएं लोकप्रिय रही

हैं। लोटा, थाली, गिलास और प्याला प्राय: कांसे के होते थे। खाने-पकाने और पानी रखने के बड़े बर्तन, जो पुराने मन्दिरों में हैं, आज भी तांबे के हैं।

जब तक वहां की लिपि नहीं पढ़ी जाती, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बौद्धिक स्तर पर उनकी क्या स्थिति रही होगी, परन्तु जिन लोगों ने उस सभ्यता के उत्खनन में भाग लिया है और जो उसे प्रकाश में लाए हैं, उनका अनुमान है कि आरम्भ में वे लोग केवल बीस तक ही गिनती जानते थे। यह दावा कहां तक ठीक है, मालूम नहीं, क्योंकि जो सारस्वत-सैन्धव बड़े-बड़े भवन निर्माण कर पाए, सभ्यता के अनेक उपकरण जुटा पाए, वे बीस से ज्यादा गिनती न कर सकें, विवेकपूर्ण नहीं प्रतीत होता। खैर, कुछ भी हो, हिमाचल में आज भी बड़ी-बूढ़िया केवल 'बी' अर्थात् बीस तक ही गिनती जानती हैं और एक सौ का महत्व केवल इतना ही है कि वह 'पांच बी' यानी पांच बार बीस है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से हम यह कह सकते हैं कि हिमाचल प्रदेश के लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या सरस्वती-सिन्धुयुगीन लोगों के वंशजों की है।[2]

गाथाओं और अनुश्रुतियों में बार-बार जमदग्नि और परशुराम का उल्लेख आता है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी[3] सरीखे विद्वानों का मानना है कि ऋग्वेद का युग जमदग्नि तक पूरा हो चुका था और प्राय: अंगीरस, वसिष्ठ, भारद्वाज, अत्रि, वामदेव, विश्वामित्र, गृत्समद और मनु को ऋग्वेद के ऋषि माना जाता है। ऋषि जमदग्नि के बाद उनके पुत्र परशुराम से दूसरे युग का आरम्भ होता है, जिसे त्रेता युग कहा जाता है। इसी युग के आरम्भ के आसपास इन भृगु पिता-पुत्र और अन्य भार्गव नेताओं ने सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र के लोगों को प्राण-संकट से बचाकर सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया था और उनकी नई बस्तियां बसाई थीं, जिनमें से कई बस्तियां शिवालिक और हिमालय के बीच की सतलुज, व्यास और रावी की उपत्यकाओं में हैं। इनमें पूर्व में सरस्वती के ऊपरी क्षेत्र में रेणुका और हाटकोटी, सतलुज उपत्यका में निरमंड, दत्तनगर, निरथ, ममेल, काव, रांवी व सराहन और व्यास घाटी में नगरकोट, जगतसुख, नग्गर और मलाणा। सरस्वती और व्यास के इलाकों में जमदग्नि प्रमुख रहे और सतलुज में परशु-राम।

जैसा कि मुन्शी का अनुमान है कि जमदग्नि के साथ ऋग्वैदिक युग समाप्त होता है तो उसी के साथ सरस्वती-सिन्धु सभ्यता भी सप्तसिन्धु क्षेत्र में पतनोन्मुख हो गई होगी। अलबत्ता तब तक सारस्वत-सैन्धवों की बस्तियां उत्तर, पूर्व और

---

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन
2. काश्यप, पी० सी० सर्वाइविंग हड़प्पन सिविलाइजेशन
3. भगवान परशुराम

दक्षिण-पूर्व में फैल चली थीं। इन्हीं दक्षिणी बस्तियों में वे दूसरी परशुरामी बस्तियां भी हैं जो उन्होंने गुजरात से लेकर कन्याकुमारी तक बसाई थीं।

परशुरामी ब्राह्मण बस्तियां

हिमालय भूखण्ड के अत्यन्त प्राचीन यज्ञ, 'भूंडा' के अवसर पर जिस गाथा का पाठ होता है, जिसे बाद में ब्रह्मांड पुराण के सृष्टि-उत्पत्ति विवरण से जोड़ दिया गया है, वह सतलुज उपत्यका में परोहड़ के नाम से जाना जाता है। इस परोहड़ में एक विवरण आता है जिसके अनुसार त्रेता युग में परशुराम ने ब्राह्मणों की 50 बस्तियां बसाईं। इन बस्तियों में से पांच सतलुज की ऊपरी उपत्यका में, मंडी जिले में ममेल और काव, शिमला जिले में निरथ और दत्तनगर और कुल्लू में निरमंड में स्थापित हुई थीं। "ममेल में 500 ऋग्वेदी ब्राह्मण, पुंडिका गोत्र, मध्य निशाखा और अरुणी छंद के आकर रहे। काव, जिसे कंचनपुरी भी कहा जाता था, 3000 यजुर्वेदी सावित्री ब्राह्मणों की नगरी बनी। इन ब्राह्मणों का गोत्र प्रभुकूर्म, साम निशाखा और गन्धरिया छन्द था। परशुराम ने काव में कामाख्यादेवी का मन्दिर और ममेल में ममेलेश्वर महादेव का मन्दिर बनवाया। उत्तर की ओर बढ़ते हुए सतलुज के बायें किनारे निरथ में उसने सूर्य मन्दिर स्थापित किया और 200 ऋग्वेदी ब्राह्मणों को बसाया जिनका गोत्र दुर्वासा, निशाखा मध्य और छन्द पतिष्ठित था। दत्तनगर में 200 सामवेदी ब्राह्मण, जिनका गोत्र कुष्मान, शाखा यस्यतु और तिष्ठति था, बसाये। वहीं मोघनारायण (दत्तात्रेय) की पूजा का प्रबन्ध किया। सतलुज को पार कर दाएं किनारे से कुछ ऊपर धार की तलहटी में निरमंड में 500 गौड़ ब्राह्मणों को उसने बसाया। इनका भारद्वाज गोत्र, श्रवण शाखा और त्रिष्टुप छन्द था। ये चारों वेदों के ज्ञाता थे। यहां उसने अर्ध नारीश्वर के मन्दिर की स्थापना की। यह सारा काम परशुराम ने धर्म की स्थापना के लिए किया।"[1]

परोहड़ पीढ़ी-दर-पीढ़ी जबानी पढ़ा जाता रहा है, इसलिए समय-समय पर प्रक्षेप आता रहा, शब्दों की शुद्धि जाती रही, अर्थ भंग होता रहा और कहीं तो अर्थ का अनर्थ भी हो गया। परोहड कई बार किसी अपढ़ पुरोहित ने भी कहा होगा, अतः इसमें बहुत कुछ गलत-सलत बातें भी आती रहीं। पाठ की मूल भाषा संस्कृत है लेकिन स्थानीय शब्दों का पुट भी काफी है।

एक अनुश्रुति के अनुसार परशुराम ने माता रेणुका का श्राद्ध करना था। वह मातृहत्या का प्रायश्चित्त करने सतलुज के किनारे निरमंड में आकर समाधि में बैठा करता था, लेकिन उसे इस योग्य कोई ब्राह्मण नहीं मिला जो श्राद्ध करवा

1. सर्वाइविंग हड़प्पन सिविलाइजेशन

सके। इसलिए उसने देश के पांच प्रमुख तीर्थों से एक-एक सौ ब्राह्मण परिवारों को बुलाकर यहां बसाया। ये परिवार अयोध्या, कांचीपुरम्, काश्मीर, वाराणसी और मायापुरी-हरिद्वार से लाए गए थे। पुरातत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र के मैदानी भागों में इस तरह की ब्राह्मण बस्तियां उस युग में एक सामान्य-सी बात थी। हड़प्पा नगरी के समकालीन एक ब्राह्मणाबाद नगर के अवशेष सिन्ध में प्राप्त हुए हैं। इस नगर की ईंटों को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सिन्ध रेलवे लाइन के निर्माण के लिए उठाया गया था और इस प्रकार एक अन्य प्राचीन नगर का अस्तित्व ही मिटा दिया गया।[1]

हमने देखा कि परशुराम ने हिमाचल में जो बस्तियां बसाईं, वे 200 से 500 परिवारों की थीं। डा० कोसम्बी[2] का कहना है कि प्राचीन काल में सामान्य बस्तियां 100 से 500 परिवारों की हुआ करती थीं। निरमंड आज भी 'पांज शौए नौगरी' पांच सौ का नगर कहलाता है। मलाणा में भी सारी बस्ती पांच सौ परिवारों की मानी जाती रही है। जमलू ने इतने ही परिवार यहां बसाए थे। परशुराम द्वारा बसाई गई बस्तियों की परंपरा केरल, गोआ, कोंकण और गुजरात, अर्थात् कन्याकुमारी से भ्रोच तक है। केरल आधुनिक काल तक परशुराम क्षेत्र माना जाता रहा है। एक मान्यता है कि कर्नाटक के दक्षिणी कर्नर जिले के अन्तर्गत तुडुव में परशुराम ने मछवारों (कैवर्त) से ब्राह्मण चुने थे और उन्हें उस क्षेत्र में बसाया था। मान्यता यह है कि सुदूर दक्षिण में इस महानतम औपनिवेशक ने नम्बूदरीपाद स्थापित किए, गोआ में सारस्वत और चिपलूण में चितपावन, निरमंड कांगड़ा में नगरकोटिए और निरमंड, दत्तनगर, निरथ, ममेल और काव में गाहरी बसाए। ब्राह्मणों के ये सभी वर्ग उच्चतम व श्रेष्ठतम स्वीकार किए जाते हैं।

सतलुज घाटी की इन पांच बस्तियों से ब्राह्मण परिवार कुछ समय बाद चार अन्य जगहों पर गए। पांच मूल बस्तियां 'स्थान' कहलाती हैं, और उनकी उप-बस्तियां 'ठहरी'। ठहरियां लाडसा, डोंडसा, शिंगवा और शनेर हैं। कुछ अन्य परिवार पब्बर की घाटी में भी गए।

हड़प्पा तथा सिन्धु नदी के अन्य क्षेत्रों के अवशेषों पर काम करने वाले विशेषज्ञों व पुरातत्त्वशास्त्रियों का कहना है कि मध्य सिन्धु घाटी तथा सरस्वती-सतलुज क्षेत्र के पंजाब, राजस्थान और बहावलपुर प्रदेशों में बस्तियां बसाने का यही क्रम रहा।[3] आरंभ में सरस्वती-सिन्धु लोगों की बस्तियों का जब बहुत विस्तार हो गया, लोगों ने घनी आबादी के इलाकों से थोड़ी आबादी और अधिक उपजाऊ

---

1. हड़प्पन सिविलाइजेशन
2. कल्चर ऐंड सिविलाइजेशन आफ एन्शैन्ट इण्डिया
3. हड़प्पन सिविलाइजेशन

जगहों पर जाकर रहना शुरू कर दिया। उन्होंने यहां नई बस्तियां स्थापित कीं, या पहले बसे लोगों के साथ आबाद हो गए।

सारस्वत-सैन्धव बस्तियां

व्यास उपत्यका में सारस्वत-सैन्धवों की बस्तियां बसाने का श्रेय परम्परा से जमदग्नि को दिया जाता है। 'ठारह करडू' की गाथा के अनुसार जमदग्नि स्पिति से होते हुए कुल्लू आए, जहां उन्होंने विभिन्न स्थानों पर देव-मंदिर स्थापित किए। ये स्थान वे हैं जहां जमलू के मन्दिर हैं। जमलू स्वयं जमदग्नि ही है। महर्षि जमदग्नि कैलाश यात्रा से लौटकर स्पिति के रास्ते कुल्लू में मलाणा आ रहे थे। वह कुछ समय हामटा में ठहरे। जब वह चन्द्रखणी पर्वत पर पहुंचे तो तेज हवा के कारण उनकी गठड़ी, जिसमें अठारह देवताओं की प्रतिमाएं थी, उड़कर दूर जा गिरी। मूर्तियां बिखर गईं। जहां ये मूर्तियां गिरीं, वहीं देवता बनकर प्रकट हुईं।[1] इस अनुश्रुति का संकेत यह है कि जमदग्नि ने देव मंदिर बनवाए और मूर्तियां स्थापित कीं। उससे पूर्व यहां न कोई मन्दिर था और न मूर्ति।

जमदग्नि के प्रयत्न

जमदग्नि का इस इलाके में आगमन लोगों को पसन्द नहीं था। उनका जगह-जगह विरोध हुआ। कुल्लू आते जब जमदग्नि रोहतांग आए, वहां के शासक सागू राकस ने मार्ग रोक दिया। चारों ओर अंधकार फैला दिया और अंधेरे में जमदग्नि को कैद कर लिया। ऋषि की सहायता को देवता आए, किन्तु सागू ने उन्हें भगा दिया। जब तक देवता दोबारा आने की बात सोच रहे थे, सागू ने जमदग्नि को खा जाने की पूरी तैयारी कर ली, लेकिन ऋषि किसी तरह उसकी कैद से बच निकले। देवताओं ने भीषण युद्ध में सागू को मार दिया।

मलाणा

सागू राकस से निपट कर जमदग्नि आगे बढ़े और मलाणा पहुंचे। वहां उनका सामना बाणासुर से हो गया। असुर ने ऋषि को पकड़कर एक बड़े बर्तन में बन्द कर दिया। बर्तन जलती आग पर चढ़ा दिया, लेकिन ऋषि का बाल भी बांका नहीं हुआ। उसके बाद उबलता पानी उंडेला गया, लेकिन बेअसर। बाणासुर घबराया। वह जान गया, उसका विरोधी कोई दैवी शक्ति है। उसके पांव पड़ क्षमा मांगी। ऋषि ने क्षमा तो किया लेकिन एक शर्त पर। बाणासुर सदा के लिए मलाणा से चला जाए और कभी लौटकर न आए। असुर ने स्वीकार किया,

---

1 कुलूत देश की कहानी

परन्तु एक शर्त अपनी भी लगा दी। जब तक संसार है, किसी भी युग में मलाणा में बोली जाने वाली उसकी भाषा नहीं बदली जाएगी। उसी शर्त के मुताबिक आज तक वाणासुर की वह 'कणाश' या 'कणाशी' भाषा चली आ रही है।[1]

राहुल सांकृत्यायन इस भाषा को किरात बोली कहते हैं[2] और मलाणा-निवासियों को मोन। कुल्लू वाले इसे देव भाषा कहते हैं। मलाणा के लोगों को एक परम्परा, स्पिति से आए दो भाइयों की सन्तान मानती है। तब मलाणा का नाम कजलीवन था। लेकिन यह मान्यता उन लोगों की है जिनका न तो मलाणा की भाषा से परिचय था और न वहां के लोगों से। चूंकि भाषा समझ में नहीं आई और मलाणा स्पिति के निकट है, अतः उन्हें स्पितियनों की सन्तान कहा गया है। स्पितियन और कणाशी भाषाओं में दूर का भी सम्बन्ध नहीं, यह बात नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जाती है।[3]

क्रम-संख्या	हिन्दी	कणाशी	स्पितियन
1.	देवता	जौंग	ला
2.	देश	देशांग	दुल
3.	गांव	ग्रामंग	डौंड
4.	परिवार	टवर	जीमद
5.	घर	किम्	खड़पा
6.	मनुष्य	माणशांग	मी
7.	स्त्री	बेटड़ा	आने
8.	पुत्र	छो:	पुचा
9.	पिता	बाऽऽ	आबा
10.	माता	याऽऽ	आमा
11.	पति	मिणिस	दाकयो
12.	पत्नी	छेच	आने
13.	भाई	भाऊ	आचो
14.	बहिन	दायु	आची
15.	खेत	शोह	निगक
16.	अन्न	छ्रा:	सांमा
17.	गाय	डहेन	वालंग
18.	भेड़	खस:	लुक्

1. कुलूत देश की कहानी
2 ऋग्वैदिक आर्य
3. चन्द्रशेखर बेवस : जन साहित्य, पार्वती लोक मानस विशेषांक

19.	आना	ओटक	शौ
20.	आया	भोक	लेपसों
21.	जाना	देहड़	दौ

परशुरामी बस्तियों की बोली और कणाशी के परिवार सम्बंधी शब्दों में समानता पाई जाती है जैसे : पुत्र = छो: = छोटू। माता = याऽऽ = ईया। पिता = बाऽऽ = बाब। पत्नी = छिच = छेउड़ी। भाई = भाऊ = भाऊ। बहिन = दायु = दाई। जैसा प्रार्थी[1] ने कहा है "ऋषि जमदग्नि, परशुराम और रेणुका के आख्यानों से सारा प्रदेश भरा पड़ा है।" सिरमौर में रेणुका के नाम पर सरोवर है, जिसके निकट 'जमू की धार' अर्थात् जमदग्नि की धार पर ऋषि का आश्रम था। महाभारत[2] में कहा गया कि आत्रेय, वसिष्ठ, काश्यप, गौतम, भारद्वाज एवं विश्वामित्र की तरह ऋचीक-पुत्र जमदग्नि का आश्रम भी उत्तर दिशा में था।

एक आख्यान है कि जब हैहय राजा सहस्रार्जुन ने जमदग्नि का वध किया, माता रेणुका पति वियोग सहन न कर सकीं और वह रेणुका सर में डूबकर मर गई। दूसरी किंवदंती यह है कि जमदग्नि और रेणुका जमू की धार पर रहते थे। दोनों परम वैष्णव थे। विष्णु उनका आराध्य देव था। कई वर्षों तक इस दम्पति ने विष्णु का जप किया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें वर मांगने को कहा। उन्होंने पुत्र-कामना की और वरदान में परशुराम उत्पन्न हुआ। रेणुका जमदग्नि की पूजा के लिए प्रतिदिन यमुना से ताजा जल लाया करती थी। जब वह जल से भरा घड़ा लेकर लौट रही थी तो मार्ग में उसने एक नग्न रतिरत गन्धर्व-युगल को देखा। इससे उसके मन में भी कामवासना जागृत हुई। जल से भरे घड़े में दरार आ गई और जब तक वह आश्रम पहुंची, घड़ा आधा रह गया। जमदग्नि ने कारण पूछा और सच्चाई जानने पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने पुत्र को आज्ञा दी कि रेणुका का वध कर दे। पिता-आदेश मान परशुराम ने माता का सिर काट दिया। जमदग्नि प्रसन्न हुए और बेटे को वर मांगने को कहा। पुत्र ने प्रार्थना की कि माता पुनर्जीवित हो जाए और जो कुछ भी हुआ उसे याद ही न रहे। परशुराम आश्रम में नहीं ठहरा और प्रायश्चित्त करने बदरीनाथ चला गया। वह प्रतिवर्ष एक बार अपने माता-पिता से मिलने आता है और तब मेला लगता है।

एक और गाथा में कहा गया है कि रेणुका एक दिन नदी पर स्नान करने गई। उसके पुत्र वन में खेलने और कन्दमूल खाने गए थे। नदी पर उसने मृत्तिकावती के गन्धर्वराज चित्ररथ और उसकी रानी को पुष्पहार से प्रेमक्रीड़ा करते देखा। उन्हें देख उसके मन में भी कामाग्नि जग उठी, जिससे उसका नदी में

---

1. कुलूत देश की कहानी
2. शान्ति पर्व 201—31-32

स्खलित हो गया। उद्विग्न चित्त से वह आश्रम लौटी। जमदग्नि भांप गया। क्रुद्ध हो उसने अपने पुत्रों को आदेश दिया वे रेणुका का वध कर दें। परशुराम के सिवाय किसी ने हामी नहीं भरी। पिता ने उन्हें शाप दिया, वे सभी जड़ बुद्धि बन जाएं। परशुराम ने माता का वध किया, प्रसन्न पिता ने वर मांगने को कहा। बेटे ने वर मांगा कि माता जीवित हो जाए, उसे अपनी मृत्यु की घटना याद न रहे, वह सब दोषों और लांछनों से मुक्त हो जाए और भाई पुनः स्वस्थ होकर पूर्वास्था में आ जाएं।

वेद, पुराण, महाभारत और रामायण, अन्य साहित्य, लोकवार्ता और परम्परा से यह प्रमाणित हो जाता है कि जमदग्नि और परशुराम ऐतिहासिक व्यक्ति थे। मुन्शी का कहना है कि 'भृगु वंश वैदिक और पौराणिक काल का महाप्रचंड तेज था। शुक्राचार्य, देवयानी, च्यवन, सुकन्या, सत्यवती और रेणुका, ऋचीक और जमदग्नि, परशुराम और कवि चायमान, और्व और मारकंडेय आदि बड़े प्रतापी नाम हैं। भृगुसंहिता का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। महाभारत भृगुओं का महाकाव्य है, यह तो स्व० डा० सखठणकर जैसे विद्वान भी प्रतिपादित कर गए हैं। और ऋषियों में यदि कोई अवतार स्वीकृत किए गए तो वे अकेले परशुराम ही हैं। हिमालय में स्थित परशुराम धाम निरमंड से लेकर त्रावणकोर तक के स्थान-स्थान उनकी पुण्य स्मृति से अंकित हैं। सम्पूर्ण महाभारत उनके प्रताप से दैदीप्यमान हो जाता है।"[1]

अथर्ववेद का एक नाम भृग्वङिगरो (भृगु+अंगिरो) वेद भी है। इसका अभिप्राय: यह है कि भृगु और अंगिरा कुलों का इस वेद से गहरा सम्बन्ध रहा है। भृगुकुल के उन्नीस ऋषि-महर्षियों में से स्वयं भृगु, दध्यङ् (आथर्वण) और शौनक स्पष्ट ही आथर्वण हैं। अथर्ववेदी ब्राह्मण भार्गव ही हैं। निरमंड ताम्रपत्र में परशुराम द्वारा स्थापित अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्राहार देने की बात की गई है। त्रिगर्त में भृगुकुल के एक यशस्वी नेता भार्गायण का जिकर आता है। संभवत: भार्गायण कांगड़ा नगरकोट की सारस्वत-सैन्धव बस्ती का ही व्यक्ति रहा हो।

ऐतिहासिक काल में कौटिल्य ने एक जामदग्नेय का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र[2] में उन्होंने कहा है कि जमदग्नि का वंशज जामदग्नेय राजा अम्बरीष चक्रवर्ती सम्राट था और उसने सभी इन्द्रियों पर काबू पाया हुआ था।

ऋग्वैदिक काल में सरस्वती-सतलुज-व्यास और रावी का शिवालिकीय इलाका अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्थल रहा है। यहीं वह प्रचंड योद्धा शम्बर था जिसे

1. लोमहर्षिणी का आमुख
2. अर्थशास्त्र, खंड 1, अध्याय 6

परास्त करने के लिए चक्रवर्ती राजा दिवोदास को पूरे 40 वर्ष लगे।

ऋग्वेद की ऋचाएं शम्बर-युद्ध और दिवोदास की विजयों के वर्णन से भरी पड़ी हैं। भारद्वाज, वसिष्ठ और वामदेव ने शम्बर पर विजय पाने का श्रेय इन्द्र को दिया है। एक ऋचा में कहा गया है कि "इन्द्र तुम्हारे लिए छना हुआ वह सोम हाजिर है, जिसके नशे में तुमने दिवोदास के लिए शम्बर को बड़े पर्वतों के अन्दर मारा।" शम्बर को मारने के लिए ही नहीं, एक दूसरे प्रतापी राजा वृत्र को मारने के लिए भी इन्द्र की सहायता लेनी पड़ी। वृत्र ने सात नदियों के जल को रोक रखा था अतः उसका नाश करने के बाद ही इन्द्र इस जल को मुक्त करा सका। संभावना यह है कि वृत्र ने बांध बांधे होंगे, कुल्हें बना रखी होंगी, जिससे अपने राज्य में वह सिंचाई करा सके। इससे निचले भाग में बसे आर्यों को सिंचाई के लिए पर्याप्त मात्रा में जल न मिल पाया हो, इसलिए उन बांधों को तुड़वाया गया। दिवोदास के पुत्र चक्रवर्ती सुदास ने भी आर्यों का जो गृहयुद्ध प्रारंभ किया, जिसे दशराज्ञ कहा जाता है, वह भी हिमाचल के आसपास ही हुआ।

कांगड़ा में एक परम्परा यह भी है कि वहां का कटोच्च राजवंश मुलतान से यहां आया था। मुलतान मूलस्थान का बिगड़ा रूप माना जाता है। एक अटकल यह लगाई जाती है कि मूलस्थान का क्षेत्र ही सारस्वत सैन्धवों का आदि स्थान था। संभव है कटोच्च भी उस टुकड़ी में रहे हों, जिन्हें संस्कृति के पतनकाल में वहां से हटकर दूसरी बस्ती बसाने के लिए निकल जाना पड़ा और वे आकर नगर-कोट में बस गए।[1]

निरमंड ताम्रपत्र

हिमाचल की इन विभिन्न बस्तियों का सरस्वती-सिन्धु युग के जीते-जागते अवशेष होने का सबसे सबल ऐतिहासिक लिखित प्रमाण निरमंड का ताम्रपत्र है। परम्परा इस पत्र को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-प्रदत्त मानती है, किन्तु पत्र पर गुप्तों का नाम तक नहीं है। इस ताम्रपत्र द्वारा महासामन्त महाराजा समुद्रसेन ने शूलिशग्राम और उससे संलग्न ऊसर, जोहड़ भूमि, वन तथा जंगल निरमंड के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्राहार के रूप में अनन्त काल तक के लिए दिए, जिससे उसकी माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिरलक्ष्मी का कपालेश्वर मन्दिर में मिहिरेश्वर की पूजा का धार्मिक उद्देश्य पूरा होता रहे। लेख के अनुसार कपालेश्वर

1. एक स्थानीय परम्परा यह मानती है कि महाभारत युद्ध में कौरवों के सहायक संसप्तक जब हार गए तो वे अपने नेता सुशर्मा के साथ मुलतान छोड़कर कांगड़ा चले आए। लेकिन एक दूसरी परम्परा कटोच्वों का महाभारत से काफी पहले से ही कांगड़ा में होना मानती है।

मन्दिर का निर्माण महाराजा सर्ववर्मन ने कराया था किन्तु उसमें मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना परमदेवी मिहिरलक्ष्मी ने की थी। ताम्रपत्र में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि निरमंड के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को एक अग्राहार पहले से ही मिला हुआ था, जिसे परम्परा स्वयं परशुराम का दिया मानती है।[1]

महासामन्त महाराजा समुद्रसेन रविसेन का पुत्र था। रविसेन संजयसेन का और संजयसेन वरुणसेन का पुत्र था। रविसेन, संजयसेन और वरुणसेन सभी महासामन्त थे। इस प्रकार इस ताम्रपत्र में चार महासामन्त महाराजाओं और एक केवल महाराजा का उल्लेख है।

ये महासामन्त कौन थे? कहां के थे? और कब थे? ताम्रपत्र से इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता है। उसमें न तो इन महासामन्तों महाराजाओं के राज्य का नाम दिया है, न राजधानी का जिकर है और न संवत्सर ही है। दानपत्र की तिथि शुदी दस, वैसाख मास, सम्वत् छः है। इसी अनिश्चितता के कारण कन्निंघम इस ताम्रपत्र को बारहवीं शताब्दी का मानता है। उसका कहना है कि दानकर्ता मंडी का राजा था। अपने मत की पुष्टि के लिए उसने मंडी वंशावली के राजाओं की सूची दी, लेकिन दोनों सूचियों में मेल बिठाने के लिए कन्निंघम ने ताम्रपत्र में अंकित नामों को उलट-पुलट दिया। नाम उस पर भी ठीक नहीं बैठे।[2] त्रिपाठी का कहना है कि लेख हर्षकालीन है अतः छठी शताब्दी का है। भंडारकर समझते हैं कि यह ताम्रपत्र स्पिति के किसी सेन वंश के शासक ने दिया है, जो जालन्धर के अधीन था। डा० फ्लीट, भाषा और शैली को ध्यान में रखते हुए, इसे सातवीं शताब्दी का मानते हैं और कहते हैं कि यह सेन वंश स्पिति का था। किन्तु बाबू राजेन्द्र लाल, जिन्होंने सर्वप्रथम इस ताम्रपत्र का सम्पादन किया था, मानते हैं कि भाषा के आधार पर यह पत्र चौथी-पांचवीं शताब्दी का है जो समुद्रगुप्त अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में दिया गया है। इनके शासनकाल में भारत के इस पश्चिमोत्तरी भाग पर सम्राटों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और संभव है अपने निजी निरीक्षण में उन्होंने किसी महासामन्त को यहां का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त किया हो और गुप्त साम्राज्य की परम्परानुकूल उन्हें अपने नाम से दानपत्र देने का अधिकार दे रखा हो।

इस दानपत्र की सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात अग्राहार का अशेषम् अर्थात् पूर्ण बनाने की है। शूलिशग्राम का कुछ भाग पहले ही महाराजा सर्ववर्मन ने अग्राहार के रूप में दे रखा था। मिहिरलक्ष्मी ने उसमें उद्रांग तथा अन्य कृषि भूमि, गांव, जंगल और क्यार जोड़ दिए। बक्खलिक नामक कृषक ने शूलिश-

1. पद्मचन्द काश्यप: कुल्लुई लोक साहित्य, एवं सर्वाइविंग हड़प्पन सिविलाइजेशन
2. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन

ग्राम के वेदिल की सीमा पर स्थित अपनी भूमि दे दी। मुलभक और दिन्ना की जमीन भी शामिल कर ली गई और फक्का उपनामधारी व्यक्ति ने उद्रांग सहित द्रेस भूमि दी। फक्का तालापुर नगर का कृषक था।

तालापुर नगर रोपड़ से दक्षिण पश्चिम में लगभग पांच-छ: किलोमीटर दूर चमकोर साहिब जाने वाली सड़क पर है। यह सतलुज के पुराने सूखे मार्ग के किनारे है। अब तालापुर निर्जन है और उसके पुराने दिनों की यादगार सिर्फ एक टीला रह गया है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता वाई० डी० शर्मा और डा० सांकलिया का कहना है कि तालीपुर 'हड़प्पन' बस्ती है। शर्मा ने इस इलाके की खुदाई करने वाले दल का नेतृत्व किया था। अवशेषों के आधार पर रोपड़ के निकट सिहभगवन्तपुरा के संबंध में शर्मा की मान्यता है कि यह बस्ती ईसा से 700 वर्ष पहले की है। यह दोबारा ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में बसी और तीसरी तथा अन्तिम बार यह लगभग एक हजार वर्ष ईसा के बाद बसी और अभी तक चली आ रही है। तालापुर संभवत: तीसरी बार नहीं बसा।[1]

सिहभगवन्तपुरा को तालापुर के समान हड़प्पा युगीन नगर माना जाए तो उसका वह स्वरूप ईसा के दो-तीन सौ वर्षों के बाद के काल में मिट गया था। इसके आसपास मिट्टी की जो वस्तुएं मिली हैं वे हड़प्पोतर काल की हैं। अपने अस्तित्व के अन्तिम दिनों में तालापुर भी संस्कृति के उसी दौर में था।

निरमंड का दान पत्र जब दिया गया तब तालापुर और निरमंड में निकट का संबंध रहा होगा, तभी तालापुर के कृषक ने निरमंड के मन्दिर के लिए अपनी सम्पत्ति दान दी। फक्का चाहे तालापुर का नागरिक रहा हो, या वहां का व्यापारी जो निरमंड में रहता था, या स्वयं निरमंड का निवासी जो तालापुर में रहता था, दोनों सूरतों में, निरमंड और तालापुर एक-दूसरे को जानते थे। वहां के लोगों का एक-दूसरे के यहां आना-जाना था, जमीन-जायदाद थी। यह इसलिए संभाव्य है कि दोनों हड़प्पा युगीन या सरस्वती-सिन्धु संस्कृति के नगर थे। इससे परशुराम द्वारा निरमंड आदि सारस्वत-सैन्धवों की बस्तियां बसाए जाने की परम्परा की पुष्टि होती है। संभव है रोपड़, तालापुर, सिहभगवन्तपुरा भी निरमंड और दूसरे 'स्थानों' की तरह उन 50 बस्तियों में से हों, जिन्हें परशुराम ने सरस्वती-सतलुज-व्यास क्षेत्र में बसाया था।

उपर्युक्त चर्चा से यह कमोवेश सिद्ध हो जाता है कि हिमाचल प्रदेश के लोग सारस्वत-सैन्धव हैं और वैदिक आर्यों की सन्तान हैं। वास्तव में दोनों सारस्वत-सैन्धव और वैदिक कालीन लोग एक ही थे, उनकी भूमि एक थी, कर्मक्षेत्र एक था, उनकी संस्कृति एक थी। इस निष्कर्ष को वलि के प्रति उन दोनों के समान दृष्टि-

---

1. सर्वाइविंग हड़प्पन सिविलाइजेशन

कोण से भी बल मिलता है। जैसा हम भूंडा के सन्दर्भ में देखेंगे, दोनों के यज्ञ भी एक जैसे थे।

भूंडा

सरस्वती और सतलुज के पार्वती जल संग्रहण क्षेत्र में गढ़वाल से लेकर कुल्लू तक एक विशेष यज्ञ होता है जिसे भूंडा कहा जाता है। सतलुज उपत्यका में यह यज्ञ अनगिनत वर्षों से होता चला आया है। इस उपत्यका में भी निरमंड के भूंडा का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि यहां लगभग सारा कर्मकांड बड़ी सीमा तक अक्षुण्ण चला आ रहा है। अतः भूंडा की चर्चा का आधार हम निरमंड के भूंडा को ही ले रहे हैं।

साधारणतया भूंडा यज्ञ की अवधि 12 वर्ष है और प्रायः कुम्भ के तुरन्त पश्चात् इसका संयोजन हुआ करता था। वैदिक युगीन अश्वमेध, गोमेध आदि मेधी यज्ञों की श्रेणी का यह यज्ञ है। अनेक जानकार लोगों के मत में भूंडा सभी वैदिक यज्ञों का मिश्रित रूप है, यद्यपि भूंडा की 12 वर्ष की अवधि में हर चौथे वर्ष शान्द, भडोर्जी एवं भदपूर नामक अजमेधी यज्ञों का प्रचलन था। एक-दो लोक-गीतों में भूंडा को अश्वमेध की संज्ञा दी गई है, किंतु सामान्य परम्परा इसे नरमेधी यज्ञ मानती है और इसका सीधा संबंध सरस्वती-सिन्धु संस्कृति और वैदिक कर्म-कांड से है।

भूंडा के लिए जब हवनकुंड खुलता है, तो कुंड के इशाण कोण पर देवी महिषासुरमर्दिनी की जो मिट्टी की मूर्ति स्थापित की जाती है, वह कठेड नामक एक विशेष जाति के पुरुष द्वारा बनाई जाती है। कठेड शब्द कठ से निकला है जिसका अर्थ है कठ का व्यक्ति। कठ जाति वैदिक युगीन है। कठ उपनिषद भी है, कृष्ण यजुर्वेद की संहिता भी, जो ऋषि वैशंपायन कृत है। कठों की 44 उपशाखाएं गिनाई गई हैं। पुराणों के अनुसार कठ उत्तरदेशीय थे। परम्परा से कठ लोग धातु एवं मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण करते थे। भूंडा के कर्मकांड से पृथक् कठेड लोग ठठार कहलाते हैं। ठठार भी कठ का ही अपभ्रंश रूप है। कठेड मूर्तिकार हैं और सहस्रों वर्षों से परशुराम की कोठी (मन्दिर) के साथ जुड़े हैं। निर्वाह के लिए कोठी से उन्हें जमीन मिली थी। कहा जाता है कि परशुराम द्वारा लाए गए लोगों की पहली टोली में ये कठ भी शामिल थे।

प्राचीन काल में इन मेधी यज्ञों में विख्यात ऋषि भाग लेते थे और यज्ञ के पूर्ण होने पर पूर्णाहुति के समय नरमेध यज्ञ में नर, अश्वमेध यज्ञ में अश्व और गोमेध यज्ञ में गो की बलि दी जाती थी। वेदों की साक्षी से एक यज्ञ में विश्वामित्र प्रधान पुरोहित थे। वरुण के निमित्त आयोजित इस यज्ञ में शुनःशेप की बलि दी जानी थी। शुनःशेप स्वयं विश्वामित्र का पुत्र था और उसकी माता शम्बर-पुत्री उग्रा

थी। शुनःशेप का पालन-पोषण अजीगत ऋषि ने किया था।

भूंडा से संबंधित कर्मकांड पुरातन नरमेध के समान है। इस यज्ञ को परम्परा से परशुराम-रेणुका से जोड़ा जाता है और अनुश्रुति यह है कि परशुराम ने जो भूमि अग्राहार में दी थी, उसकी उपज का दसवां भाग इस भूंडा यज्ञ पर खर्च करना होता था।

कुछ विद्वानों का विचार है कि भूंडा शब्द 'बेडा' से निकला है। बेडा एक जाति है जो मुख्यतः गढ़वाल से कुल्लू तक के इलाके में रहती है। भूंडा के अवसर पर जो नैमित्तिक बलि दी जाती है। वह बेडा की ही होती है। इस तरह बेडा का भूंडा से गहरा संबंध है। शायद भूंडा इसी बेडा का ही रूप है। इस धारणा की पुष्टि गढ़वाल में भूंडा के लिए प्रयुक्त बेडारात शब्द से भी होती है। कुछ और लोगों का कहना है कि भूंडा शब्द भंडार से निकला है। इस यज्ञ में मन्दिर का भंडार खुलता है, उससे सभी अतिथियों को खाने-पीने का सारा सामान मिलता है, अतः भूंडा भंडार का ही लघुरूप है। वस्तुतः ये सभी मत अपूर्ण हैं, केवल मात्र कल्पनाएं हैं। भूंडा की व्युत्पत्ति कहीं और देखनी होगी। भूंडा ही नहीं, इस कड़ी के अन्य तीन यज्ञों, शान्द, भडोजी और भद्पूर का भी न वैदिक वाङ्मय में और न ही किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ में उल्लेख है। भूंडा तथा बीच के इन तीन यज्ञों में मुख्य भेद चार बातों में है। भूंडा यज्ञ में हवन कम से कम एक साल तक होता है, जबकि शान्द आदि यज्ञों में तीन मास से छः मास तक। इसके अतिरिक्त भूंडा में परशुराम शामिल होता है। गाहरी ब्राह्मणों का अभिषेक होता है। जलपूजन के समय स्त्रियों के सतीत्व के अनुमोदन होता है तथा जियाई पड़ता है।[1]

मेले की निश्चित तिथि से लगभग एक वर्ष पूर्व ही भूंडा का प्रारम्भ हो जाता है, जब वृहद् हवन का आयोजन होता है। इस हवन के लिए परशुराम की कोठी के प्रांगण में एक हवनशाला है, जिसमें तकरीबन एक मीटर गहरा और एक मीटर चौड़ा कुंड है। इसे नाभिकुंड कहा जाता है। 'कूंड घवाणना', अर्थात् कुंड खोलने से लेकर यज्ञ की समाप्ति तक विद्वान वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्रीय विधि से प्रतिदिन प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक हवन किया करते हैं।

हवन कार्यक्रम शुरू होते ही बेडा जाति का एक पुरुष इस 'जग' के लिए चुन लिया जाता है। तब से उसका और उसके सारे परिवार एवं मेहमानों का भरण-पोषण मंदिर की जिम्मेदारी हो जाती है। हवनकुंड खुलने के पश्चात् किसी शुभ दिन गांव के प्रायः सभी परिवार मूंज घास काटकर लाते हैं और उस मनोनीत बेडा को दे देते हैं। इसी मूंज से वह रस्सी बनती है, जिस पर बिठाकर बेडे को

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन

ऊपर से नीचे सांकेतिक बलि पर सरकाया जाता है। यह रस्सी जिसे वल्लौतर कहा जाता है, लगभग एक सौ मीटर लम्बी और 20 सेंटीमीटर मोटी होती है और इसे वेडा स्वयं बनाता है। बटाई के दिनों वेडा हर रोज सुबह सवेरे मूंज घास और बटी हुई रस्सी की पूजा करता है। बटाई का काम वेडा के घर पर नहीं होता, इसका एक सुनिश्चित स्थान है, जहां एक विशेष कुटिया बनी है। रस्सी को चूहा न काट ले, इस उद्देश्य से वेड़ा को एक बिल्ली दी जाती है, जो कुटिया में रहकर चूहों से रस्सी की रक्षा करती है। बिल्ली के लिए दूध का प्रबन्ध मंदिर से किया जाता है।

जब 'जग' समारोह शुरू हो जाता है तो पहले दिन निमंत्रित देवताओं का स्वागत किया जाता है। इसका नाम छमोड़छणी है। जिस तरह कुल्लू के दुशैहरे और मंडी की शिवरात्रि पर पास-पड़ोस के सभी देवी-देवताओं का समागम होता है, उसी प्रकार भूंडा में भी निकट-दूर के देवता सम्मिलित होते हैं, किन्तु अन्तर यह कि दुशैहरा या शिवरात्रि पर ग्राम देवता आते हैं, लेकिन भूंडा में शास्त्रीय देवता ही भाग ले सकते हैं और ये भी केवल चुने हुए ग्रामों के। ये ग्राम वे ही हैं, जिन्हें परम्परा परशुराम द्वारा स्थापित किया गया मानती है। पांच स्थानों और चार ठहरियों के देवता का शामिल होना अत्यावश्यक है। इन देवताओं के कलश होते हैं। कोई भी देवता इस 'जग' में रथ में नहीं आता है। इनके इलावा 'रांवीं ए पोथी' का आना भी परमावश्यक है। रांवीं वाणासुर की राजधानी सराहन के निकट एक ब्राह्मण बस्ती है। यह 'पोथी' ग्रन्थ, वहां के प्राचीनतम परिवार की सम्पदा है।

छमोड़छणी से पांच-सात दिन पहले परशुराम को अपनी गुफा से बाहर लाया जाता है और कोठी की ऊपरली मंजिल के एक विशाल कमरे में दर्शनार्थ बैठाया जाता है। यहीं पर परशुराम के सम्मुख परोहड़ पाठ से आमंत्रित देवताओं का स्वागत होता है। परशुराम के गुफा से बाहर आने और छमोड़छणी के बीच के दिनों में कुलीन गाहरी ब्राह्मण परिवारों के ज्येष्ठतम पुत्र को 'टीका' लगाया जाता है। टीका स्पष्टत: अभिषेक है, उसी तरह का जैसाकि बुद्ध के समय विभिन्न जनपदों के 'राजाओं' का हुआ करता था।

छमोड़छणी के अगले दिन आसपास के ग्राम देवताओं के गूर शिखफेर निकालते हैं। ये गूर गांव के चारों ओर चक्कर काटते हैं और इस परिक्रमा के दौरान निर्दिष्ट स्थानों पर बकरा, मेढ़ा, सुअर और मुर्गे की बलि दी जाती है।

'जड़' पूजन

उसी दिन एक अन्य समारोह होता है जिसे जड़पूजन अर्थात् जलपूजन कहा जाता है। प्रतीत होता है कि जड़पूजन का वास्तविक उद्देश्य पतिव्रता स्त्रियों के

सतीत्व का परीक्षण तथा सामाजिक तौर पर उसका प्रतिमोदन रहा है। लाटे की वा (लाटे की बावली) नाम के 13 फुट लम्बे, 8 फुट चौड़े और 5 फुट गहरे 7 पौड़ियों के जलाशय पर अम्बिका का कलश तथा अन्य नौ लघु कलश (करोतियां) लाए जाते हैं और बावली के तीनों ओरों पर उन्हें एक-एक कर रखा जाता है। प्रत्येक करोती के आगे एक दीपक रखा जाता है। बावली जल से लबालब भरी होती है। उच्च वंशीय कुलीन सुहागनें जल में प्रविष्ट हो, पहली या दूसरी पौड़ी पर से इन कलशों और करोतियों की पूजा करती हैं। प्राचीनकाल में सिर्फ गाहरी स्त्रियां ही इस पूजा में भाग ले सकती थीं। टीका भी केवल गाहरी युवकों को ही लगाया जाता था। यह नियम इतना कठोर था कि यदि कोई इतर-गाहरी स्त्री पूजा करने का प्रयत्न करती तो परशुराम मन्दिर के अधिकारी देवता की छड़ी छुआकर उसे हटा दिया करते थे। कहा जाता है कि किसी नारी को पूजा का पात्र घोषित करने से पूर्व उसकी मातृ-पितृगृह और पतिगृह, दोनों ओर की सात पुश्तों की जांच कर ली जाती थी। वह सात पुश्तों से शुद्ध गाहरी चली आ रही हो, केवल तभी वह पूजा कर पाती थी।[1]

लोगों में यह धारणा घर कर गई है कि बावली में प्रविष्ट होने पर जिस स्त्री के परिधान का पल्ला जल में ही रहे, वह पतिव्रता है यदि पल्ला पानी पर तैरने लगे, तो उसमें कुछ 'खोट' है, चरित्र में कमी है। कहा जाता है कि पुराने जमाने में पूजा में आने से पूर्व नारी को उबलते हुए तेल में हाथ डालना होता था। यदि हाथ न जले, तभी वह पूजा कर सकती थी। इस कसौटी का एक दूसरा चरण दिया धारना (दीप जलाना) है। पूजा करने वाली स्त्री, कलश और करोतियों के आगे रखे दीपकों में तेल भरती है। उसे इस विषय में सतर्क रहना होता है कि दीपक में डालते हुए तेल की धार न टूटे। धार का टूटना उसके माथे पर कलंक का टीका लगा देता है। यह एक अत्यन्त कठिन मनोवैज्ञानिक परीक्षण है। माना यह जाता है कि यदि पूजक पतिव्रता है तो उसमें पूर्ण आत्मविश्वास होगा। उसका हाथ कांपेगा नहीं और तेल की धार टूटेगी नहीं। उसे यदि अपने आचरण की शुचिता पर लेशमात्र भी संदेह हो, तो उसका हाथ अवश्य कांप जाएगा और तेल की धार टूट जाएगी।

जियाई पड़ना

भूंडा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना तीसरे दिन घटित होती है। इसे जियाई पड़ना कहा जाता है। एक ओर परशुराम कोठी से बाहर निकल कर दशनामी

---

1. सन् 1981 में हुए भूंडा के जड़पूजन पर गाहरी के इलावा दूसरी स्त्रियों ने भी पूजन किया था।

साधुओं के अखाड़े में आता है और दूसरी ओर बेडा को बलि के स्थान पर लाया जाता है। अब इस बेडा को जियाई या जेड़ी कहा जाता है। बलि के स्थान पर जाने से पूर्व जियाई नहा-धोकर तैयार होता है। उसे बाजे-गाजे के साथ सम्मान-पूर्वक हवनकुंड के पास लाया जाता है। उस समय उसे एक तरह का देवता ही माना जाता है और उसके अनुरूप ही उसकी पूजा की जाती है। यज्ञशाला की बेदी से वह कुछ दूर बाहर खड़ा होता है। हवन का अधिष्ठाता पुरोहित उस पर जल, पुष्प, अक्षत आदि फेंकता है। पूजा के उपरान्त उसके मुख में पंचरत्न की पुड़िया डाल दी जाती है। जियाई उपस्थित लोगों में उपहार बांटता है। मन्दिर का कारदार उसे अपनी पीठ पर उठाकर मन्दिर की कोठी से बाहर लाता है। उस समय वाद्य व संगीत सभी कुछ करुणोत्पादक होते हैं।

बाहर निकलकर गण्य-मान्य अतिथि, पुरोहित और मन्दिर के कर्मचारी जलूस की शकल में चलते हैं। जलूस का नेतृत्व जियाई करता है। उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र होता है। गले में लाल डोरी होती है। उसके सिर पर एक दूसरा आदमी नीली छत्री उठा कर चलता है। जलूस के पीछे 50-60 आदमी बल्लौत्तर को उठाकर आते हैं। समारोह रूप में यह जलूस उस स्थान पर आता है जहां से जियाई को बल्लौत्तर पर चढ़ना है। उसकी उपस्थिति में गढ़िये, जो प्राय: खश होते हैं, रस्सी को दो मजबूत खम्भों से बांध देते हैं। एक खम्भा ऊंचाई पर और दूसरा तीखी ढलान पर नीचे गड़ा होता है। उसके बाद जियाई यज्ञशाला लौट आता है। यहां अब उसे विधिपूर्वक देवार्पण किया जाता है। आचार्य संकल्प पढ़ता है और देवताओं से जियाई की बलि स्वीकार करने की प्रार्थना करता है।

निरमंड में सन् 1868 में बल्लौत्तर के टूट जाने से जियाई की मृत्यु हो गई थी, तब से वहां जियाई का स्थान बकरा लेता है, लेकिन बुशैहर में होने वाले भूंडों में हिमाचल बनने तक जियाई ही रस्सी पर चढ़ता रहा है। देवार्पण होने पर जियाई को पुन: जलूस में बलिस्थल पर लाया जाता है। उसके परिवार के लोग तथा निकट सम्बन्धी निचले खम्भे के पास ही रहते हैं। उसकी पत्नी श्वेत वस्त्र पहने बाल खोलकर विधवा का भेष धारण किए होती है।

साधारणतया जियाई की बल्लौत्तर पर चढ़ने से मृत्यु नहीं होती। यदि दुर्भाग्यवश यह दुर्घटना हो जाए, तो उसके मृतक शरीर का पूरे सम्मान के साथ अन्तिम संस्कार किया जाता है। उसके परिवार को देवता के कोष से जीवन निर्वाह के लिए धन दिया जाता है और जागीर की शक्ल में पूरा खर्च दिया जाता है। एक प्रकार से उसके भरण-पोषण का दायित्व समाज अपने ऊपर ले लेता है।

माना यह जाता है कि भूंडा समारोह 12 मुख्य स्थानों पर हुआ करता था। जिससे प्रतिवर्ष यह अनुष्ठान कहीं-न-कहीं होता रहे। एक अनुश्रुति कहती है कि कुल्लू में बनजार के निकट बला नामक गांव के मार्कंडेय ऋषि और बाला-

सुन्दरी देवी के मन्दिर में जब यह यज्ञ सम्पन्न हो जाता था, वहां से तुरन्त एक दूत पत्र लेकर निरमंड आता था। पत्र में भूंडा यज्ञ की सफल समाप्ति का उल्लेख होता था। इसके पहुंचते ही परशुराम मन्दिर में भूंडा का आयोजन शुरू हो जाया करता था। निरमंड से भूंडा समापन की सूचना मंडी के ममेल गांव भिजवाई जाती थी, जहां चंडी मन्दिर की ओर से भूंडा का समारंभ किया जाता था। इस तरह एक जगह से दूसरी जगह सुनिश्चित क्रम से इस यज्ञ का आयोजन होता रहा है।[1]

जैसा हम पहले कह चुके हैं, भूंडा शिव, शक्ति और परशुराम के निमित्त होता रहा है। सारस्वत-सैन्धवों के आराध्य देव शिव और मातृदेवी रही हैं। शिव परशुराम के भी आराध्य देव व गुरु थे। परम्परा यह है कि शिव ने ही परशुराम को धनुर्विद्या में निपुण किया था और उन्हें विविध अस्त्र-शस्त्र दिए थे। कहीं-कहीं परशुराम को शिव का ही अवतार कहा गया है। इसलिए यह अनुमान गलत नहीं होगा कि नरमेध यज्ञ मूलत: सरस्वती-सिन्धु लोगों की देन है और इसी कारण वह वेदों में पूर्ण कर्मकांडीय स्वरूप में चित्रित व वर्णित हुआ है।

यहां यह बात भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद काल के पूरा होने तक जहां-जहां ये लोग चले गए थे, वहां नरबलि का प्रचलन रहा है। मुन्शी का कहना है कि "जमदग्नि से ही ऋग्वेद काल का पूरा होना और शतपथ ब्राह्मण का आरंभ माना जाता है। ज्ञात होता है कि उस समय आर्य कोई जाति नहीं थी, एक बड़ी प्रजा थी। शंकर को देवाधिदेव रूप में स्वीकार कर लिया गया। छोटे-छोटे राज्यों के बदले बड़े राज्य बने। सरस्वती नदी लुप्त हो गई। आर्य लोग नर्मदा से मगध तक फैले हुए थे।"[2] नर्मदा क्षेत्र में तो आधुनिक काल तक नरबलि देवी मन्दिरों में दी जाती रही। बाण के हर्षचरित से लगता है कि उज्जैन के महाकाल के मन्दिर में नरबलि दी जाती थी और उसे महाकालहृदय कहा जाता था। यह बलि शिव की तुष्टि के लिए दी जाती थी।"[3] मुंडा जाति के राजा श्रीधर्म ने शिव के निमित्त हर तीसरे वर्ष नरबलि की प्रथा अपनी जाति में चलाई थी।

भूंडा में नर बलि तो दी जाती थी लेकिन बलि के जीवन को बचाने के सभी संभव उपाय किए जाते थे। यह रस्सी बनाने की विधि, उसके दायित्व, सुरक्षा के लिए बिल्ली का रखना, जियाई की उपस्थिति में बल्लौत्तर को खम्भों से बांधना, बल्लौत्तर में निचले खम्भे के पास दस-पन्द्रह मीटर तक कपड़े के थान तथा ऊनी कम्बल और पट्टू लपेटना जिससे जियाई की गति रुक जाए और वह खम्भे से

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन
2. भगवान परशुराम
3. एन्साइक्लोपीडिया आफ इण्डियन कलचर

न टकराये आदि बचाव के उपायों से स्पष्ट होता है। यदि जियाई की मृत्यु अभिप्रेत होती, तो रस्सी बांटने का दायित्व उस पर न डाला जाता। ऐसा तो शायद ही कोई व्यक्ति रहा हो, जो अपने हाथ से अपनी मृत्यु का सामान तैयार करे? इसके अतिरिक्त कौन ऐसी जाति हो सकती है जो सहर्ष प्रति वर्ष अपने में से एक-एक वयस्क बलिदान के लिए इन हजारों सालों में देती आई हो? बेडा जाति भी आखिर मानव ही है, कभी तो उसने विद्रोह किया होता और आत्मघात करने से इन्कार किया होता। इस संबंध में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। भूंडा अनुष्ठान में वल्लौत्तर का टूटना बहुत बड़ा अपशकुन समझा जाता है। रस्सी टूट जाए तो सम्पूर्ण यज्ञ असफल गिना जाता है और तुरन्त दूसरे भूंडे का आयोजन वांछित होता है। निरमंड में सन् 1962 में बकरा चढ़ाने से पहले ही रस्सी टूट गई थी। तभी दूसरा भूंडा करने के लिए देवी-देवताओं ने जोर डाल दिया था, लेकिन उसका आयोजन 19 वर्षों बाद सन् 1981 में ही हो पाया था। कहा जा सकता है कि भूंडा यज्ञ में नर-वध नहीं, नर का केवल सांकेतिक बलिदान अपेक्षित है। उसी तरह जैसा वैदिक युग में बलि दिए गए मनुष्य और पशु की अस्थियां चुन कर ऋषि मन्त्रों द्वारा उन्हें पुनर्जीवित कर देते थे। इस अर्थ में वह बलि भी सांकेतिक हुआ करती थी।

काईका

इसी तरह के सांकेतिक बलिदान देने वाली एक दूसरी जाति है। इसका नाम नौड़ है। नौड़ों के कुछ परिवार मंडी और कुल्लू क्षेत्र में रहते हैं। ये नौड़ काईका नामक समारोह में मुख्य भूमिका निभाते हैं। काईका दो-तीन स्थानों पर आदरपुरख, फुंगनी देवी और हुरंग के नारण के निमित्त प्राय: पांच वर्षों में एक बार किया जाता है। इसमें नौड़ न केवल मनुष्यों के बल्कि नारायण के दुष्कृत्यों और पापों के दुष्परिणाम को दूर करता है। वह देवता व मनुष्य पर, जिसका भी पाप-मोचन करना होता है, अन्न के दाने फेंकता जाता है, मन्त्र पढ़ता रहता है और जब देवता और मानव पापमुक्त हो जाते हैं, तो मन्दिर का पुजारी स्वयं नौड़ पर पवित्र जल और भेखल के पत्ते फेंकता है। नौड़ मृतक की तरह जमीन पर गिर पड़ता है। लोग उसे एक अर्थी पर डाल कर मन्दिर से बाहर निकालते हैं। वाद्य यंत्र शोक ध्वनि में बजते हैं, अर्थी पर घास और वृक्षों की छोटी-छोटी टहनियां फेंकी जाती हैं और साथ में लोग कहते जाते हैं कि उनके सभी पाप, दोष, उसमें लग जाएं। यह अर्थी गांव के चारों ओर फिराई जाती है। वापसी पर मन्दिर में देवता का गूर नौड़ के पुनर्जीवन की प्रार्थना करता है। यह प्रार्थना घंटे आध घंटे में स्वीकृत हो जाती है और मृत नौड़ जीवित हो जाता है।

अयज्ञिक बलि

लेकिन कई बार यह बलिदान इतना आसान नहीं होता था। अनेक गाथाएं ऐसी हैं जिनमें यह उल्लेख हुआ है कि सार्वजनिक कल्याण अथवा राजा व राज्य पर से किसी कष्ट के निवारण के लिए मानव-बलि दी गई। कांगड़ा में रूल्ह-कुल्ह का आख्यान उसी प्रकार के एक बलिदान का उल्लेख करता है। कहा जाता है कि एक समय हल्दून में राजा ने एक कुल्ह खुदवाई, लेकिन उसमें पानी नहीं आया और नगर में पीने के पानी की व्यवस्था नहीं हो पाई। राजा ने स्वप्न देखा, कुल्ह मानव-बलि मांगती है। राजा ने अपनी कुलबहू को बलि के लिए चुना और उसे जीवित दीवार में चुनवा दिया। बेचारी हृदयविदारक करुण क्रन्दन करती रही, अनुनय-विनय करती रही, अपने शिशु की दुहाई दी, लेकिन उसकी एक न सुनी गई। मानव-बलि कतिपय देवियों को भी प्रिय है। भीमाकाली के नाम पर होने वाले उद्यापन यज्ञ में भी, कहा जाता है, नर बलि दी जाती रही है।

अन्य जीवों की बलि आम रिवाज है। विशुद्ध वैष्णव देवताओं को छोड़कर शायद ही कोई देवी-देवता हो जिसे बलि से लगाव न हो। सभी बलिदान में रुचि रखते हैं। शिवरात्रि पर शिव उत्सव में तब शरीक होता है जब उसे यह आश्वासन मिलता है कि उचित संख्या में 'खाडू बकरों' का प्रबन्ध कर लिया गया है। कोई भी संस्कार, त्योहार या उत्सव हो, पर्व हो, मेला हो या जातर, भूमि-पूजन, काली-पूजन, गृह-पूजन हो, नए मकान की नींव या छत पड़ गई हो, कृषि का कोई महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ हो या मनौती हो, बकरे या मेढ़े की बलि आवश्यक मानी जाती है। बाबा द्योट सिद्ध से वर मांगना हो या सुखना पूरी हुई हो, तो उसे कहा जाता है :

> बाबा तेरी बाटड़िया मींढे जोड़ियां लई ने आए
> तां दिलां दियां सुखनां पूरियां करी चले।"

कोई मनौती मनानी हो :

> "पौंजा बीरा बे देणां बौकरु भाठी
> हुई लोड़ी मन्ने रे पूरी।"

इस प्रदेश में लगता है बलि न दिए जाने से दैवी शक्ति तुष्ट हो ही नहीं सकती है। यहां तक कि परम वैष्णव रघुनाथ भी दशहरे के दिनों में भैंसों तक की बलि स्वीकार कर लेता है, कमअजकम उसकी बलि को देखता तो है। वैष्णवी जालपा और वैदिकी उषा (उखा) भी बलि चाहती रही हैं।

यह भी जरूरी नहीं कि बलि देने के लिए कोई उपयुक्त अवसर होना चाहिए, या देवस्थान ही हो। जरूरी केवल यह है कि बकरा या खाडू सुलभ हो। जब मांस खाने की इच्छा हुई, दो-चार परिवार मिलकर या एक ही परिवार बकरे को

अपने कुलदेवता को अर्पण कर उसका वध कर देते हैं और मांस प्राप्त करते हैं। हां, समुचित रूप से देव-अर्पण के बिना शायद ही कोई बकरा काटा जाता हो। समर्पण के लिए अमूमन नर होता है, और इसकी विधि बड़ी सरल है। बकरे को कमरे या खल्यान के बीच खड़ा कर दिया जाता है। एक व्यक्ति उसके दोनों कानों में अक्षत पुष्प और कुछ जल भरता है, उसकी पीठ पर भी दो-तीन जगह अच्छा-खासा पानी डाला जाता है। जब बकरा फूल, चावल और पानी छिड़क बाहर निकालने के लिए अपने सारे शरीर को हिलाता है, तो समझा यह जाता है कि उसकी बलि देवता को स्वीकार है। बलि प्राप्त करने वाले देवता की 'जय' की जाती है। इससे देवता भी प्रसन्न और लोग भी।

इस प्रकार हमने देखा कि बलि के प्रति मोह हमारे पूर्वज सरस्वती-सिन्धु लोगों से हमें मिला है। यह उन लोगों की देन है। लेकिन वे लोग थे कौन ?

तीसरा अध्याय

जातियां

इतिहासकार, जनवैज्ञानिक, और पुरातत्त्ववेत्ता इस बात पर एकमत नहीं हो पा रहे हैं, कि वे लोग कौन थे ? कहां से आए थे ? क्यों आए थे ? और कब आए थे ? कई तरह के अनुमान लगाए गए और अनेक विकल्प प्रस्तुत किए गए। मोटे तौर पर इन विद्वानों के तीन वर्ग हैं। एक वर्ग उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य विद्वानों तथा उनसे प्रभावित भारतीय विद्वानों का, दूसरा बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों का, तथा तीसरा वर्ग प्राचीन भारतीय वाङ्मय के विद्वानों का है।

वर्गीकरण

शरीर के गठन, चमड़ी के रंग और भाषा को आधार मानकर पहले वर्ग के लोगों का कहना है कि भारत में मुख्य चार नस्लें हैं—नीग्रो, द्रविड़, आस्ट्रिक या आग्नेय और आर्य। भारत में सबसे पहले नीग्रो जाति के लोग आए थे, उनके बाद आस्ट्रिक लोग आए। वनों में रहने वाली भारत में आज जितनी जातियां हैं, वे मुख्यत: उन्हीं लोगों की सन्तान हैं। आस्ट्रिकों के बाद कई दलों में रोम सागर के पास से भूमध्य सागरीय लोग आए, जिन्होंने इस देश में द्रविड़ सभ्यता की स्थापना की। आर्य सबसे बाद आए। उनके दल भी अलग-अलग समय पर भारत में प्रवेश करते रहे। आर्यों का पिछला दल, नार्डिक, बड़ा ही कुशल और चिन्तनशील था। इसी के आगमन के बाद देश में विभिन्न संस्कृतियों के बीच समन्वय का क्रम आरंभ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप आर्य या हिन्दू-संस्कृति का जन्म हुआ। इस तरह से इन विद्वानों के अनुसार भारत में अपनी भूमि से जन्मा कोई आदि मानव नहीं है और यहां जो भी लोग हैं, उनके पूर्वज बाहर से ही आए हैं, और वे भी मुख्यत: भूमध्य सागरीय तट के आस-पास से ही, चाहे आल्पस क्षेत्र से, या कैस्पीयन सागर के निकटवर्ती मध्य ऐशिया से चाहे अफ्रीका में इथियोपिया से आए कहे जाते हैं।

एक अन्य जनवैज्ञानिक की मान्यता है कि बाहर से आने वाली छ: जातियां

थीं, जिनमें निषाद, द्रविड़, किरात और आर्य प्रमुख थीं। इथियोपिया से आए नीग्रो लोगों की अलग सत्ता नहीं रह पाई है। किंचित् मात्र निशान दक्षिणी भारत की आदिम जातियों तथा असम की नागा जाति में मिलता है। कोल, भील, मुंडा आदि उपजातियां निषाद् जाति के अन्तर्गत आती हैं। निषादों को ही आस्ट्रिक अथवा आग्नेय कहा जाता है। डा. सुनीतिकुमार-चैटर्जी के अनुसार "हिन्दुस्तान की जनसंख्या का एक बड़ा भाग इन्हीं निषाद लोगों का है।"[1] कुछ लोगों का यह भी मानना है कि "ये निषाद वास्तव में द्रविड़ों की ही एक शाखा थी। यह भी कहा जाता है कि जब आर्य भारत में आए, तब यहां आस्ट्रिक भाषा ही प्रचलित थी, क्योंकि ये लोग सिन्धु की तराई में विद्यमान थे। हमारे देश में जो भी वनवासी जातियां हैं, संभावना यही है कि वे आग्नेय खानदान की हैं और उनकी भाषाओं का भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध आग्नेय भाषा-समूह से है।"[2]

हिमालय के दक्षिणी पठार पर उत्तर की ओर से एक और जाति आई, जिसे संस्कृत साहित्य में किरात कहा गया है। इसी बीच पश्चिम से इस देश में एक दूसरी जाति ने प्रवेश किया। इसे द्रविड़ कहा जाता है और इसके आगमन के समय का ईसा से 5,500 वर्ष पूर्व का अनुमान लगाया जाता है। कहा यह जाता है कि इन द्रविड़ों में आदि-भूमध्य-सागरीय, अन्त:-भूमध्य-सागरीय, पौर्वात्य तथा आर्मेनोइड समूहों का बाहुल्य था। इनमें भी पूर्वी भूमध्य सागरीय लोगों की अधिकता थी। आज की द्रविड़ भाषाएं इन लोगों की ही देन हैं।

पश्चिमी द्वार से प्रविष्ट होने के कारण द्रविड़ पहले तो सिन्ध और पंजाब में आ बसे, जहां उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाए, जिनमें ईंटों से बने इकमंजिला, दो-मंजिला मकान थे, पक्की गलियां थीं और पानी के निकास के लिए भूमि के नीचे नालियां थीं। कालान्तर में ये द्रविड़ देश के दक्षिणी और पश्चिमी भागों की ओर बढ़े और उत्तर में गांगेय प्रदेश में भी छा गए। "प्रतीत होता है कि तब तक उन्होंने निषादों पर राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। द्रविड़ अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ही रहे थे कि एक दूसरी जाति भारत में आ धमकी। नए आने वाले लोग आर्य थे।"[3]

आर्य

ये आर्य कौन थे और कहां से आए, इस पर विद्वानों में तीव्र मतभेद है।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय में उद्धृत
2. संस्कृति के चार अध्याय
3. संस्कृति के चार अध्याय

कुछ पंडित मानते हैं कि ये लोग उत्तरी ध्रुव से आए,[1] कुछ दूसरे कहते हैं कि ये ईरान के रहने वाले थे। विद्वानों का एक ऐसा वर्ग भी है जो मानता है कि आर्यों का आदि स्थान मध्य एशिया या दक्षिणी रूस था।

भारत में इन सभी जातियों के बाहर से आने का अनुमान लगाने का एक कारण पाश्चात्य पंडितों का बाइबल और नवजागरण के दौरान ग्रीक साहित्य का गहन अध्ययन और अनुशीलन भी है। बाइबल की कथाओं में सृष्टि जन्म, मानव उत्पत्ति की कथायें भी हैं। दूसरे, स्वयं ईसाई धर्म भूमध्य सागरीय एशियाई क्षेत्र में जन्मा। इससे विद्वानों का सारा दृष्टिकोण प्रभावित हुआ। इसके इलावा एक यह कारण भी था कि अठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी तक मिस्र, रोम, ग्रीक व सुमेरियन सभ्यताओं के अवशेष मिलने लग पड़े थे। इन खोजों से इस विचार को पुष्टि मिली कि आदि मानव व आदि जातियों ने यूरोप, एशिया एवं अफ्रीका के उन क्षेत्रों में जन्म लिया होगा जो भूमध्य सागर के निकट हैं। इस अनुमान से विश्व के सब तरह के और सब रंगों के लोगों की व्याख्या भी हो जाती थी। आर्यों के सन्दर्भ मे यह अनुमान इसलिए भी जोर पकड़ गया कि उत्तरी भारत से लेकर पश्चिम में आयर्लैंड तक बोली जाने वाली प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं के शब्दों से संस्कृत शब्दों की समानता पाई जाती है। इससे यह समझा जाने लगा कि अवश्य ही आयर्लैंड से लेकर भारत तक के आर्य लोग एक ही वंश से निकले होंगे और बहुत पुरातन काल में वे एक ही स्थान में रहते रहे होंगे, किन्तु ज्यों-ज्यों जीवन-यापन में कठिनाई होने लगी, वे मूल स्थान को छोड़ दूसरी जगह जाकर आबाद होने लगे। उनकी एक शाखा यूरोप की ओर गई और दूसरी ईरान से होते हुए भारत आ गई। एक टुकड़ी ईरान में ही रह गई। इसी कारण से भाषा और स्वभाव की एकता ईरानी और भारतीय आर्यों में अब भी काफी ज्यादा है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि आर्य भारत में ही पैदा हुए। डा० अविनाशचन्द्र दत्त और डा० सम्पूर्णानन्द आर्यों का मूल स्थान काश्मीर और पंजाब बताते हैं। डा० गंगानाथ झा का कहना है कि आर्यों का मूल स्थान ब्रह्मर्षि देश था। डा० डी० एस० त्रिवेदी उन्हें देविका नदी के किनारे मुलतान का मानते हैं और श्री एल० डी० कल्ला हिमालय की उपत्यका और काश्मीर को उनका आदि स्थान मानते हैं। डा० राजबली पांडेय आर्यों का आदि निवास-स्थान मध्य देश अर्थात् उत्तर प्रदेश और बिहार कहते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार है कि आर्यों का मूल स्थान तिब्बत था।[2]

आर्यों के प्रति इस जिज्ञासा का समाधान दो सूत्रों से किया जा सकता है।

---

1. बाल गंगाधर तिलक
2. संस्कृति के चार अध्याय

एक सूत्र है सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र में प्राप्त अवशेष और दूसरा भारत का प्राचीन वैदिक व वेदेतर साहित्य। पिछले 60 वर्षों में, अर्थात् मोहनजोदड़ो के उत्खनन के पश्चात्, सरस्वती-सिन्धु भूभाग में की गई खोजों से बड़े पैमाने पर अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनकी विधिवत् निरख-परख की जा रही है। इन नगरों में मिले अस्थि-पंजरों का परीक्षण करने पर कुछ पाश्चात्य जनवैज्ञानिक यह मानते हैं कि सारस्वत-सैंधव लोगों में प्रोटो-आस्ट्रेलियाई, भूमध्यसागरीय, मंगोल और आल्पस जातियों के तत्व पाए जाते हैं। इससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के जन्मदाता और उपभोक्ता सुमेरियाई, पणी, असुर, व्रात्ई, बाल्हीक और दास थे। कार्नेल यूनिवर्सिटी के केनथ्य केनेडी[1] के शब्दों में "कतिपय जनवैज्ञानिक यह दावा करते हैं कि ये लोग प्रोटोनार्डिक, ईरानी-अफगानी, वेड्डोइड, प्रोटोआस्ट्रोलोइड, अर्ध-आल्पस, नीग्रो, प्रोटोभूमध्यसागरीय, मंगोल, पूर्व-द्रविड़, द्रविड़, शक-द्रविड़, तुर्क-पारसी, पारसी-कैस्पीयन, पूर्व मंगोल और आर्य हैं।" अर्थात् संसार में नस्लों की जितनी किस्में हो सकती हैं, सभी सरस्वती-सिन्धु मैदान में थीं। उनके इस निष्कर्ष से यह मालूम पड़ता है कि इस क्षेत्र में यहाँ का कोई आदमी रहा ही नहीं।

यही हालत रंगों के आधार पर जातियों के वर्गीकरण से सामने आती है। रंगों की दृष्टि से जातियों को तीन नस्लों में बांटा जाता है—गोरे, पीले और काले। गोरे, जिन्हें काकेशियन (कोह काफ) का नाम दिया गया है, दक्षिणी रूस के मूल निवासी माने जाते हैं। पीले मंगोल जाति के और काले लोगों को इथियोपियन परिवार का कहा जाता है। इन तीनों तरह के लोगों के प्रतिनिधि सरस्वती-सिन्धु अवशेषों में पाए गए हैं। और यदि भाषा के आधार को सामने रखा जाए, तब भी शायद तीनों वर्ग—आस्ट्रिक, द्रविड़ और हिन्द-यूरोपीय—यहां मिलते हैं। लेकिन केनेडी[2] का यह कहना है कि "दांत और दाढ़ों पर दबाव की जांच कर नस्लों के निर्णय करने की नई पद्धति से यह सिद्ध होता है कि सिन्धु लोग दक्षिण प्रायद्वीप के लोग नहीं थे, अर्थात् वे किसी भी तरह द्रविड़ों के वंशज नहीं थे। इसके इलावा इस क्षेत्र की जनसंख्या में एकदम परिवर्तन नहीं आया, जैसा कि कुछ विद्वान दावा करते आए हैं कि आर्यों ने आकर यहां के नगरों को नष्ट-भ्रष्ट किया और जनसंख्या का सारा हुलिया ही बदल दिया।" केनेडी बल देकर कहते हैं कि सिन्धु सभ्यता दक्षिण भारत अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों की उपलब्धि नहीं है।

सिन्धु संस्कृति के मूल आधार का विश्लेषण करते हुए रेडफील्ड[3] ने कहा है

1. हड़प्पन सिविलाइजेशन
2. वही
3. वही

कि "यह संस्कृति देशज है और पूर्ववर्ती लोक से उपजी है। यह स्पष्टतः भारतीय है और इसी पर आधुनिक संस्कृति टिकी है।" फिर भी चन्द एक विद्वान ऐसे हैं जो इस निष्कर्ष को एकदम झुठला तो नहीं पाते, पर किन्तु-परन्तु करते हुए कहते हैं कि भले ही यह संस्कृति देशज हो, लेकिन बाह्य प्रोत्साहन इसे जरूर मिला, तभी यह वह स्तर पा सकी, जिस पर हम आज इसे देखते हैं। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर अलचिन[1] का आग्रह है कि इस सभ्यता के बनाने में बाहर से आए लोगों और उनके विचारों का योगदान भी है, भले ही इसका वास्तविक विकास भारत भूमि की गतिशील सामाजिक एवं आर्थिक पद्धति के कारण हुआ हो। किन्तु यह बात वह भी स्वीकार करता है कि इस संस्कृति का मूल भारत के सामान्य और शिष्ट, दोनों वर्गों के लोगों के जीवन में देखा जा सकता है।

जहां तक आर्यों का प्रश्न है, केनेडी सरीखे विद्वानों का कथन है कि वे चाहे वैदिक युग से पहले भारत आए, जब संस्कृत उनकी भाषा नहीं थी, चाहे ऋग्वेद के आरंभिक दिनों में इस देश में आए, वे वैदिक आर्यों के पूर्वज थे और सिन्धु संस्कृति के जन्मदाताओं में से थे। उनका नस्लीय रूप जैसा भी रहा हो, वे भारत के इस उत्तर और उत्तर-पश्चिमी भूभाग (सप्तसिन्धु) में हजारों साल पहले से रहते आए थे। यहीं रहकर ही समय बीत जाने पर उन्होंने उस हड़प्पन संस्कृति को जन्म दिया था। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्य अत्यन्त प्राचीन काल से सप्त-सिन्धु में रहते आए हैं और वे सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के जन्मदाताओं में से हैं।[2] अवशेषों, अस्थि-पंजरों तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर डा० एच० डी० सांकलिया भी यह मानते हैं कि सरस्वती-सिन्धु संस्कृति के रचयिताओं में आर्य भी थे और वे यहीं के निवासी थे।

इस विवेचन से यह साफ जाहिर है कि सप्तसिन्धु प्रदेश में आर्य नाम की कोई जाति तीन-चार बार, अन्तराल से घोड़े दौड़ाती हुई नहीं आई और न ही वह इस क्षेत्र के वैभवशाली नगरों को रौंदती हुई आगे बढ़ी। जैसा कि उत्खनन से मालूम हो रहा है, वह नागरिक सभ्यता तो सागर से हिमालय तक फैली हुई थी। सप्तसिन्धु में उन लोगों की हजारों की संख्या में बस्तियां थीं, जो सर्वत्र फैली थीं, यह नहीं कि दूर-दूर केवल कतिपय नगर ही रहे हों, जिन पर अधिकार प्राप्त कर आर्य समूचे भूखंड के स्वामी बन बैठे हों। वे न तो कहीं से आ धमके, और न ही उन्होंने खूनखराबा कर स्थानीय लोगों को मार भगाया।

हिमाचल प्रदेश सप्तसिन्धु का अभिन्न अंग है। वस्तुतः सतलुज-व्यास के बीच का सारा इलाका, दोनों के संगम से स्रोत तक, चिरकाल तक एक इकाई रहा है।

1. हड़प्पन सिविलाइज़ेशन
2. सर्वाइविंग हड़प्पन सिविलाइज़ेशन

यों भी इस प्रदेश में सरस्वती, सतलुज और व्यास की उपत्यकाओं में जगह-जगह सारस्वत-सैन्धवों की बस्तियां थीं। इसलिए जातीय रूप में जो स्थिति सप्तसिन्धु में अन्यत्र थी, वही यहां भी थी।

वेदों में वर्णित जातियां

भारत के प्राचीन साहित्य में यह कहीं संकेत तक भी नहीं है कि सप्तसिन्धु के लोग कहीं बाहर से आए थे। वस्तुत: यह चर्चा का विषय ही नहीं था। वैदिक वाङ्मय यह मानकर चला है कि मानव का जन्म यहीं हुआ है और यहां पर ही उसका विकास भी हुआ है। उसमें विभिन्न जातियों के नाम आए, लेकिन एक कुटुम्ब के सदस्यों के नाम की तरह ही आए हैं। मानव की आरंभिक स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक थी। मनुष्य तब बहुत ही ऊंचे बौद्धिक एवं सामाजिक धरातल पर स्थित था। यही नहीं, उसमें और देवताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था, भाईचारा और सौहार्द्र था। माना यह जाता है कि जब पृथ्वी बन चुकी, तो उस पर ब्रह्मा, सप्तर्षि और स्वयंभू मनु आदि योगज शरीरधारी देव उत्पन्न हुए। उनके पश्चात् 21 प्रजापति जन्मे। उन प्रजापतियों में से कश्यप प्रजापति की सन्तान दक्ष-पुत्री दिति से दैत्य उत्पन्न हुए, जिन्हें दैव्य या असुर भी कहा जाता है।

वेदों में जिन लोगों का बहुत बार जिकर आता है, वे हैं देव, असुर, पित्तर, गंधर्व और राक्षस। भगवद्दत्त[1] का कहना है कि "देव ही नहीं, गन्धर्व, पित्तर, असुर और राक्षस भी वैदिक कर्मकांड में गति रखते थे।" इस दृष्टि से प्राचीनतम ये सभी जातियां आर्य ही थी। उनमें आपस में संघर्ष होते रहे। राजाओं का दासों से, दस्युओं से तथा राक्षसों से संघर्ष हुआ और अनेक बार आपस में ही युद्ध छिड़ गया। ऋग्वैदिक युगीन दशराज्ञ और बाद का महाभारत इन आर्यों के गृहयुद्ध ही थे। शम्बर-दिवोदास संघर्ष आर्यों और दानुओं का था। रामायण में वर्णित राम-रावण युद्ध आर्यों और राक्षसों के बीच हुआ। किन्तु राक्षस भी देव वंश के थे। शम्बर, जिसे दैत्य, असुर, नाग, अहि, दानुपुत्र आदि विशेषणों से पुकारा गया है, कश्यप प्रजापति का वंशज ही था। देव और असुर तो भाई-भाई थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक वृत्तान्त का उल्लेख है जिसके अनुसार देव और असुर युद्ध के लिए तैयार खड़े थे। प्रजापति कश्यप ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र को छिपा दिया कि कहीं बलवान असुर उसे मार न डालें। उधर कयाधू-सुत प्रह्लाद ने अपने पुत्र विरोचन को छिपा दिया, ताकि उसे देव न मार डालें। प्रह्लाद और विरोचन भी कश्यप के वंश के थे। स्वयं इन्द्र, विरोचन के दादा हिरणाकशिपु का भाई था। छांदोग्य

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग

उपनिषद् में इन्द्र और विरोचन का प्रजापति के निकट ब्रह्मचर्यवास का उल्लेख है।

पंचजन

वेद में सामान्य रूप से इन्हीं पंचजनों का उल्लेख है। परम्परा से अश्वमेध यज्ञ के अन्त में अनेक जनों का स्मरण आवश्यक कहा गया है। इनमें तथा निरुक्त[2] में पंचजनों की व्याख्या के अनुसार देवों के साथ गन्धर्व, पित्तर, असुर और राक्षसों की भी गणना है। देवों को हम आर्य मानते हैं, तो बाकियों को अनार्य कहने का सुदृढ़ आधार नहीं है। केवल बहुत बाद में ही राक्षस व असुर दुरात्मा माने गए।

भगवद्दत पित्तरों को आर्यों की ईरानी शाखा मानता है और कहता है कि वे भी भृगु की सन्तान में से थे। उनका प्रथम राजा मनु का छोटा भाई यम था। मैत्रायणी संहिता[3] के अनुसार मनु और यम विवस्वान् आदित्य के पुत्र थे। कालोपरान्त ये देव विरोधी बन गए। पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता के यज्न 12 में लिखा है : "मैं देव रहना समाप्त करता हूं। मैं जरदुश्त में श्रद्धा करता हूं···मैं देव का शत्रु और अहुर का भक्त हूं।" यह अहुर असुर ही है। इसी तरह पारसी ग्रन्थों का 'अजिदाहक' भारतीय साहित्य का अहिदानव है। अहिदानव वृत्र का दूसरा नाम है। इस वृत्र को इन्द्र ने मारा था। वृत्र का पालनपोषण दनू ने किया था। दनू के पुत्र पुलोम की बेटी शची इन्द्र की पत्नी थी। इस प्रकार ये दानव, असुर और पित्तर इन्द्र के संबंधी थे। पुलोम को राक्षस की संज्ञा भी दी गई है। उसकी व्याहिता पत्नी पुलोमा को भृगु ने अपनी पत्नी बना डाला था।

इससे यह प्रतीत होता है कि आरंभ में एक ही जाति थी। उसमें आचार, विचार का आन्तरिक संघर्ष चलता रहा। जो जहां जीता वह देव बना रहा, जो हारा वह देवत्व से गिरकर अदेव बन गया। ईरान में अहुर (असुर) ईश्वर बना रहा, लेकिर भारत में वह दैत्य, दानव, राक्षस के रूप में देव विरोधी घोषित कर दिया गया और उसमें उन सब दुर्गुणों का आरोप कर दिया गया जो समाज विहित थे।

यह तबदीली कब आई ? क्या सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के जन्म से पूर्व ही जातिगत भेद स्थायी हो गया था, या इस सभ्यता के आरंभिक दिनों में यह स्थिति उत्पन्न हुई, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। लेकिन एक बात सच है कि यह संघर्ष काफी लम्बा और भयंकर रहा होगा। जातीय स्वरूप की इस उथल-

---

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास
2. निरुक्त (3/8)
3. मैं० सं० (1/6/12)

पुथल ने जन-मानस को झकझोर दिया होगा और तब से आज तक भारतीय मानव के अवचेतन में यह प्रतिबिंबित है। उसकी परम्पराओं और अनुश्रुतियों में आज भी उसकी गूंज सुनाई देती है।

उस युग में हिमाचल प्रदेश के शिवालिकीय क्षेत्र में तो बस्तियां रही होंगी, किन्तु भीतर केवल कुछ एक स्थानों पर ही लोग रहते होंगे। धीरे-धीरे उन भीतरी लोगों का सम्पर्क बाहर से कटता रहा। यह सम्पर्क दोबारा तब जुड़ा जब सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र से जमदग्नि और परशुराम के नेतृत्व में उनके भाई-बन्द नई बस्तियां बसाने के लिए उपयुक्त भूमि की खोज में आए। लेकिन जातीय थाथी परम्पराओं और अनुश्रुतियों के रूप में दोनों वर्गों में सुरक्षित थी।

राक्षस

यह स्वाभाविक था कि हिमाचल प्रदेश में राक्षसों से संबंधित परम्पराओं की प्रतिध्वनि हमें आज भी सुनाई दे। शायद ही कोई गांव हो, जहां किसी न किसी स्थानीय राक्षस की कथा की चर्चा न होती हो। इन कथाओं, गाथाओं और अनुश्रुतियों में कहीं वह राक्षस राजा दीखता है, कहीं कोई और बलशाली अगुआ। मगर मुख्यत: वह स्वेच्छाचारी, क्रूर, अमानुषिक, घृणित व डरावना पात्र बनकर ही सामने आता है। ऐसा आभास-सा होने लगता है कि राक्षस शरीरधारी जीव थे और यहां रहते आए थे। उनके अपने अधिकार व प्रभाव क्षेत्र थे।

बाणासुर व सागू

इनमें सबसे प्रमुख विरोचन पौत्र और बलि पुत्र बाणासुर था। बाणासुर के राज्य का विस्तार लगभग सारे हिमाचल में था। किसी गाथा में वह सेनानायक व मन्त्री चित्रित है, और कहीं वह स्वयं शासक है। सामान्यत: उसे स्वेच्छाचारी न दिखाकर सदाचारी, देशप्रेमी और धार्मिक वृत्ति का पुरुष आंका गया है। किन्नौर में उसकी याद इसलिए ताजा है कि वह मानसरोवर से सतलुज को लिवा लाया था। रामपुर बुशैहर में उसकी बसाई नगरी शोणितपुर (सराहन) अभी तक कायम है। कुल्लू में उसने जमदग्नि को अपना प्रभाव जमाने की इजाजत नहीं दी और चन्द्रखणी तथा मलाणा के स्थानों पर उसने जमदग्नि से संघर्ष किया। उसी का समकालीन सागू राक्स रहा है। संभवत: सागू स्पिति और लाहुल का शासक था। बाणासुर से पहले सागू ने ही स्पिति और मनाली में जमदग्नि का घोर विरोध किया था। संघर्ष इतना तीखा था कि जमदग्नि को बन्दी बना दिया गया और उसके साथ जो देव थे, उन्हें तितर-बितर कर दिया गया। कुल्लू में ऊपरी ब्यास उपत्यका का फागली मेला शायद इसी टक्कर की यादगार हो। इस मेले में एक युद्ध चित्रित होता है जिसमें एक पक्ष देवताओं का और विरोधी पक्ष राक्षसों

का होता है। संघर्ष के उपरान्त दोनों पक्ष समझौता कर लेते हैं। बाद में उन सभी अस्त्र-शस्त्रों की प्रदर्शनी की जाती है जिन्हें युद्ध में प्रयुक्त किया गया था। कुछ विशेष लोग घास-फूस का बाना धारण कर मुंह पर प्राचीन समय के लकड़ी के राक्षसों के मुखौटे धारण कर नाच करते हैं।[1]

टुंडी, हिडिम्ब व किरमत

लाहूल में टुंडी राक्स का वर्णन आता है। चन्द्रभगा के संगम पर स्थित तांदी ग्राम उसका गढ़ माना जाता रहा है। लोक चेतना में इस तुंडी राक्स का प्रभाव सारे प्रदेश में फैला है। मनाली में डूंगरी की हिडिम्बा तो विख्यात दानवी है, जिसने अपने बलवान शासक भाई हिडिम्ब के आदेश की अवहेलना कर भीम से विवाह कर लिया और घटोत्कच्छ को जन्म दिया था। बाणासुर की तरह ही हिडिम्ब बड़ा समर्थ राक्षस राजा हुआ है, जिसकी राज्य चम्बा से लेकर गढ़वाल तक माना जाता है। टौंस और पब्बर नदियों के बीच के इलाके में किरमत दाणू का महत्त्व रहा। लेकिन किरमत में पाशविक वृत्ति की ज्यादती थी, इसीलिए उससे निजात दिलाने के लिए महासू देवता को स्वयं आना पड़ा। प्रदेश में सैकड़ों दूसरे राक्षसों का उल्लेख है किन्तु वह स्थानीय देवी-देवताओं के चरिताख्यान से संबंधित हैं, कि किसे प्रकार इन राक्षसों पर विजय पाकर उन देवताओं ने अपनी पूजा-अर्चना कराई। बीज रूप से इन आख्यानों में भी राक्षस शासक ही मालूम पड़ते हैं।

सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र से दूर पड़ जाने के कारण असुरों, दानवों और राक्षसों के बाकी लोगों के साथ बन्धन ढीले पड़ गए होंगे। वे वैदिक परम्परा को भूलते गए। महाभारत के अनुशासन पर्व में एक आख्यान आया है, जिसमें कहा गया है कि कौशल देश के राजा सौदास अश्वमेध आदि यज्ञों के द्वारा सत्कृत होकर भी महर्षि वसिष्ठ के शाप-वश मनुष्य-भक्षी राक्षस हुए। हिमाचल में भी अनुश्रुतियां कहती हैं कि कई बार इन राक्स शासकों को मानव-मांस प्रिय लगता था और वे मनुष्य खा जाते थे। बलि आर्य देते ही थे। वे नरमेध भी करते थे। कालोपरान्त शायद इन लोगों ने मानव-मांस को भी बलि का प्रसाद समझकर खाना शुरू किया हो और परिणाम में मनुष्य-भक्षी राक्षस कहलाए। अन्यथा राक्षस भी यज्ञ करते थे, उनके पास भी मंत्र थे। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रमाण से महान विद्वान वृहस्पति के भाई सुधन्वा ने विरोचन से 'ब्राह्मण का श्रेष्ठय' विषय पर एक शर्त लगा रखी थी। इन्हीं राक्षसों का एक पुरुष त्रिशिरा विश्वरूप वेद मन्त्रों का ऋषि

---

1. कुलूत देश की कहानी

हुआ है।[1]

राक्षस और असुर तो हिमाचल प्रदेश के सन्दर्भ में एक ही जन थे। पित्तरों का कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है। मृत पूर्वजों को पित्तर मानने की परम्परा भले ही सारे क्षेत्र में है। एक रोचक बात यह है कि पितरीपक्ष को कहीं-कहीं 'कनैगत' कहा जाता है। कनैगत का शायद कनैत से कोई संबंध हो। यदि इस प्रकार का कोई रिश्ता खोज करने पर मालूम पड़ जाए, तो इस प्रदेश की जन-संख्या के एक बहुत बड़े वर्ग, कनैतों, की समस्या का समाधान हो जाता है और वे उस प्राचीन जन की सन्तान सिद्ध हो जाते हैं जो सारस्वत-सैन्धवों की नई बस्तियों से पहले यहां थे।

गन्धर्व

प्रदेश की अपनी लोक चेतना और परम्परा में गन्धर्वों का तो जिकर नहीं, लेकिन बाहरी साक्षी के आधार पर इस बात को मानने में भी संकोच नहीं होता कि गन्धर्वों का हिमाचली क्षेत्र से कुछ न कुछ रिश्ता जरूर रहा है। सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध धर्म प्रचारकों का एक दल उत्तर में गन्धर्व देश में भी गया था। वैदिक वाङ्मय में गन्धर्वों का जिकर जमदग्नि पत्नी रेणुका और गन्धर्वराज चित्रगुप्त के परस्पर आकर्षण के सन्दर्भ में आता है। जमदग्नि का आश्रम रेणुका झील के आसपास ही था, अत: यह घटना वहीं कहीं घटी होगी।

यक्ष

गन्धर्वों के साथ यक्षों और किन्नरों का भी उल्लेख आता है। वैदिक साहित्य में यक्षों को 'ब्रह्म' कहा गया है और परवर्ती साहित्य में उनके लिए 'बीर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। हिमाचल के पूर्वी भागों में 'लांकडा बीर' के कई आख्यान हैं। उनमें तो वह कोई भयानक जीव-सा लगता है। उसका वास गहन जंगलों, धारों पर माना जाता है। संस्कृत साहित्य के अनुसार यक्षों की आदिम बस्ती उत्तर में अलकापुरी थी, कालिदास ने मेघ को दूत बनाकर यहीं सन्देश भिजवाया था। यह अलकापुरी संभवत: गढ़वाल कुमाऊं क्षेत्र में रही होगी। यह संभव भी लगता है क्योंकि गढ़वाल की सीमा से लगते हिमाचल के डोडराक्वार इलाका का देवता यक्षराज है, जिसे क्वारझाख (क्वार यक्ष) कहा जाता है। यह क्वारझाख इन लोगों के लिए राजा भी है, देवता भी। उनका सम्पूर्ण जीवन इसी के इर्द-गिर्द घूमता है। देवता को संगीत और नृत्य का खास शौक है। इसलिए चाहे सर्दी

---

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास

हो या गर्मी, वर्ष के बारहों महीने इसके मन्दिर के प्रांगण में नृत्य होता रहता है।

किन्नर

यह आम तौर पर स्वीकार किया जा रहा है कि भारत में हिमाचल प्रदेश ही ऐसा क्षेत्र है जहां किन्नर मौजूद हैं। प्रदेश की पूर्वी और उत्तरी सीमाओं पर किन्नौर से स्पिति-लाहूल तक इनका निवास माना जाता है। वैसे जिसे हम किन्नर प्रदेश या किन्नर क्षेत्र की संज्ञा देते हैं, स्थानीय तौर पर उसका नाम कनाउर अथवा कनौर है और वहां के निवासी कनाउरे या कानौरे कहलाते हैं।

क्या कनाउरे वस्तुतः किन्नर हैं और क्या किन्नौर, स्पिति, लाहूल और कुल्लू की कोठी किन्नौर प्राचीन किन्नर क्षेत्र है ? इन प्रश्नों का अधिकारपूर्वक उत्तर देना अनुचित होगा। शरीर-संगठन, रंग-रूप से किन्नर लोग कैसे थे, आज कुछ नहीं कहा जा सकता। वे गायक थे, उनके कंठ मधुर थे, वे साधु स्वभाव के थे, इन गुणों को ध्यान में रखा जाए और उनके क्षेत्र के साथ ही यक्षों और गन्धर्वों का इलाका होने से यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं दीखती कि किन्नरों का यहां वास रहा हो और आज के कनाउरों व लाहूलों में किन्नर रक्त थोड़ी-बहुत मात्रा में अवश्य हो।

नाग

राक्षस, गन्धर्व तथा उनके उपवर्ग किन्नर और यक्ष वैदिक पंचजनों में से थे, लेकिन वेदों में दास, दस्यु, दानु, अहि, उरग व नागों का उल्लेख भी बार-बार आता है। लोक गाथाओं और वार्ताओं में नागों-राक्षसों के संघर्ष की ओर इशारा है, उसी तरह जैसा वेदों में देवों और इन दानुओं, अहियों, नागों और दास-दस्युओं के बीच। जैसा हम देख चुके हैं हिमाचल प्रदेश शम्बर और वृत्र का अधिकार क्षेत्र था। दानुपुत्र शम्बर अहि चालीस वर्षों के संघर्ष के बाद ही इन्द्र द्वारा परास्त हो पाया। इन्द्र ने वृत्र का भी वध किया था। वृत्र भी दानु पुत्र था।

धिष्वा शवः शूर येन वृत्र,
मवाभिनद् दानुमौर्णवायम्।

दानुपुत्र शम्बर के 'शतः शम्बरस्य पुरो' सौ पुरों को इन्द्र ने अपने वज्र से ध्वस्त किया। ऋग्वेद के अनुसार इन दानुओं (दानवों) का संघर्ष इन्द्र और उसके सहयोगियों से हुआ, जिसमें दानुओं के एक सौ पुर नष्ट हुए। कई विद्वान इन पुरों को पत्थरों के दुर्ग मानते हैं।

राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'पंचनद के आदिम राजा' में कहा है कि "अयस

पुरम् आदि के जो संदर्भ ऋग्वेद में मिलते हैं और जिनका अर्थ 'पत्थर के नगर' किया जाता है, दुर्ग ही थे।" इन्हें तब भी शायद कोट या गढ़ कहा जाता रहा हो। गढ़ दुर्ग के अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा है, दुर्ग के आस-पास के क्षेत्र के लिए भी। कोट केवल भवन के लिए ही प्रयुक्त होता आया है। इसी कोट से संभवतः कोठी शब्द बना है।

गढ़ व कोठी

ये गढ़, कोट अथवा पुर उन लोगों के थे, जो यहां के निवासी थे, और वे सरस्वती-सिन्धु युग के ही लोग थे। इसकी पुष्टि वर्तमान देवी-देव मन्दिरों के आकार से भी हो जाती है। सामान्यतः मन्दिर छोटे-छोटे, इकमंजिला, एक-दो कमरों के ही हैं। लेकिन कोठियां प्रायः सर्वत्र विशाल, सुदृढ़, पांच-छः मंजिला ही होती हैं। इस कोठी से ही देवता के अधिकार-क्षेत्र का शासन चलता था। इसमें मुख्यतः देवी देऊ का रथ, उसके वस्त्राभूषण, वाद्य यन्त्र, सोना-चांदी रहता था, अर्थात् कोठी देव-भंडार था, उसका मुख्यालय था। कोठी में ही कर वसूल किया जाता था, यहीं से व्रत, पर्व, त्यौहार, मेले, जातर के लिए अन्न-धन तथा अन्य सामग्री दी जाती थी। पुराने किसी भी गांव में सबसे ऊंची, सबसे मजबूत जो भी इमारत होगी, वही कोठी होती है, उसी से गांव की पहचान भी। पहले दिनों में कोई अपरिचित व्यक्ति कोठी पर ही पहुंचता था। वहां से उसे गांव में किसी का भी अता-पता मिल जाता था। यही नहीं, उसके खाने-पीने, रहने-सहने का प्रबन्ध भी कई बार कोठी से ही हो जाता था। एक प्रकार से आतिथ्य धर्म का निर्वाह कोठी की जिम्मेदारी थी। यह स्थिति ठीक उन नगरियों जैसी थी, जहां परशुराम के नेतृत्व में सप्तसिन्धु से सारस्वत-सैन्धव लोग आकर बसे थे।

गढ़ से एक अन्य रोचक तथ्य सामने आता है। गढ़ में रहने वाले गढ़िये कहलाए, और दानु के वंशज दानुए हुए। यदि दानु इन पुरों के स्वामी थे और ये पुर ही गढ़ थे, उस स्थिति में दानुए और गढ़िये एक ही लोग होने चाहिए, किन्तु कतिपय अनुश्रुतियों, मेलों आदि से वास्तविकता कुछ दूसरी लगती है। उनके अनुसार दानुओं और गढ़ियों में घोर संघर्ष हुआ, जिसमें गढ़िये छल-कपट का सहारा लेकर ही जीत सके। क्या यह संकेत उस घटना की ओर है जिसमें इन्द्र ने सोये हुए दानुपुत्र को मारा था, या उससे भी बहुत पहले के किसी दूसरे जातीय संघर्ष की याद हो?

बुढ़ी दियाउड़ी दानुए-गढ़िए संघर्ष

दानुए-गढ़िए के उस पुरातन संघर्ष का सजीव चित्रण आज भी हिमाचल प्रदेश के मध्यवर्ती भाग में प्रति वर्ष बुढ़ी दियाउड़ी में हुआ करता है। बुढ़ी

दियाउड़ी का मेला दीपमाला के ठीक एक महीने के बाद आरंभ होता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि बुढ़ी दियाउड़ी, दियाउड़ी अथवा मशराड़ी का यह मेला व्यास, सतलुज, पब्बर तथा गिरी-यमुना की उपत्यकाओं, अर्थात् सरस्वती-सतलुज जल-संग्रहण क्षेत्र में ही मनाया जाता है, अतः सारस्वत सैन्धवों की नगरी निरमंड की बुढ़ी दियाउड़ी को आधार मानकर हम दानुओं और गढ़ियों के युद्ध की चर्चा करेंगे।

मार्गशीष की अमावस्या को दशनामी अखाड़े के प्रांगण में प्रचंड प्रज्वलित अग्निपुंज के इर्द-गिर्द गढ़िए-दानुए युद्ध का अभिनय होता है। गढ़ियों और दानुओं में शक्ति परीक्षण होता है और दोनों पक्ष एक-दूसरे को नीचा दिखाने की हर कोशिश करते हैं। गढ़िए अपने गढ़ की सुरक्षा करते हैं और दानुए उस पर तीव्र आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में लाना चाहते हैं। गढ़ियों की यही कोशिश रहती है कि दानुए किसी भी कीमत पर अग्नि की प्रदक्षिणा न कर सकें, जबकि उनके प्रतिद्वन्द्वियों का लक्ष्य किसी भी तरह आग के गिर्द कम से कम एक चक्कर लगा लेना रहता है।

दूसरी और तीसरी सुबह, रात के दानुए नागाकार लम्बी मोटी रस्सी लेकर इस प्रकार नाचते हैं, मानो नाग स्वयं नृत्य कर रहा हो। नृत्य से पूर्व मन्दिर में इस नागाकार रस्सी की, जिसे 'बांड' कहा जाता है, विधिपूर्वक पूजा होती है। साधारणतः दानुओं को उस विशिष्ट स्थान पर नाचने की इजाजत नहीं है, लेकिन बुढ़ी दियाउड़ी के अवसर पर, बांड के साथ नाचना उनका हक है। बांड नृत्य के अढ़ाई फेरे ही ले पाता है, कि रात के मेले के गढ़िए, छल से आकर उसे काटकर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। बांड के 'शरीर' के टुकड़ों का भी महत्त्व है, और उन्हें चुने हुए ब्राह्मण परिवार उठाकर पुण्य स्मृतिचिह्न स्वरूप अपने घरों को ले जाते हैं। बुढ़ी दियाउड़ी से स्पष्ट आभास मिलता है कि दानुए नाग ही थे।

जिस प्रकार प्रत्येक गांव में नामधारी या बेनाम दुरात्मा और सदात्मा के आपसी संघर्ष के सिलसिले में राक्षस की कल्पना की जाती है, अथवा उसकी वास्तविकता स्वीकार की जाती है, उसी तरह हिमाचल प्रदेश का शायद ही कोई नगर या गांव, दोघरी या छान, चोटी या घाटी हो जिसका संबंध किसी न किसी नाग से न हो। नाग देवता बन गए, और महाभारत के अनुशासन (6/14) पर्व अनुसार :

ज्योतींषि त्रिदशा नागा यक्षाचन्द्रार्कमारुता :
सर्वे पुरुषकारेण मानुष्याद्देवतां गता: ।

नागों को देवत्व प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम और बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ा था।

यहां यह जान लेना होगा कि जिस नाग जाति की हम चर्चा कर रहे हैं, उसका नागालैंड के नागाओं से कतई कोई संबंध नहीं। सच्चाई तो यह है कि नागालैंड के निवासी नाग हैं ही नहीं। उन आदिवासियों ने कभी अपने आपको इस नाम से नहीं जाना। उन्हें नागा नाम सौ दो सौ साल पहले आसाम के मैदानी लोगों ने दिया और इसका कारण यह था कि ये आदिवासी नंगे रहा करते थे। उनके लिए शुरू में विशेषण नंगा था, जो बाद में नागा बनकर जातिवाचक बन गया। उन लोगों का देवता भी नाग नहीं है। सामान्यतः नाग शब्द सर्प, अधिकारी, वृक्ष, पुष्प, जाति, लोग और देवता के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

जाति और देवता के रूप में नाग अत्यधिक चर्चा का विषय रहे हैं। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त मूर्तियों में वे अंकित हैं। वेद, पुराण, इतिहास, गाथा, परम्परा, सम्राटों की प्रशस्तियां और अभिलेख, बौद्ध व जैन साहित्य तथा लोक साहित्य सभी में इस जाति का उल्लेख है। सच तो यह है कि काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी और असम से लेकर कच्छ तक भारत का कोई भी कोना नहीं, जहां इन नागों की गाथाएं लोकप्रिय नहीं हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि नाग ही आर्यों के साथ भारतीय संस्कृति के जनक हैं, और यदि कहा जाए कि भारतीय समाज एवं संस्कृति का नींव-पत्थर नागों ने रखा और आर्यों ने रोड़ी-चूना जुटाया तो शायद अनुचित नहीं होगा।

भारतीय समाज के गठन के आरंभिक दिनों में सप्तसिन्धु तथा अन्य क्षेत्रों में आर्यों और नागों में टकराव भी रहा, और साथ में समन्वय का क्रम भी चला। शम्बर, वृत्र, सुदास, दिवोदास यदि टकरावबादियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो वासुकि, शेष, विश्वामित्र, परशुराम, जमदग्नि आदि उन शक्तियों का, जो समता, समन्वय और सम्मिश्रण में विश्वास करते थे। दोनों में समझौता वैदिक युग में ही हो गया था। यद्यपि डा० राधाकमल मुकर्जी का मत है कि "बहुत संभव है कि दोनों जातियों (आर्य और नाग) में समझौता सिन्धु अथवा पंजाब में नहीं, बल्कि गंगा-यमुना के द्वाबे में हुआ। दोनों जातियों ने अपनी बस्तियां गंगा की समृद्धिशाली घाटी तक बढ़ा ली थीं और उस संकरे द्वावे में वे एक-दूसरे के सामने जा पड़े थे। महाभारत में वर्णित दो घटनाएं शायद भारतीय आर्यों और हड़प्पावासियों के युद्ध की कुछ अंतिम घटनाओं को व्यक्त करती हैं जो गंगा के मैदान में घटित हुई थीं। पहली घटना है यमुना की घाटी में खांडव वन का अग्निकांड और दूसरी घटना है नाग जाति को उसके शासक तक्षक के साथ देश-निकाला, जिससे उसे पहाड़ों पर जाकर शरण लेनी पड़ी। इनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गंगा-यमुना द्वावे में ही दो महान जातियों का भीषण युद्ध हुआ था। इसके विपरीत वासुकि की पुत्री अलूपी के साथ अर्जुन का विवाह इस बात का प्रतीक है कि गंगा-यमुना द्वावे में जातीय सम्मिलन का महत्त्वपूर्ण काम शुरू हो गया था।

हड़प्पा में मिट्टी की एक तख्ती पर सांप प्रदर्शित है। इसमें एक देवता के पास फन फैलाए नाग बैठा है, और घुटनों के बल बैठे हुए लोग उसकी पूजा कर रहे हैं। मिट्टी की एक तावीज पर एक चित्र है जिस में एक सांप को पूजा के तौर पर दूध पिलाया जा रहा है। नागों ने भारत युद्ध में कौरवों और पांडवों, दोनों की ओर से भाग लिया था। यह जाति काल्पनिक नहीं है, बल्कि शायद वे लोग सिन्धु घाटी के बचे-खुचे निवासी ही थे।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि डा० मुकर्जी ने महाभारत को ही आधार मान कर व्याख्या की है, उन्होंने वेदों में केवल विग्रह पर ही नजर रखी। उनके सम्मुख सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र में हुई नई खोजों तथा सारस्वत-सैन्धवों का नई बस्तियां बसाने तथा उन बस्तियों के लोगों के मिश्रित जातीय रूप के प्रमाण नहीं थे। इधर अब यह लगभग सिद्ध हो गया है कि आर्यों और नागों के सम्मिश्रण का क्रम महाभारत से बहुत पहले शुरू हो चुका था। इस क्रम में समझौता से भी अधिक समन्वय की प्रेरणा थी।[2]

हिमाचल में नाग संबंधी अनेक उपाख्यानों से ऐसा लक्षित होता है कि अधिकांश नाग देवता शायद ऋषि एवं तपस्वी रहे हों। यह अनुमान नाग देवता के प्रति साधारण जनता तथा नाग देवता के पूजकों के दृष्टिकोण से लगाया जा सकता है। नाग के 'गूर' अथवा 'गोगच' के सामने नाग देवता का स्वरूप एक 'बूढ़े बाबा' का है। कहा जाता है कि जब भी वह अपने इष्ट को संबोधित करता है, अथवा उसका ध्यान करता है, उसके सम्मुख आकृति एक 'वृद्ध जटाधारी व्यक्ति' की ही होती है।[3] देवता से वार्तालाप के दौरान उसे 'नाग रिखी' नाग ऋषि, कहकर सम्बोधित किया जाता है।

शेष नाग में सभी ब्राह्मण-ऋषि-उचित गुण थे। शेष वासुकि का बड़ा भाई माना जाता है। शेष देवताओं की सेवा में रत रहा और विष्णु की शय्या बना। वासुकि ने पाताल का राज्य संभाला। ब्रह्मा ने शेष को वरदान दिया कि उसके चित्त और बुद्धि सदैव शांति और तप में लगे रहें। ब्रह्मा ने उसे कहा था : "शेष, तू भी मेरी और इन्द्र की तरह धर्मराज होगा।" वासुकि में भी बड़े भाई के गुणों की प्रचुरता थी। उसके संबंध में जो भी सहस्रों आख्यान हैं, उनमें उसे सर्वदा प्रियकारी व हितकारी दर्शाया गया है। वासुकि की एक बहन थी मानसा। उसका विवाह भी जरत्कारू नाम के ऋषि से हुआ था। उनका पुत्र विख्यात आस्तीक ऋषि हुआ, जिसने जन्मेजय के नागयज्ञ के अवसर पर नागों के प्राणों

---

1. भारतीय संस्कृति
2. सर्वाइविंग हड़प्पन सिविलाइजेशन
3. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन

की रक्षा की थी। उसने नागयज्ञ को रुकवा दिया था, जिससे नाग जाति समूल नष्ट होने से बच गई। जन्मेजय का पुरोहित श्रुतश्रवा ऋषि का महातपस्वी पुत्र सोमश्रवा नाग कोख से उत्पन्न हुआ था। अपने प्रतापी मेधावी पुत्र का परिचय देते हुए श्रुतश्रवा ने जन्मेजय को बताया था : "मेरा यह पुत्र महादेव के द्वारा प्रेरित पापकृत्यों को छोड़कर तुम्हारे अन्य सब पाप कृत्यों को शान्त करने में समर्थ है। कोई ब्राह्मण इससे जो कुछ मांगेगा, वह उसको वही दान दे देगा।"

जिस प्रकार आर्यों का आपस में गृहयुद्ध हुआ, ऐसा लगता है नाग भी इस रोग से ग्रस्त थे। नाग कश्यप प्रजापति की सन्तान गिने जाते हैं। कश्यप की दो पत्नियां थीं, कद्रू और विनता। कद्रू परम रूपवती थी। उसने एक हजार पुत्रों को जन्म दिया, वे नाग थे। विनता ने दो पुत्रों, सूर्य और गरुड़ को जन्मा। नागों और गरुड़ में भयंकर बैर था। नागों को गन्धर्वों से भी लोहा लेना पड़ा। इसका उल्लेख महाभारत में है। मौनेय गन्धर्वों ने नागों पर आक्रमण कर उन पर काबू पा लिया और पाताल पर कब्जा कर लिया। उनसे त्राण पाने के लिए नागों ने अपनी बहन नर्मदा की सहायता ली। नर्मदा विष्णु की शरण गई और उसकी सहायता से पाताल वापस जीत लिया। यों भी ऐतिहासिक काल तक नर्मदा नदी क्षेत्र नागों का प्रदेश माना जाता रहा है। 'मध्य भारत के इतिहास' के लेखक द्विवेदी का कहना है कि देवनागरी लिपि नागों की ही देन है। इससे यह मालूम होता है कि नाग सुशिक्षित ही नहीं थे, उच्चकोटि के विद्वान थे। मन्त्र-द्रष्टा थे, मन्त्र-कार थे। वृत्र के सन्दर्भ में हमने देखा, वे नदियों पर बांध बनाया करते थे। उस द्वारा निर्मित सात बांधों को इन्द्र ने तोड़ा था। भवन निर्माण की कला में ये नाग अद्वितीय थे। आर्य भी भवन निर्माण के लिए दानवों और तक्षक पर आश्रित थे। उनकी पाताल नगरी, जिसका प्लीनी और टालमी[1] ने सिन्धु नदी के डेल्टा पर होने का उल्लेख किया है, शिव पुराण के अनुसार स्वर्ग से भी बढ़ कर थी। नारद ने पाताल यात्रा के उपरान्त देवताओं को बताया था कि पाताल इन्द्र के स्वर्ग से भी बढ़कर है। भौतिक सुख-सुविधा के सभी साधन वहां सुलभ हैं।

ऋक्, यजुः और अथर्व, तीनों वेद नागों का विवरण देते हैं। ऋक् में नागों के एक नेता अदृणक का उल्लेख है। अदृणक को कृष्ण के समान ही इन्द्र का विरोधी बताया गया है। अथर्ववेद नागों को 'देवजन' कहता है और उनकी गणना गन्धर्व, अप्सरा, देव, यक्ष और पित्तरों के साथ करता है। अथर्ववेद के इस कथन से भी यह मत पुष्ट होता है कि नाग और आर्यों का सम्मिश्रण वैदिक युग से पूर्व हो चुका था।

बौद्ध साहित्य तो नागों के वर्णन से भरा पड़ा है। बुद्ध और नागों का कितना

---

1. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजियन्स एंड ऐथिक्स

निकट एवं गहन संबंध रहा होगा, यह इससे जाहिर है कि बुद्ध ने अपनी पवित्र वाणी 'प्रज्ञा पारमित' नागों की सुपुरददारी में रखी। लगभग छः-सात सौ वर्षों तक यह वाणी नागों के पास रही। ईसा की दूसरी शताब्दी में नागार्जुन ने उसे अपने पास लेकर उसके आधार पर महायान की स्थापना की थी। मुचुलिन्द नामक नाग ने नवजात गौतम पर छाया कर धूप और वर्षा से उसकी रक्षा की थी। इससे पूर्व नन्द और उपनन्द नाम के दो नागों ने गौतम के प्रसव में सहायता की थी। उसे पहला स्नान भी नागों ने ही कराया था, क्योंकि उसका जन्म नागों के इलाके में हुआ था। जब बुद्ध समाधिस्थ था, नागों ने ही उस समय मार से उसकी रक्षा की थी।

बुद्ध के शाक्य परिवार के एक राजकुमार ने नाग कन्या से ब्याह किया था। यह नागराज बुद्ध के प्रवचन सुना करता था। बुद्ध को जब यह ज्ञात हुआ, उन्होंने नागराज को अपने असली रूप में आने का आदेश दिया। दूसरे दिन वह नाग बन कर आया। उसका सिर बुद्ध का प्रवचन सुनने राजगृह में था और पूंछ तक्षशिला में। इसका तात्पर्य यह कि उस काल में नाग जाति पश्चिम में तक्षशिला से पूर्व में राजगृह तक फैली हुई थी।

इतिहास में नागों की भूमिका व्यापक रही है। शतवाहन राजाओं में नाग रक्त था, इसका अनुमान उनके नागनिक और स्कन्द नागसतक नामों से लगता है। चौथी शताब्दी ईस्वी में समुद्रगुप्त ने नागों को परास्त किया, लेकिन कुछ समय के उपरान्त उन्होंने दोबारा मथुरा और मध्य भारत में शक्तिशाली राज्य स्थापित कर दिए। मथुरा, कान्तिपुर और पद्मावती नाग राजाओं की राजधानियां थीं। पद्मावती आधुनिक ग्वालियर में नरवर मानी जाती है। मथुरा से प्राप्त एक ताम्रमुद्रा में नागभट्ट के पुत्र महेश्वरनाग राजा का उल्लेख है। अनेक वाकाटक अनुदानों में भारशिवों के भवनाग का जिकर है। इस भवनाग का पौत्र रुद्रसेन द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था। इससे ज्ञात होता है कि गुप्तों के उत्थान से पूर्व ही से नाग राज्य स्थापित हो गए थे। ये नाग बहुत शक्तिशाली थे। उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ किए थे और भगीरथी के जल से अभिषेक किया था।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में गणपति नाग, नागसेन और नन्दी नाग पर उसकी विजय का वर्णन है। गणपति नाग के सिक्के मथुरा, पवाया और बेस नगर से प्राप्त हुए हैं। अपने हर्षचरित में बाणभट्ट ने लिखा है कि पद्मावती का नागसेन नागवंश में उत्पन्न हुआ था। पद्मावती के भवनाग की पुत्री का विवाह वाकाटक के गौतमी-पुत्र के साथ हुआ था। स्वयं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजमहिषी कुबेरा नागकन्या थी। उनकी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक के राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था, जिसका शासन आधुनिक

बरार तथा उसके आसपास के इलाके पर था ।

विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के काल में गंगा-यमुना द्वाब का शासक विश्यपति सर्वनाग था । उसी काल में, 510 ईस्वी में महाराजा हस्तिन के मझग्वस् लेख में नागसिंह नाम के किसी महाबलाधिकृत का उल्लेख है । गुप्तों ने नागों को दबाया, उन्हें परास्त किया और उनके राज्य छीने, किन्तु उनकी शक्ति को समाप्त नहीं कर सके । तब उन्होंने नाग राजकुमारों को अपने प्रशासन में महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किए । नाग राजवंशों में शादी ब्याह किए और हर तरह से उनके सद्भाव और मैत्री को बनाए रखने की चेष्टा की ।

केवल उत्तरी और मध्य भारत में ही नागों का प्राबल्य रहा हो, स्थिति यह नहीं थी । दक्षिण में प्रतापी पल्लवों के राजवंश की जननी नागकन्या थी । यह वंश ईसा की तीसरी सदी से नवीं सदी तक शासनारूढ़ रहा । आन्ध्र के राजा नागार्जुन ने तिब्बत के एक शासक को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था । गन्तूर जिले में मचेरल रेलवे स्टेशन से 24 किलोमीटर दूर कृष्णा नदी के दाएं किनारे नागार्जुन पर्वत के साथ लगभग पांच किलोमीटर चौड़ी एक उपत्यका है जिसमें स्तूप, चैत्य और विहारों के खंडहर मिले हैं । इन्हें इक्ष्वाकू राजाओं द्वारा निर्मित माना जाता है ।

शिलप्पादिकारम् के अनुसार चोल राजधानी कविरिपड्डिनम् नागों और नागनाडू का विख्यात नगर था । तमिलनाडु में अनेक नाग जातियां थीं, जिनमें मरवर, इयिनर, ओडियर, अरूवाड्डुर और परथवर मुख्य हैं। ये जातियां पूर्वीतट पर कावेरी और वेगे नदियों के बीच के भाग में बसी थीं ।

करनाटक में नागमंगल अथवा फणिपुर नाग नगर जैनों का मुख्य स्थान रहा है । जैन सूत्रों के अनुसार सुपार्श्व और पार्श्वनाथ तीर्थंकर नागचिह्न धारण किया करते थे । संभव है वे स्वयं नाग रहे हों । नागों ने करनाटक पर गहरी छाप छोड़ी है, उसके प्रमाण नागदेव, नागगौंड, नागशेट्टी, नागवर्मा और नागय्य जैसे नाम हैं । नागवर्मा, चामुंडाराय का कनिष्ट भ्राता और प्रसिद्ध कवि तथा लेखक था । नागय्य मूर्तिकार है ।

विश्व का महानतम तांत्रिक नागार्जुन क्षत्रिय कन्या भूपाला के गर्भ से उत्पन्न हुआ वासुकि का पुत्र माना जाता है । इसने महायान की स्थापना की । इसकी गणना चौरासी सिद्धों में की जाती है । चीनी यात्री युवान च्वांग के समय तक आते-आते नागार्जुन को देवता माना जाने लगा था । इसी ने पाताल जाकर नागों से प्रज्ञापारमिता प्राप्त की थी । परम्परा मानती है कि बुद्ध ने अपनी यह वाणी नागों को इसलिए दी थी कि सामान्य लोग उसे समझने में असमर्थ थे । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि केवल नाग ही बुद्ध के उपदेशों और उसके मत की बारीकियों को समझते थे, अन्य लोग नहीं । इस कारण संभवतः बुद्ध के

अनुयायियों में नागों की संख्या अधिक रही होगी।

नर्मदा, जैसा हम कह चुके हैं, नाग क्षेत्र था। वहां नम्मदा नामक नागराजा था। मज्झिमनिकाय के एक वृत्तान्त के अनुसार नम्मदा ने बुद्ध और अन्य भिक्षुओं को अपने घर भोजन के लिए बुलाया था। उससे अनेक शताब्दियां पूर्व हैहय लोगों ने नर्मदा उपत्यका में नागों को परास्त किया था। संभावना यह है कि शायद इन हैहयों के विरुद्ध परशुराम के युद्ध वास्तव में नागों की सहायता के लिए ही थे। यह संभव है कि हैहयराज सहस्रार्जुन के विरुद्ध नाग अभियान का नेतृत्व परशुराम ने किया हो। परशुराम द्वारा क्षत्रियों के संहार की अनुश्रुति शायद इसी अर्थ और संदर्भ में चल पड़ी हो। ये युद्ध शायद नागों और क्षत्रियों के बीच हुए हों।

मगध सम्राट बिंबसार और अजातशत्रु दोनों शिशुनाग वंश के थे। अल्तेकर, परजिटर, प्रधान और पुसालकर सरीखे विद्वानों ने इन वंशों की एक सूची दी है, जिससे पता चलता है कि इनमें से पहला वंश ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले से था।[1] इस प्रकार नाग एकदम सरस्वती-सिन्धु युग के उत्कर्ष काल तक पहुंच जाते हैं।

हिमाचल प्रदेश में जो सारस्वत-सैन्धव आए, वे मिश्रित थे, उनमें नाग भी थे और आर्य भी, यद्यपि उनका परस्पर इस प्रकार का भेद मिट चुका था। ब्राह्मण पुरोहित रूप में जाने जाते थे। हिमाचल में कुछ नाग पहले से ही थे, अतः दोनों वर्गों को घुल-मिलने में विशेष कठिनाई नहीं रही। तब तक वासुकि, तासकी शेष नाग की कथाएं जातीय सम्पत्ति बन गई थीं, जो उनके वंशजों में ही नहीं सभी वर्गों में प्रचलित थीं। यही कारण है कि लोकस्तर पर वासुकि-तासकी की कथाएं सारे देश में सुनी-सुनाई जाती हैं।

हिमाचल में वासुकि से संबंधित बीसियों गाथायें हैं। इसी से प्रार्थी ने अनुमान लगाया होगा कि "संभवतः वासुकि नाग ही इस इलाका का पहला राजा हुआ होगा और देवता भी शायद नागों में वही पहले बना था।"[2] सारस्वत-सैन्धवों के आने के पूर्व अकेले कुल्लू क्षेत्र में नागों की 18 बस्तियां थीं। अन्य अनुश्रुतियों के अनुसार रोहडू-सरपारा में नौ बस्तियां थीं। वासुकि के इलावा जिन अन्य नाग शासकों व ऋषियों का जिकर आता है, उनमें मंडी का मांहू, किन्नौर का कामरू, चम्बा का कुंगटी और सुराज के नातड़ी और चम्भू नाग उल्लेखनीय हैं।

---

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन
2. कुलूत देश की कहानी

खश

नागों के पश्चात् दूसरी सबसे अधिक महत्वपूर्ण जाति खश है। नागों ने अपनी कोई निशानी, कोई पृथक् दैहिक चिह्न नहीं छोड़ा, परन्तु खशों की आज भी प्राय: सारे हिमाचल में बस्तियां फैली हैं, खशों के गांव के गांव मिलते हैं। कथांडा, मातन्ना, मनाणी, शूच, सतलुज उपत्यका में और खशकोडी, खशधार, पब्बर उपत्यका में इसके उदाहरण हैं। हिमाचल प्रदेश से बाहर भी कश्मीर से लेकर नेपाल तक समूचे हिमाचल भूखंड में इन खशों का जोर है।

महाभारत और पुराणों में किन्नर, किरात आदि के साथ खश जाति का उल्लेख मिलता है। उससे पूर्व के वाङ्मय में खशों का जिकर नहीं है, अलबत्ता बुढ़ी दियाउड़ी के गढ़िए ये खश ही हैं। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि भले ही खशों की पृथक् रूप से वैदिक वाङ्मय के जनों में गिनती न हुई हो, यह जाति निस्संदेह अत्यन्त प्राचीन है और जब समाज के वर्तमान स्वरूप की रूपरेखा निश्चित हो रही थी, खश मौजूद थे।

खशों को मनुस्मृति काल तक आते-आते क्षत्रियों की श्रेणी से हटा कर शूद्रों की पंक्ति में बिठा दिया गया। लेकिन क्या उनकी गणना आरंभ से ही क्षत्रिय वर्ग में हुआ करती थी? महाभारत में कर्ण-पर्व, सभा-पर्व तथा द्रोण-पर्व में पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाले खशों से संबंधित अनेक उक्तियां हैं। उधर विष्णु पुराण, मारकंडेय पुराण और हरिवंश पुराण में भी इस जाति का उल्लेख हुआ है। महाभारत में उन्हें क्षत्रिय माना गया प्रतीत होता है और उनकी गिनती तंगण, परतंगण, कुलिन्द, प्रदर, दीर्घवेणू, पदर, एकासन और अर्ह जातियों के वर्ग में की गई है। द्रोण-पर्व में उल्लेख है कि ऋषि वसिष्ठ की गाय नन्दिनी ने गाधिसुत विश्वामित्र से अपनी रक्षा करने के लिए खश आदि अनेक जातियों को अपने भिन्न-भिन्न अंगों से उत्पन्न किया। वसिष्ठ का खशों के साथ गहरा संबंध रहा लगता है। वायु पुराण के अनुसार वसिष्ठ ने ही राजा सगर के हाथों खशों के समूल नाश को रोका था।

लेकिन यह मानना गलत होगा कि खश आरंभ से ही क्षत्रिय श्रेणी में रखे गए थे, या वे सभी राजपूत थे। बुढ़ी दियाउड़ी में उनका अभिनय और भूंडा के अवसर पर उनकी जिम्मेदारी से यह तो मालूम पड़ता है कि खशों का मुख्य काम सुरक्षा का था। दियाउड़ी में गढ़िए बन वे गढ़ के रक्षक थे, और भूंडा में जियाई को बल्लौत्तर पर चढ़ाने, बल्लौत्तर बांधने और हवनकुंड की सुरक्षा का भार उन पर हुआ करता था, किन्तु वे जिस टोली में सप्तसिन्धु से आए थे, उसमें उनका नाम केवल गढ़िया ही था। वे न ब्राह्मण थे और न क्षत्रिय आदि ही।

दोडराकुआर में अभी कुछ वर्ष पूर्व तक यदि लोगों से पूछा जाता कि वे किस जाति के हैं, तो उत्तर मिलता 'खसिया'। ज्यादा जोर देने पर केवल इतना

बता पाते कि कुछ खसिया ब्राह्मण हैं और कुछ खसिया राजपूत। इससे ऐसा लगता है कि आरंभ में इस देश में आगमन के समय खशों में जाति-पांति एवं वर्ण व्यवस्था का प्रचलन नहीं था, या यों कहें कि जब खश आए, देश में वर्ण व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हुई थी। फलस्वरूप नागों के समान ही उनके मुखिया को ब्राह्मण एवं उच्च वर्गीय क्षत्रिय माना गया, और सामान्य खश केवल खसिया ही रह गया। ये खसिया इतने सामान्य रहे कि उनमें सवर्ण और शूद्र का भेद करना ही कठिन हो गया। उनके वर्ग बने पुजारी खसिया, गूर खसिया और पुरोहित खसिया।

यद्यपि पुराण और स्थानीय परम्परायें खशों को देशज मानती हैं, जिनका आदि पुरुष कोई ऋषि था, और विष्णुपुराण में कश्यप ऋषि की क्रोधवशा नामक पत्नी से उत्पन्न सन्तान को ही खश बताया गया है। लेकिन प्रायः सभी आधुनिक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि खश कहीं बाहर से आकर ही भारत में प्रविष्ट हुए थे। विद्वानों का बहुमत यह स्वीकार करता है कि इन खशों का मूल स्थान पूर्वी मध्य एशिया था और पहाड़-पहाड़ होकर ही यह जाति हिमाचल क्षेत्र में आई थी। इसकी पुष्टि में उनका कहना है कि आज भी गिलगित चितराल में कश्कर, काशगर में खशगिरी और कश्मीर तथा नेपाल में कई ऐसे स्थान हैं जिनका नामकरण हिमाचल के खशकोडी, खशधार के समान खशों से हुआ है। तिब्बती भाषा में तो कश्मीरियों को 'खछे' नाम से जाना जाता है। 'खछे' स्पष्टतया 'खश' ही है। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि खश जाति सप्तसिन्धु में भी प्रविष्ट हुई थी। बाद में हिमाचल की तराई से बढ़ते-बढ़ते पूर्व में असम तक जा पहुंची थी। इसी कारण विद्वानों का एक बहुत बड़ा वर्ग यह मानता है कि खश आर्यों की ही एक शाखा है। खशों की भाषा भी आर्य ही थी।[1]

खश भारत में कब आए, इस पर कुछ मतभेद है। कतिपय लेखकों का यह कथन है कि खशों ने 1500 से 1000 वर्ष ईसा पूर्व में पश्चिमोत्तर दिशा से भारत में प्रवेश किया था। राहुल सांकृत्यायन सरीखे विद्वान इस संबंध में दुविधा में पड़े लगते हैं। कहीं उन्होंने यह कहा है कि खश ईसा से लगभग सात शताब्दी पूर्व भारत में आए, अन्यत्र वे यह मत व्यक्त करते हैं कि ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के आरंभ में इस जाति का पूर्वी मध्य एशिया से इस देश में आगमन हुआ। इससे पूर्व खश तरीम उपत्यका में निवास करते थे। सुनीतिकुमार चैटर्जी के मत के अन्य अनुसन्धानकर्ता यह कहते हैं कि हिमाचल प्रदेश के खश आस्ट्रो एशियाई हैं, जो ईसा से लगभग 4000 वर्ष पूर्व भारत में आए थे।

यदि खशों के गढ़िया नामकरण की दृष्टि से देखा जाए, तो वे लोग वैदिक युग के प्रारंभिक दिनों में यहां उपस्थित ही नहीं थे, पूरी तरह स्थापित थे और

---

1. हिमाचल प्रदेश ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन।

तब भी गढ़ों की रक्षा की जिम्मेदारी निभा रहे थे। जब हड़प्पन लोग अपना देश त्याग अन्यत्र गए, तो संभवत: उनके दल की सुरक्षा भी ये खश ही करते रहे होंगे। वे चाहे आर्यों की शाखा थे या नागों की तरह अन्य लोग, हिमाचल के सन्दर्भ में उनकी गणना इन प्राचीनतम जातियों में ही की जाएगी।

कनैत-राहू

ज्यों-ज्यों वर्ण व्यवस्था दृढ़ होती गई, खशों को क्षत्रिय एवं राजपूतों के वर्ग में शामिल करना सहज था। लेकिन हिमाचल प्रदेश में यह वर्गीकरण आधुनिक है। यहां पर इनकी गिनती कनैतों के अन्तर्गत की जाती रही। कनैतों के दो वर्ग माने जाते रहे हैं, खश तथा राहू। खश अपने आपको ऊंचा समझते रहे और राहुओं को नीचे का दर्जा देते रहे। ऐसा लगता है कि जिन खशों का जमीन पर ही निर्वाह रहा और जो खेतिहरों के ज्यादा गहरे सम्पर्क में आए, वे राहू कहलाए, जो अपने पुरातन भेड़-बकरीपालन को प्रमुखता देते रहे, वे खश बने रहे।

वैसे कई विद्वान कनैतों को महाभारत तथा जनपदीय युग के कुलिन्दों का वंशज मानते हैं। लेकिन महाभारत में कुलिन्द और खशों की अलग-अलग सत्ता मानी गई है। दूसरे, खश कुलिन्दों से काफी पहले उल्लिखित होने लग पड़े थे। प्रार्थी का कहना है कि "किरात और खश तथा वे लोग जो मैदानों से आए, इस आबादी में खल्त-मल्त होकर उस बड़ी बिरादरी का रूप धारण कर गए, जिसे बहुत दिनों बाद कनैत कहा जाने लगा। आज तो बहरहाल कनैत लोग वर्णाश्रम धर्म के अनुसार राजपूत कहलाए जाने लगे हैं, लेकिन पचास वर्ष पहले हिमालय के दामन में कश्मीर से गढ़वाल और नेपाल तक आबादी की एक बहुत बड़ी संख्या कनैत कहलाती थी। यहां तक कि लाहुल और स्पिति तथा किन्नौर के लोग भी कनैत कहे जाते थे।"[1] कनैत शब्द का वर्ण विशेष के लिए प्रयोग सबसे पहले सन् 1846 में हुआ, जब सतलुज के आर-पार का क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन आया और उन्होंने वहां बन्दोबस्त करवाया। कांगड़ा में सन् 1871 में जनगणना के अवसर पर कनैत शब्द को सरकारी रिकार्ड पर लाया गया।

घिरथ-कोली

कनैतों, राहुओं की भांति घिरथ भी हिमाचल की विशिष्ट जाति है, जिसकी गिनती कोलियों की तरह अनुसूचित जातियों में होती है। घिरथ चूंकि कांगड़ा क्षेत्र में अधिक हैं, इससे कुछ विद्वान यह मानते हैं कि घिरथ वास्तव में त्रिगर्त का बिगड़ा रूप है, अतः त्रिगर्त के मूल निवासी घिरथ हैं। कोली और घिरथ

1. कुलूत देश की कहानी।

दोनों का जीवन-आधार खेती-बाड़ी है, लेकिन कई स्थानों पर वे लोग स्वयं भूमि के स्वामी नहीं थे।

कोलियों को कोलों की सन्तान माना जाता है। यह मत भी ग्राह्य है कि दरअसल नाग और कोल एक ही जाति के लोग थे। दोनों का चिह्न नाग था। यह भी कहा जा सकता है कि कोल नाग जाति की ही एक उपजाति थी, इसीलिए शायद ऋग्वेद में शम्बर को दास, दस्यु, दानु के साथ अहि और कोलितर भी कहा गया है।

इस प्रकार हिमाचल के मनुष्य का मौलिक स्वरूप सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र से आने वाले लोगों के आगमन के पश्चात् बन गया था। जो जातीय ढांचा बना था, उसमें एक तो वे लोग थे जो आरंभ से यहां रहते चले आ रहे थे। इनमें शम्बर के लोग भी शामिल हैं। इन लोगों की अपनी बस्तियां, पुर अथवा गढ़ थे। दूसरे वे लोग थे, जो सरस्वती-सतलुज क्षेत्र से यहां आकर बस्तियां बसा गए। इन लोगों में सप्तसिन्धु के सभी लोग थे। तीसरा वर्ग खशों का था, जो नाक-नक्श से आर्य थे, लेकिन आचार-व्यवहार में आर्येतर लोगों की तरह थे। इस प्रकार हिमाचली मानव की रगों में आर्य, नाग, कोल, खश, किन्नर और किरात रक्त प्रवाहित हो चला था। आधुनिक परिभाषा में कहें तो आर्य और आग्नेय दोनों नस्लों का सम्मिश्रण हो चुका था। यह स्थिति बुद्ध के समय तक रही। तदुपरान्त यहां यवन, शक, कुषाण, हूण, भोट और गूजर आए। ये सभी प्राचीन आर्यों या किरातों की ही शाखाएं थीं। ईसा की दसवीं शताब्दी तक ये सभी लोग आ चुके थे। पूर्वोत्तरी सीमा पर के क्षेत्रों में भोटों ने लोगों के जातीय रूप को ही बदल डाला, लेकिन प्रदेश के बाकी दूसरे भागों में नए आने वाले शक, कुषाण, हूण और गूजर यहां के लोगों में ऐसे घुल-मिल गए जैसे पानी में नमक। जल का स्वरूप तो वही रहा, लेकिन स्वाद बदल गया। इस तरह जातीय तौर पर हिमाचली मानव आज से एक हजार वर्ष पहले बनकर तैयार हो चुका था।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था में जो जटिलता हम भारत में अन्यत्र देखते हैं, वह हिमाचल प्रदेश में नहीं रही। सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र से आने वाले लोगों में इस प्रकार के वर्गों का भेदभाव नहीं था। यद्यपि कई विद्वान आर्यों की ईरानी शाखा में चतुर्वर्ण की प्रारंभिक झलक देखते हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि तब वर्णगत भेद यदि था भी तो केवल इस तरह का कि सभी ब्राह्मण थे। उनका पारस्परिक विभाजन उनके काम के आधार पर था। सारस्वत-सैन्धवों की जिन टुकड़ियों को जमदग्नि और

1. संस्कृति के चार अध्याय।

परशुराम लाए, उनसे संबंधित परम्पराओं और अनुश्रुतियों में उन्हें ब्राह्मण कहा गया है और जहां उन्होंने बस्तियां बसाईं, वे प्रायः 'ब्राह्मण नगरी' कहलाईं। लेकिन इन ब्राह्मण दलों में पुरोहित, गढ़िया, कुम्हार, सुनार, ठठार, हेस्टा, कठेड़, ओड़, डूम, बेड़ा, हेसी, तूरी, सोई और चमार शामिल थे। ये सभी परस्पर आश्रित थे और बड़े-बड़े धार्मिक कृत्यों में बराबर के साझीदार थे। भूंडा जैसे यज्ञों में इन में से प्रत्येक वर्ग की विशिष्ट जिम्मेदारी थी। यदि एक भी न रहे तो यज्ञ का विधान, कर्मकांड पूरा नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार की स्थिति कोठी के संचालन में भी थी। कोठी का मुखिया ब्राह्मण पुरोहित था तो यज्ञशाला के प्रबन्धक कठेड और चाड हुआ करते थे। सुरक्षा की जिम्मेदारी गढ़ियों की थी, मूर्ति एवं कर्मकांड पात्रों का बनाना ठठारों, ओडों की थी। कोठी के कागजात, या उसका रिकार्ड हेस्टा रखता था। कुम्हार के बिना दीपक ही नहीं जल सकता था। यही स्थिति हेसी, तूरी आदि वादकों की थी। बेडा लोगों की जरूरत भूंडा के लिए बलि के रूप में थी। केवल ये लोग ही 'जियाई' बन सकते थे। संभवतः तब ऊंच-नीच, जात-पांत के बन्धन इतने जटिल नहीं थे।

जातियों का वर्णाश्रम पर आधारित वर्गीकरण तो बाद की बात है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजपूत, वैश्य, शूद्र, यह नामावलि तुलनात्मक रूप से आधुनिक है। सन् 1891 की जनगणना में भी प्रदेश में जिन जातियों का नाम आया है। वे हैं ब्राह्मण, राजा, कनैत, राठी, खश, राहू, कुम्हार, लुहार, विरथ, डागी, कोली, डूम, चमार आदि। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गई 'कांगड़ा वर्ण-व्यवस्था' के लेखक शंकर[1] ने जो नाम दिए हैं, वे इस प्रकार हैं: "नगरकोट, दूसरे भटेड, तीसरे हलवाह और क्षत्री भी तीन किस्म के हैं, एक राजेया खानदान, राजे के दूसरे राणे, तीसरे राठी, और वैश्य दो प्रकार के, एक बाणिये और दूसरे महाजिन कहलाते हैं। शूद्र वर्ण दो प्रकार के, एक उत्तम दूसरे मध्यम। इन चारों वर्णों के कई भेद इस देश में हो गए हैं।" इन भेदों का ब्योरा देते हुए कहा है कि ब्राह्मण जातियां 521 उपलब्ध हैं और क्षत्रिय 321। वैश्य वर्ण में खत्रियों की 88, महाजनों की 25, सूदों की 22, सुनारों की 37 और शूद्र वर्ण में नाइयों की 6, कुम्हारों की एक से 75, लुहारों की एक से 32, धिरथों की 221, जटों की 88, बटेहड़ों की 20, लुबाणों की 15, कोलियों की 96, फराड़ों की तीन जातियां हैं।

सृष्टि संबंधी जो भी गाथायें इस प्रदेश में हैं, उनमें पुरुषसूक्त की तरह ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति का कोई जिकर नहीं है। उनमें देवता कैसे पैदा हुए, यह वर्णित है। किसी-किसी गाथा में यह भी बताया गया है कि 'गुरु' ने 'मनसा'

1. शमी शर्मा : हिम भारती, सितम्बर 1983

को अपने शरीर के मल से पैदा किया और गुरु की 'कुदृष्टि' से 12-वर्षीय मनसा ने गर्भधारण कर लिया। लेकिन इस प्रकार की कल्पना नाथों और सिद्धों के समय की ही है।

भाषा को आधार मानकर, 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' में, भगवद्दत का कहना है कि "प्रतीत होता है आरंभ में भूमि पर ब्राह्मण ही था। उसकी भाषा, आचार-विचार शिष्ट थे। फिर लोभ, मोह के कारण कुछ अधर्म प्रवृत होने लगा। उस समय क्षत्रिय आदि वर्ण बन चुके थे। उच्चारण के भेद आरंभ हो गए थे। इसके बहुत उत्तर काल में देश, काल, परिस्थिति के भेद, उच्चारण शक्ति की विकलता के कारण भाषा के विकार म्लेछ भाषाओं—प्राकृत और अपभ्रंश में प्रकट हुए।"

विकासवाद बनाम ह्रासवाद : विरोधी दृष्टिकोण

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस समग्र समस्या को देखने के दो दृष्टिकोण हैं जो परस्पर एकदम विरोधी हैं। एक का आधार विकासवाद है, दूसरे का उससे विपरीत ह्रासवाद का। विकासवादी मानते हैं कि मनुष्य जीवन अविकसित से विकसित, अज्ञान से ज्ञान और अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ा है। इन विकासवादियों के भौतिक आधार की तुलना में ह्रासवादी दैवी आधार का सहारा लेकर कहते हैं कि आरंभ में सब श्रेष्ठ था, उत्तम था और उन्नत था। कालान्तर में वह क्षीण होता गया, अपूर्ण बनता गया और उसका ह्रास होता गया। मानव इतिहास में सर्वप्रथम सत् युग था, बाद में कृत् आया, उसके पश्चात् द्वापर युग और अब कलियुग आया है। ये युग एक के बाद एक नीचे जाने के चरण हैं। मानव बौद्धिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और चारित्रिक, सभी पहलुओं में विकसित होने की अपेक्षा संकुचित होता जा रहा है, शुष्क होता जा रहा है।

इन्हीं दोनों मान्यताओं, दृष्टिकोणों और विचारधाराओं के कारण हमारे इतिहास और संस्कृति में इतनी ऊहापोह व्याप्त है। भारतीय साहित्य ने, आधुनिक वाङ्मय को छोड़, कभी यह स्वीकार नहीं किया कि कल आज की अपेक्षा बुरा था। संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों की तरह भारतीय संस्कृति की दृष्टि में भी कल स्वर्णिम था, कम-से-कम आज से बेहतर था। क्रमिक रूप से क्षीण से क्षीणतर होने की प्रक्रिया के कारण सृष्टि एक दिन नष्ट हो जाएगी, प्रलय आएगी। उधर विकासवादी के लिए हर आज कल से अच्छा है और हर आने वाला कल आज से भी बेहतर होगा। मानव प्रतिदिन प्रगति कर रहा है। उसके विकास की कोई सीमा ही नहीं है। जिस प्रकार आकाश अनन्त है, उसी प्रकार मानव के चहुंदिशी विकास की सीमा अनन्त है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन उनके मन में कहीं-न-कहीं यह डर जरूर छिपा है कि उत्तरोत्तर

विकास की गति से ही विस्फोट न हो जाए, जिसमें सब कुछ स्वाह हो जाए। ह्रासवादी इस द्विविधा से मुक्त हैं। वे मानते हैं नाश होना ही है, फिर पुनर्जन्म होना है, पुराना गिर जाना है, नया उग आना है।

यही दृष्टिकोण जातियों और वर्णों के सन्दर्भ में भी काम करते दीख पड़ते हैं। विकासवादी मानते हैं कि मनुष्य पहले गुफाओं में रहता था, उसका मस्तिष्क अविकसित था। भारत में अव्वल तो कोई मानव जन्मा ही नहीं, सभी बाहर से, विशेषकर भूमध्यसागरतटीय क्षेत्र या मध्य एशिया से आए, और अगर कोई मानव जन्मा भी, उसके वंशज इन हजारों सालों के बाद आज भी कहीं जंगलों में लुकते-छिपते जीवन निर्वाह कर रहे हैं और जनजातियों के रूप में अर्ध-मानव जीवन बिता रहे हैं। इन विकासवादियों की गणना में कोई जितना अविकसित, बर्बर, पशुवत है वह उतना ही प्राचीन, आदिम है। इसीलिए आदिमानव की खोज या आदिवासी का नामकरण हमें उसी वर्ग की ओर ले जाते हैं। हिमाचल के सन्दर्भ में हम छ्हांग, चनाह, डूमने आदि में प्रदेशके आदिमानव के दर्शन पाते हैं।

पुरातन भारतीय मान्यता है कि सृष्टि के प्रारंभ में सभी कुछ अच्छा था, धर्म था। समूचा जीवन धर्म पर आधारित था, उससे प्रेरित था। धर्म सम्पूर्ण था, उत्तम था, सर्वश्रेष्ठ था। अत: जब-जब धर्म अधर्म बनने लगा, मर्यादा अमर्यादा बनने लगी, तब-तब ईश्वर को, "धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे", जन्म लेकर धर्म की पुन: स्थापना करनी पड़ी, जिससे वही पहले वाला स्वर्णिम युग वापिस आ जाए, और मनुष्य उसी प्रकाश, दिव्यता और देवत्व की ओर जा सके। लेकिन विकासवादियों का 'एल डोरेडो' अभी दूर है, स्वर्णिम युग अभी आना है, विकास को अपनी सीमा पानी है। ये ही मौलिक परिकल्पनाएं हैं जिन्होंने इन दोनों मान्यताओं में इतनी अपाट्य खाई खोद रखी है।

सच्चाई क्या है? क्या ये दोनों मान्यताएं झूठी हैं? एक सच्ची है तो झूठी कौन? सच्चाई कहीं इन दोनों के बीच में ही है। सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के अनेक अवशेष व चिह्न प्राप्त हो रहे हैं, जिनसे कई सूत्र हाथ लगे हैं जो हमारी खोज में सहायक हो सकते हैं और हमारी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं।

ऐसा मालूम होता है कि भारतीय संस्कृति में वर्ण-व्यवस्था का जन्म न जाति-नस्ल के आधार पर हुआ और न केवल कर्म के आधार पर। आर्य ऊंचे हैं इसलिए वे ब्राह्मण या क्षत्रिय हुए, दूसरी जाति नीची है, छोटी है, अत: उसके लोग शूद्र ठहरे। स्थिति यह नहीं रही। न ही तो विशेष कर्म किसी विशेष वर्ग की बपौती या जागीरदारी रहा। एक वर्ग अथवा वर्ण के लोगों ने वही काम किया जिस पर दूसरे वर्णों का एकाधिकार समझा जाता था। यदि ब्राह्मण वसिष्ठ ने वेदमन्त्रों के दर्शन किए तो क्षत्रिय विश्वामित्र ने भी किए। यदि विश्वामित्र ने दशराज्ञ युद्ध में सेना-

संचालन किया, तो वसिष्ठ ने भी सुदास की सेनाओं का निर्देशन किया। भीष्म शस्त्रों का आचार्य था, तो समकालीन द्रोणाचार्य भी शस्त्रों-अस्त्रों की शिक्षा का सबसे बड़ा विशेषज्ञ था। इस कारण वह क्षत्रिय नहीं बना, और न ही शस्त्र केवल क्षत्रियों की बपौती रहे।

वर्ण जन्म के आधार पर भी नहीं उपजा। हम देख ही चुके हैं, आरंभिक दिनों में जन्म का कोई महत्त्व ही नहीं था। प्रजापति यदि राजा था, क्षत्रिय था, तो ब्राह्मण भी प्रजापति हुए। ब्रह्मा स्वयंभू हैं, सनातन है, आदि पुरुष है। उसके पुत्र मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ, सभी ऋषि हैं, सभी ब्राह्मण हैं, सभी प्रजापति भी हैं। उस युग में आदर्श संभवतः ऋषित्व एवं ब्राह्मणत्व था। लक्ष्य ब्राह्मणत्व प्राप्त करना था, ब्राह्मण बनना था और ब्राह्मण गुणों की प्राप्ति था। इसीलिए कालक्रम में ऋषि ब्राह्मण माना जाने लगा और उसके जीवन की सार्थकता ब्रह्मर्षि बन जाने में हुई।

वेद जिसे वर्णाश्रम कहते हैं वह जातिगत न होकर गुण-कर्म विभाग का पर्याय था। ऐसे वर्णाश्रम के पक्ष में महात्मा गांधी भी थे, दयानन्द भी रहे। गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है "चातुर्वर्ण्यम मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः"।

यहां भी विश्वामित्र का उदाहरण उचित होगा। पाणिनि के महाभाष्य (4/104) में लिखा है, "पहले वह गाधिराज था, नाम था विश्वरथ। उसने तपस्या की, मैं अनृषि न रहूं। वह ऋषि हो गया। पुनः उसने तप तपा, मैं अनृषि का पुत्र न रहूं, तब गाधिराज भी ऋषि हो गया। उसने पुनः तप तपा, मैं अनृषि का पौत्र न रहूं तब कुशिक भी ऋषि हो गया।" पितामह और पिता पुत्र के बाद ऋषि बने। इसका यह अर्थ हुआ कि जब कोई व्यक्ति अपने गुणों के कारण उच्च वर्ण में शामिल हो जाता, तब उसके साथ उसका समूचा वंश भी उसी वर्ण का माना जाता था। "वैदिक युग में भी, जाति अथवा वर्णाश्रम में कठोरता नहीं थी। ब्राह्मण एक ओर और बाकी अन्य। ब्राह्मणों से ही अन्य हुए। जैसे ब्रह्मवादी ऋषियों, वेद दृष्टताओं में वैवस्वत मनु और ऐल राजा पुरूरवा, दो क्षत्रिय ऋषि और तीन वैश्य ऋषि, भलन्दन, वत्स और संकील थे। ये तीनों वैश्यों में श्रेष्ठ थे। उधर वैवस्वत मनु ब्राह्मण था, वह क्षत्रिय हो गया। नाभानेदिष्ठ उसका पुत्र था, वह क्षत्रिय न रहकर वैश्य बना। ये तीनों वैश्य ऋषि उसी कुल से थे।"[1] इसका सीधा मतलब यह है कि वह ब्राह्मण कुल में जन्मा, लेकिन गुण क्षत्रिय के थे, अतः उसे क्षत्रिय माना गया। उसके पुत्र में न ब्राह्मण गुण थे और न ही क्षत्रिय गुण। इसीलिए वह वैश्य बना। लेकिन उसके वंशज गुणों में श्रेष्ठतर होते गए और उनमें से तीन ऋषि बन गए। इस तरह से गिरना और चढ़ना, यह क्रम चिरकाल तक

1. भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास

चलता रहा। वर्णाश्रम व्यवस्था का यही आधार रहा।

आदर्श ब्राह्मण बनना ही रहा। बड़े-बड़े प्रतापी सम्राट अपनी कन्याएं ब्याह में ऋषियों को देकर गौरव माना करते थे। जानश्रुति ने अपनी पुत्री रैक्क ऋषि को ब्याही। लोपमुद्रा राजकन्या थी, उसने अगस्त्य ऋषि से विवाह किया। सुकन्या भी महाराजा शर्याति की पुत्री थी, उसका विवाह च्यवन ऋषि से हुआ। इस प्रकार के दृष्टान्तों से महाभारत भरा पड़ा है।

यदि राजाओं की बेटियां ऋषि वरों में ब्याही गईं, तो ऋषि कन्याएं भी राजाओं को ब्याही गईं। कण्व ऋषि के आश्रम में पली महर्षि विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला का विवाह महाराजा दुष्यन्त से हुआ। वैदिक ऋषियों में एक ऋषि वीतहव्य था। वह पहले क्षत्रिय था, लेकिन एक भार्गव के वचन से ब्राह्मण बन गया। उसी कुल में विख्यात गृत्समद् और शौनक ऋषि हुए। गृत्समद दाशरथि राम का समकालीन था।

गुणों के आधार पर वर्णों की स्थापना की पुष्टि महाभारत में उल्लिखित एक अन्य वृत्तान्त से भी होती है।[1] भृगुवंशी महातपस्वी ऋषि ऋचिक ने गाधिराज से उसकी पुत्री सत्यवती का हाथ मांगा, तो राजा ने कहा : "तुम मुझे शुल्क प्रदान करो, तो मेरी कन्या का पाणिग्रहण कर सकते हो।" ऋचिक बोले, "हे राजेन्द्र, मैं तुम्हारी कन्या का क्या शुल्क प्रदान करूं, उसे कहिये।" राजा ने कहा कि "चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, वायु सदृश वेगशाली, एक कान से श्यामवर्ण के एक हजार घोड़े।" ऋषि घोड़े लाया और सत्यवती को ब्याह कर ले गया। ऋचिक ही च्यवन ऋषि थे।

कालोपरान्त सत्यवती ने पुत्र कामना की। उसने पति च्यवन से यह भी प्रार्थना की कि उसकी माता के भी पुत्र उत्पन्न हो। च्यवन ने कहा, "कल्याणि ! तुम्हारी माता ऋतुमती होकर अश्वथ वृक्ष का आलिंगन करे और तुम उदुम्बर वृक्ष का। तुम और वह इन मन्त्र-युक्त दो चरुओं में से एक-एक खा लो, दोनों को अभीष्ट पुत्र प्राप्त होगा।" लेकिन सत्यवती की माता ने यह सोचकर कि ऋषि ने अपनी पत्नी के लिए विशेष गुण वाला चरू बनाया हो, अपनी पुत्री के हिस्से का चरू खा लिया। ऋषि को जब सत्यवती से यह अदला-बदली मालूम हुई तो कहने लगे : "मैंने तुम्हारे चरू में विश्व ब्रह्म तेज परिपूरित किया था और तुम्हारी माता के चरू में सम्पूर्ण क्षत्रिय तेज भरा था। अत: तुम्हारी माता के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण पुत्र और तुम्हारे प्रचंड कर्म करने वाला एक क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न होगा।" सत्यवती ने प्रार्थना की : "प्रभो, मेरा पौत्र उग्र कर्म करने वाला क्षत्रिय हो जाए, परन्तु जिससे मेरा पुत्र क्षत्रिय न हो, वही कीजिए।" सत्यवती के जमदग्नि हुआ

1. आदि पर्व, चौथा अध्याय (10-11-12)

और उसकी माता ने विश्वामित्र को जन्म दिया। विश्वामित्र ने क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और ब्राह्मण वंश के कर्ता हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि गुणों ने ही वर्ण का निर्णय किया था।

इसी सन्दर्भ में विश्वामित्र की अपनी सन्तान का विवरण भी रोचक है। उसका ज्येष्ठ पुत्र शुनःशेप था। माना यह जाता है कि वह नागराज शम्बर की पुत्री उग्रा के उदर से उत्पन्न हुआ था।[1] अतः विश्वामित्र के अन्य पुत्रों ने शुनःशेप को प्रणाम नहीं किया, इस पर पिता ने उन्हें शाप दिया और वे चांडाल बन गए।

यही ऊपर चढ़ने, नीचे उतरने, फिसलने, गिरने, फिर उठने का सिलसिला लम्बे अर्से तक जारी रहा। वर्ण की सीढ़ी पर कोई लुढ़का, नीचे आ गिरा और कोई सबसे ऊपर चढ़ गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आरंभ में वर्णाश्रम गुणों पर आधारित था। कालोपरान्त उसका आधार कर्म हो गया और बाद में केवल जन्म ही आधार माना जाने लगा। जन्म-आधार के साथ ही वर्ण ने जाति का जामा पहना और उसमें ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा, जात-पांत की विसंगतियां आ गईं।

बाहिरके भीतरके : दो वर्ण

इस लम्बी चर्चा का उद्देश्य यह दिखाना है कि गुणों के बाद जब वर्ण कर्म पर आधारित हो रहे थे, तभी सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र से लोग यहां बस्तियां बसाने लग पड़े थे। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रदेश में यदि गहराई से देखा जाए, तो समाज के बहुत बड़े हिस्से में यह स्थिति लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक बनी आती दीख पड़ती है। हां, वर्ण में ऊपर चढ़ना तो आसान नहीं रहा, लेकिन गिरना, नए वर्ग, नए वर्ण बनने की प्रक्रिया जारी रही।

यदि सच पूछा जाए, तो हिमाचल में दो ही वर्ण हैं, जिन्हें बाहिरके और भीतरके कहा जा सकता है। समाज का यह विभेद अत्यन्त व्यापक है। बाहिरके लोग ही तथाकथित अनुसूचित जाति वर्ण है और भीतरके के अन्तर्गत सभी सवर्ण लोग आ जाते हैं। ऐसा मालूम होने लगता है कि इसी प्रकार का भीतरके बाहिरके का भेद उस पुराने युग में भी रहा हो। भीतरके तब वे लोग रहे होंगे, जो गढ़ या कोठी, नगरी एवं पुरी के भीतर रहते थे। बाहिरके वे लोग होंगे जो गढ़, कोठी, नगरी से बाहिर रहकर या तो कृषिकार्य करते रहे हों, या कोई इसी तरह का काम, जिस पर जीवन यापन के साधन पैदा करने की जिम्मेदारी रही होगी। बाहिरके वालों को नगर व गढ़ में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता रहा होगा, ठीक उसी तरह जैसा हिमाचल प्रदेश में ही नहीं, अन्यत्र भी, बाहिरके वाले किसी

1. मुंशी, लोमहर्षिणि

भीतर-के घर में दाखिल नहीं हो सकते हैं। यही जातपांत, छुआ-छात की कसौटी है।

कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में उन लोगों को, जिन्हें दुर्गों से बाहर रखने को कहा है, बाहिरिक का नाम दिया है। इस दृष्टि से वे लोग जो दुर्ग के अन्दर रहते होंगे, भीतरिक कहलाते होंगे। कल्पसूत्र में भद्रबाहू का कहना है कि महावीर के काल में नालन्दा, राजगृह का बाहिरिक था। यहीं महावीर ने चतुर्मास व्यतीत किया था। अतः बाहिरिक शब्द उपनगर अथवा नगर के बाहर की बस्ती के लिए ईसा से छः-सात सौ वर्षों तक प्रयुक्त होता रहा है।

प्रदेश के उन क्षेत्रों में जहां सारस्वत-सैन्धवों की बस्तियां बसीं, वहां भीतरक के लोगों के प्रायः दो वर्ग हैं, भाट एवं धणी। भाटों में ब्राह्मण आते हैं और धणियों में अन्य सवर्ण जातियां। इस सन्दर्भ में एक अन्य रोचक तथ्य उभरकर सामने आता है। सतलुज के किनारे की सारस्वत-सैन्धव बस्तियां साधारणतः 'ब्राह्मण-नगरी' कहलाती हैं, यह हम देख चुके हैं। लेकिन आधुनिक खोज के परिणाम स्वरूप इस प्रकार की ब्राह्मण बस्तियां उस सारे सप्तसिन्धु क्षेत्र में फैली थीं।

ग्रेगरी पोशल[1] का कहना है कि "सिन्धु घाटी के निचले भागों में ब्राह्मण बस्तियां कदाचित आम बात थी।" यहां पर एक प्राचीन नगरी मिली है, "जो संभवतः हड़प्पा की समकालीन है। यह पुरातन नष्टभ्रष्ट नगरी सिन्ध के मरुस्थल में उस स्थान से 15-16 मील की दूरी पर है, जहां से होकर सिन्ध रेल लाइन बिछाई गई। यह बात सन् 1840 के आसपास की है। इस प्राचीन नगरी की ईंटों को इस लाइन को बिछाने वाले इन्जीनियर, जोहन ब्रन्टन, ने 19वीं शताब्दी के मध्य में उखड़वा दिया। इस नगरी को स्थानीय लोग ब्राह्मणवाद कहते हैं।" इससे प्रतीत होता है कि वह नगर चिरकाल से ब्राह्मण नगरी रहा हो।

हिमाचल प्रदेश में भीतरके वर्णों में उच्च ब्राह्मणों और उच्च राजपूतों में शुचिता और पवित्रता के प्रति जो आग्रह है, वह संभवतः उसी युग की देन है।

1. हड़प्पन सिविलाइजेशन

चौथा अध्याय

देऊनाग

'देऊनाग' हिमाचल के मानव का 'जीऊ प्राण' है। वह उसके सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, नाचते-गाते सभी कामों में साथ है। उसने उसका सम्पूर्ण जीवन ही देवमय बना दिया है। वह उसका मित्र है, सखा है, माता, पिता, भाई है। चूंकि वह सदा साथ रहता है, इस कारण उससे अपनत्व भी इतना है कि उसे 'तू' कहकर बुलाया जाता है। वह परम देवता है, महादेऊ है।

"किसी देश की भौगोलिक स्थिति वहां के इतिहास और संस्कृति को विशेष दिशा देते हैं। धार्मिक मान्यताओं के अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है। अरब ने यदि असहिष्णु और अपरिवर्तनशील एकेश्वरवाद को जन्म दिया तो इसका मुख्य कारण उस प्रदेश की एकरंगी प्रकृति है, जहां सिवाय क्षितिज तक फैले रेगिस्तानी टीलों, इक्का-दुक्का नग्न चट्टानों और नीले पिघलते से आकाश में से बरसती आग के कुछ नहीं है। इस स्थिति में मानव को अनायास एक ऐसी सर्वशक्तिशालिनी सत्ता की उपस्थिति का आभास हुआ जो सशक्त, क्रूर और कठोर है, जो चाहती है कि उसके सामने सब सिर झुकाएं। दूसरी ओर भारत में जन्म लेने वाले धर्मों ने सर्वशक्तिशालिनी सत्ता को स्वीकार किया, लेकिन उसमें असहिष्णुता और हिंसा के गुणों को नहीं देखा। उन्होंने सहिष्णुता, विश्वबन्धुत्व और अहिंसा पर बल दिया है। इस प्रकार की विचारधारा का सीधा सम्बन्ध यहां की प्रकृति से है जो अनेकानेक रंग-रूप और स्वरों में मुखरित हुई है। यहां की शस्यश्यामला भूमि, पुष्प और फलों से लदे वृक्ष, मादक उषा और मनोहर सन्ध्या ने मानव-मन पर एक इन्द्रजाल-सा फेंका, किन्तु साथ में उसे एक अनूठी सजीवता भी दी, जिससे वह अपनी वस्तु तो श्रेष्ठ मानता ही है, दूसरों की वस्तु को भी बुरा नहीं कहता है। वह अपने मत की पुष्टि करता है, उस पर विश्वास रखता है, किन्तु दूसरे के मत का, विश्वासों का खंडन भी नहीं करता है। वह अपनी बात दूसरों पर लादना नहीं चाहता। वह मानता है कि सभी मतों, विश्वासों में कुछ न कुछ सच्चाई है, इसलिए वह चाहता है, वे भी फलें-फूलें। वह सहअस्तित्व

के आदर्श का पालन कर उससे समझौता कर लेता है और उसे समानता प्रदान करता है।[1]

प्रकृति के दो रूप

पर्वतीय क्षेत्र की प्रकृति सभी रूपों में प्रकट होती है। उसका सुन्दर लुभावना रूप भी और विकृत विकराल स्वरूप भी देखने को मिलता है। वस्तुतः पहाड़ी प्रदेश की प्रकृति विरोधी गुणों का सम्मिश्रण है जो एकसाथ सुन्दरता और भयानकता लिए है और यही उसकी विशिष्टता है। मन के लिए यह प्रकृति अनुपम सौन्दर्य का खजाना है, किन्तु शरीर के लिए यह क्रूर, कठोर, कुचल देने वाला तत्त्व बन जाती है। बर्फ से ढके शिखरों का सौन्दर्य, हरी-भरी उपत्यकाएं और चरागाहें, रंग-बिरंगे पुष्प, गहन जंगल, गहराई में गिरती फेनिल सरितायें, कलकल करते झरने और चहचहाते पक्षी यहां के मानव को प्रकृति के वैभव और मादकता का भागीदार बना देते हैं। दूसरी ओर कठोर जीवन, जीवन पर लदी कठोरता का भार, सीधी, तीखी रीढ़-सी पर्वत की चढ़ाई और वैसा ही सीधा-तीखा जीवन, हिंसक पशुओं की भरमार और प्रकृति की प्रचंडता तथा उसके क्रूर प्रभावों से संघर्ष मानव का मजाक-सा उड़ाते दीख पड़ते हैं। इन विपरीत तत्त्वों को देख यहां का मानव प्रकृति के डरावने रूप से सहम जाए तो आश्चर्य क्या ?

प्रकृति के कोमल रूप ने पहाड़ी मानव के मन को झंकृत किया और कठोरता ने कदम-कदम पर डर और बेसहारे के भाव को जन्म दिया। एक स्वरूप उसके कंठ की निर्झरिणी के बांध को तोड़कर एक सरस, मधुर धारा से जन-मन को सींचने में समर्थ हुआ, उसके अंग-प्रत्यंग को थिरकाने का कारण बना, तो दूसरे स्वरूप ने उसे डरपोक बनाकर उसके मस्तिष्क को सदा सुरक्षा ढूंढ़ने पर मजबूर किया। उसकी अधपक्की बुद्धि, उसकी अविकसित कल्पना आरम्भ में किसी स्वतंत्र अस्तित्व वाले तत्त्व का सृजन न कर पाई, फलतः उसने प्रकृति के दीखने वाले उपकरणों में ही इस माध्यम को ढूंढ़ा होगा। पत्थरों के टुकड़ों से उसने शायद शिकार किया, अपने शत्रुओं पर प्रहार किया, अपने आपको हिंसक जीवों से बचाया, इसलिए उसी पत्थर के टुकड़े में उसे सुरक्षा दीखी और धीरे-धीरे उसमें देवत्व का आरोप किया, यह साधारण तीखा पत्थर पहले शिला बना, फिर गोलाकार की पिंडी। जिस मिट्टी पर वह खड़ा था, उसने उसके लिए कन्दमूल, धान्य उगाया, जिससे उसके पेट की ज्वाला शान्त हुई। उसमें भी उसे सुरक्षा मिली, और उसके मन में सुरक्षा की भावना दृढ़ हुई, इसलिए वह मिट्टी भी, वह धरती भी देवता बनी। वृक्षों से फल मिले, छाया मिली, वह भी देवता बना और आकार

---

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन व कुल्लुई लोकसाहित्य

में जितना बड़ा, जितना घना पत्तीदार, फैलावदार विशाल वृक्ष रहा उतना ही बड़ा उसका महत्त्व दीखा। इसलिए वड़, पीपल और देवदारु में देवत्व माना गया। त्राण पाने के लिए, सर्दी-गर्मी, आंधी-तूफान से बचने के लिए, सिर छिपाने के लिए जो गुफा मिली, उसमें भी उसे देवत्व दिखा, क्योंकि वह भी तो सुरक्षा का माध्यम था। पीने के लिए जल आवश्यक है। उसके बगैर जीवन चल ही नहीं सकता. अतः जल भी देवता बना, और आज तक बना चला आ रहा है। इस प्रकार सर्वप्रथम उसने प्रकृति के इन पार्थिव उपकरणों में देवत्व देखा और फलस्वरूप पत्थर, वृक्ष, भूमि, वनस्पति, गाड़, धार, घराट, गिरि गह्वर सभी में देवता मिले, सभी देवता बन गए। उसके बाद उसकी नजर ऊपर उठी, इधर-उधर गई। सूर्य निकला, अनोखा, आश्चर्यचकित करने वाला, जीवन देने वाला। चन्द्रमा की शीतलता, कोमलता, कमनीयता पर मोहित हुआ। उनके व्यापार को समझ न सका, वे देवता बन गए, कल्याणकारी, रक्षक। इसी कड़ी में पवन में भी देवत्व आरोपित हुआ और जोगिणें देवता बनीं। कुछ प्राकृतिक व्यापार भयानक थे, डरावने थे, ये व्यापार दैन्त, राक्स कहलाए।

आनन्द व डर

इस प्रकार पर्वतीय मानव के मन में आनन्द और डर के भाव ने साथ-साथ जन्म लिया। यह स्थिति स्वाभाविक ही थी। आनन्द के भाव ने समय बीतने पर किसी ऋषि के मुख से यह कहलवाया कि 'आनन्दाद्धयेव खलू भूतानि जायन्ते', अर्थात् आनन्द से ही भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। जेम्स जी० फ्रेजर, वस्टेर मार्क और एस. रैनेक जैसे प्रकृति के पाश्चात्य अन्वेषकों ने उल्लास को मानव अभि-व्यक्ति का मूल कारण माना है। वे आदिम जातियों के रीति-रिवाज का गम्भीर अध्ययन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे। उन्होंने महसूस किया कि अतिशय भावावेग की अभिव्यक्ति का पहला प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ है। संगीत और भाषा के साथ नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति का सबसे पुराना प्रयत्न है। यह मजे की बात है कि जहां दूसरी कलायें क्रमशः विकसित होती गई हैं वहां नृत्य कला अपनी आदिम अवस्था में ही चोटी पर पहुंची मालूम पड़ती है। डा० कर्ब शेख्स ने 'वर्ल्ड हिस्ट्री आफ डान्स' में कहा है कि "यह बात कुछ विचित्र-सी लगेगी कि प्रस्तर युग के बाद नृत्य कला ने बहुत ही कम ग्रहण किया है। रचनात्मक नृत्य का इतिहास प्रागैतिहासिक काल में शुरू होता है।" एक अन्य विद्वान सुसाली के. लैंगर ने 'फीलिंग एण्ड फार्म' में कहा है कि "नृत्य वन्य जीवन का सर्वाधिक गम्भीर बौद्धिक व्यापार है। देश और काल से परे किसी अज्ञात लोक के सामने होने का प्रयास है। नृत्य एक ऐसी मानस-धारणा है, जो व्यक्ति जना-तीत है और जीवन और मृत्यु से व्यवहित होकर भी शेष प्रकृति से पलती है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो नृत्य का प्रागैतिहासिक मूल बिल्कुल आश्चर्य की बात नहीं है।"

नृत्य

सभी आदिम जातियों में मंडलावर्त नृत्य पाया जाता है। हमारे आदिम लोगों का प्रिय नृत्य नाटी रहा और नाटी आज भी उसी प्रकार मंडल में नाची जाती है। नाटी जैसे मंडलावर्त नाच के केन्द्र में कोई-न-कोई ऐसी शक्ति होती है जो मानव से ऊपर है, अतिमानव है। हिमाचल में वह शक्ति देऊनाग, देवी-देवता या उसके गूर में रहती है। इसमें कोई शक नहीं कि इस तरह के नाच का मूल प्रेरक मनोभाव उल्लास है। विविध प्रकार की चालों से वलयित, तालों से नियंत्रित, सिलसिलेवार नाचे जाने वाला यह नाटी नृत्य जीवन के किसी अज्ञात रहस्य केन्द्र से उल्लसित होता है। जब भी मानव का मन खुश हुआ, चाहे वह विवाह का अवसर हो, फसल पक कर आ गई हो, समय पर उचित मात्रा में वर्षा हो गई हो या वसन्त ऋतु का आगमन हो, प्रकृति अपने यौवन पर हो, मनुष्य की चेतना ने उल्लास इसी नृत्य द्वारा प्रकट किया। शायद यही कारण है कि हिमाचली मानव का समस्त जीवन एक तरह से नृत्य पर केन्द्रित है। नृत्य की नींव देवता है, मुख्य आधार देवता है। देवता स्वयं उसके नृत्य का साझेदार है, वह स्वयं नाचता है, लोगों को नचाता है। यदि देऊ नहीं तो नाच भी नहीं, नाच नहीं तो मेला नहीं, यदि मेला नहीं, तो जीवन में रखा ही क्या है? राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "इन लोगों के जीवन से देवता निकाल दो, तो जीवन सूना, नीरस अथवा यों कहें निरर्थक हो जाएगा। जीवन में इतना बड़ा स्थान रिक्त हो जाएगा और जीवन अत्यन्त सूखा लगेगा।"

लेकिन ये लोग डर को कैसे भूल जाएं? आसपास की भूमि से कैसे विमुख रहें? वे उड़ान में ही खोए रहते, नृत्य में ही भूले रहते यदि वास्तविकता उन्हें कदम-कदम पर ठोस भूमि पर टिके रहने को मजबूर न करती। क्षितिज की समीपता ऊंची-ऊंची चोटियों से घिरी उपत्यकाएं, गहन वन और उन वनों के शेर, चीते, बाघ, भालू जैसे हिंसक जीव, बड़े-बड़े शैल, ढांकें, चट्टानें, गहरे खड्डे और बड़ी तेज बहाव वाली हिमानी जल की तीखी चीरती-सी धाराएं, इन सबने मिलकर उन्हें अपने स्थान से ही चिपके रहने को मजबूर किया। उनका बस चले तो अपने घर से, गांव से, खेतों से बाहर न निकलें।

सद् एवं असद् शक्तियां

शुरू-शुरू में तो पहाड़ी मनुष्य निरन्तर प्रकृति से लड़ता रहा है। पहाड़ का उसका जीवन ही बड़े जोखम का है। जरा-सी चूक हुई कि हजारों फुट नीचे

खड्ड में जा गिरे या किसी तेज नदी की लपेट में आ गए। सामान्यतः आठ-दस महीने ही खुल कर घर से बाहर-भीतर आ पाते हैं। बाकी दिनों कटु पवन के थपेड़ों, बर्फीली झंझावत और फुटों बर्फ से दो-चार होना पड़ता है। उन्हें खतरा महसूस हुआ अपने चारों ओर के प्राकृतिक उपकरणों से। वृक्षों, पत्थरों, चट्टानों ने उन्हें हराया, डराया, हानि पहुंचाई। वे डर गए। जैसा हम देख चुके हैं, उन्होंने इन तत्वों से बचने के लिए कोई माध्यम ढूंढ़ा। दूसरी ओर उन्होंने इन क्रूर प्रतीकों, आत्माओं और पदार्थों को भी तुष्ट करने का संकल्प किया, उनकी मनौती मनानी शुरू की। उनमें ही देवत्व आरोपित कर दिया। किसी सीमा तक अभय तो जरूर हुए, लेकिन महसूस किया कि कष्टों का, डर का अन्त नहीं हो पाता है। उन्हें अपनी ही परछाईं का डर समा गया। आधि-व्याधि ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। वे सोचते गए और आखिर में इस नतीजे पर पहुँचे कि इस प्रकार के कोई और भी क्रूर तत्त्व होंगे जो अदृश्य हैं, जो खुलकर सामने नहीं आते, जिनसे प्रति-दिन का वास्ता नहीं है, लेकिन जो नुकसान पचाहुंने में कभी नहीं झिझकते। नतीजा यह कि मानव ने क्रूर शक्तियों की कल्पना की और ऐसी क्रूर शक्तियों को नाम भी आसानी से मिल गए—असुर दैत्य, राक्षस और दानव। मज़ेदार बात यह कि ये नाम उन जातियों के हैं जो ऋग्वेद में चर्चित हैं और जिन्हें आर्यों ने चाहे गृहयुद्ध में चाहे जातीय युद्ध में पराजित किया था। ये जातियां सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के प्रारंभिक दिनों में शायद हार गई थीं, इसी कारण "जो जीते सो राम, जो हारे सो रावण" वाली कहावत के मुताबिक बेचारी ये जातियाँ क्रूर तत्त्वों के पर्याय बन गईं और बाणासुर, जो हिमालय के बहुत बड़े भाग का शासक था, शायद ऋग्वैदिक शम्बर के समान, वह असुर बना दिया गया, वह दानव बन गया। इसी तरह सतलुज-सरस्वती क्षेत्र का प्रतापी किरमत दानु नरभक्षक कहलाया। उधर व्यास उपत्यका का हिडिम्ब राक्स बना और चन्द्र भागा का तांडी भी उसका भाई बन्द गिना जाने लगा।

क्रूर तत्त्वों के इसी भाव ने प्रेतात्मा का सृजन किया। अपने से अधिक शक्तिशाली प्राणी, जिसे उसके जीवनकाल में वे जीत न सके और जिसके हाथों-त्रस्त रहे, मृत्यु के उपरान्त भी वह भय का कारण बना रहा। समय बीतने पर इस तरह के मृत राजाओं, सरदारों, मुखियों और नेताओं की एक और श्रेणी बन गई। स्त्रियां डाकिनियां, चुड़ैलें बनीं, कुछ जोगणें कहलाईं और पुरुष दैत्य और राक्स। इतना ही नहीं, पहाड़ी मनुष्य प्रकृति के प्रायः सभी तत्त्वों से डरने लगा। बिजली, जोर की वर्षा, बादलों की गड़गड़ाहट, जलप्रपात का घोर गर्जन उसे भयाक्रान्त करने लगा और उसने उनमें कुछ क्रूर गुण और कुछ सद्गुणों का आरोप कर उन्हें भी देऊ बना दिया। पर्वत शिखर को काली कहा, तेज हवा को 'लांकडा वीर'। असुरों के साथ रहने से कई बार ये 'लांकडा वीर' नरभक्षी भी

बन गए । इस प्रकार के नरभक्षी लांकडा देऊ का जोर सराहन की भीमाकाली के मंदिर में माना जाता रहा है । यह लांकडा मनुष्यों को अपनी बलि देने के लिए प्रेरित करता था । उधर देवदारु के प्रत्येक बड़े तने में भी पहाड़ी मानव को एक देऊ बसा हुआ दिखा और उसके प्रतीक निमित्त तने के पास एक शिला बैठा दी और तने पर लोहे-ताँबे के टुकड़े गाड़ दिए । उसने गुफा-गह्वर में पड़ी कंकरियों में भी देवी देऊ की आत्मा देखी और जब कभी वह उस गुफा के पास से गुजरा, सुस्ताने के लिए रुका या रात बिताने के लिए ठहरा उसने उन कंकरियों के ढेर में अपने हिस्से की भी एक कंकरी जोड़ दी । इस कंकरी जोड़ने में सुरक्षा की कामना ही रही ।

पहाड़ी मनुष्य पर्वत-शिखर पर अकेले चढ़ते हुए डरता है, गुफा में प्रविष्ट होने से झिझकता है, देवदारु के निकट जाना नहीं चाहता । परन्तु करता वही है, जो करना नहीं चाहता । वह पर्वत पर अकेले चढ़ता है । वह चढ़ता ही नहीं, अक्सर अपनी भेड बकरियों सहित वह पर्वत-शिखर को अपना डेरा ही बना डालता है । गुफा में प्रवेश ही नहीं करता, उसे रेनबसेरा बना लेता है और अपने रेवड के साथ उसी में महीनों रहता है । देवदारु को काटता है, चीरता है । डोगरों की विश्वविख्यात वीरता संभवत: डर को जीतने के इसी भाव की अभिव्यक्ति है । पर क्या वह सचमुच डर से बच गया ?

इस प्रकार उसके जीवन में डर और निडरता का सदा चलने वाला संघर्ष है, जिसने देव और किसी पारलौकिक शक्ति में उसका विश्वास जागृत किया । हम कह सकते हैं कि उसके विश्वास प्राकृतिक और भौतिक बाधाओं, उनके रहस्यों और अदृश्य शक्तियों के अज्ञान-ग्रस्त कौतूहल से संबंधित हैं, इसलिए उनमें पारलौकिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण हो उठा है । उसने वनस्पतियों और जीवों में पारलौकिक शक्ति के दर्शन ही नहीं किए, वरन् उसने जड़ और चेतन को अपने अन्तर्जगत की भावना से भिन्न एक व्यक्तित्व भी प्रदान किया ।

इस व्यक्तित्व में जैसा हम पहले कह चुके हैं, अनिष्टकारक और मांगलिक गुणों का भी उसने आरोप किया तथा जो देवी देऊ केवल दंड देते, कठोरता बरतते, अनिष्ट करते, वे अवसर पड़ने पर अब सहायता भी करने लगे, उनमें करुणा का भाव जगा और वे कल्याणकारी बन गए । इससे पूर्व पूजा के पात्र यदि प्रत्येक अपराध या भूलचूक को अक्षम्य और दंडनीय समझते थे, तो यह नया व्यक्तित्व क्षमा करना भी जानता था, दंड के स्थान पर वरदान भी दे सकता था । इस प्रकार की भावना के उपयुक्त सिद्ध हुआ शिव या महादेऊ, जिसका प्रभाव इस प्रदेश के जन-जीवन पर अत्यन्त व्यापक है ।

शिव : परमदेव

शिव को परमदेव स्थापित करने में यहां के भूगोल ने तो सहायता की ही, उससे भी अधिक प्रेरणा यहां के मूल निवासियों की जातीय परम्परा से प्राप्त हुई है। शिव नागों का आराध्य देव था। वे पिंडी के रूप में उसकी पूजा करते थे। वैसे भी आदि ऐतिहासिक काल में विश्व की सारी आर्येतर जातियां शिव, शंकर की पूजा करती मालूम पड़ती हैं। एक विद्वान के अनुसार संयुक्त अरब गणराज्य के दक्षिण में इथियोपिया के चन्द्रशैल से निकली नील नदी के अधिष्ठाता शिव माने जाते थे। इसकी मूर्ति के सम्मुख एक बैल की मूर्ति बनाई जाती थी, जो स्पष्टत: नंदी का ही रूप था। दक्षिण अमेरिका के पेरू देश में ईश्वर को 'सिबु' नाम से पुकारा जाता था, वहां भी प्राचीन स्थलों की खुदाई में शिवलिंग जैसी मूर्तियां मिली हैं। इस्लाम के जन्म से पहले अरब में जिस देवता की पूजा होती थी, उसे 'लाट' या 'लात' कहा जाता था। वह 'लाट' शिवलिंग पिंडी का ही रूप था।

सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र के मोहनजोदाड़ो तथा हड़प्पा आदि नगरों के अवशेषों में शिव की पशुपतिस्वरूप की मूर्तियां मिली हैं, जिससे मालूम होता है कि वहां पर शिव-पूजा व्यापक तौर पर होती थी। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि शिव-पूजक आग्नेय जाति के नाग उसके जन्मदाताओं में से थे। शिव के दक्षिणमूर्ति रूप चित्रण में शिव के चरणों के साथ जमदग्नि, वसिष्ठ और भृगु और दाईं ओर नारद बैठे दिखाए जाते हैं। ये ऋषि वैदिक युगीन थे और जमदग्नि जैसा हमने देखा सरस्वती-सिन्धु लोगों को हिमाचल में बसाने के लिए साथ लाए थे।

शिव सारस्वत-सैन्धवों का आराध्य था। जब वे लोग हिमाचल के भीतरी भागों में बस्तियां बसाने आए, तो उन्हें यहां पर वे लोग मिले जो स्वयं शिवपूजक थे। अत: दोनों दलों का सम्मिश्रण बिना किसी विशेष कठिनाई के हो गया और शिव सभी लोगों का देवता बना रहा।

यों भी हिमाचल में देवता के लिए केवल दो ही चीजें पर्याप्त हैं, एक पत्थर की पिंडी, दूसरे फूल-पत्तियां, जिससे उसकी पूजा हो सके। यदि धूप, दीप, अक्षत, चंदन या सिन्दूर अथवा कुंकम न हो तो भी काम चल पड़ता है। पिंडी पर फूल चढ़ाने से, यदि फूल न हों, तो हरी पत्तियां चढ़ाने से ही पूजा हो जाती है। शिव के महादेऊ रूप के लिए तो पिंडी भी नहीं चाहिए। दरकार है तो सिर्फ एक धागा, भले ही वह किसी रेशेदार छिलके से निकाला गया हो, जौ की हरी पत्तियां, पाजा नामक झाड़ी की सुगन्धित पत्तियां, बिल पत्र, शारशा और महुआ के जंगली फूल और खट्टा फल। अर्थात् केवल वे साधन जो मानव की आदिम अवस्था में

सुलभ थे जब वह खेती-बाड़ी भी ठीक तरह से नहीं जानता था और स्वयं उगे या फले-फूले अन्नों-फलों पर निर्वाह करता था। इस तरह हमने देखा कि आखेट करने का अथवा अपनी सुरक्षा का अस्त्र, पिंडी, भी देवता बन गई और जंगली पेड़-पौधों की पत्तियों से भी देवता बनाया गया। ऐसा लगता है कि देवता का स्वरूप पत्थर की पिंडी से आगे बढ़कर घास-पत्तियों, फलों-फूलों और अन्य वनस्पतियों तक आया।

रथ और मुखोट

ज्यों-ज्यों सुविधाएं बढ़ती गईं, आबादी ज्यादा हुई, सामाजिक चेतना विकसित हुई, देवता के लिए रथ का आयोजन किया गया और फिर उस रथ को सजाने-संवारने, आकर्षित बनाने के लिए वस्त्राभूषणों का प्रयोग हुआ। लेकिन बिना मुख का शरीर कैसा? अतः उसे चेहरा देने के लिए, रथ को पूर्ण बनाने के लिए मोहरा अथवा मुखोट का आविष्कार किया गया। आरंभ में कोई भी, किसी भी प्रकार की आकृति इन मुखोटों पर अंकित रही होगी, किन्तु समय के साथ वे परिष्कृत होती गईं और उनके निर्माण की एक अलग कला ने जन्म लिया। मंदिरों में स्थापित मूर्तियों की तरह ही इनके बनाने में एक विशेषत्व रहा और पृथक् व्यवसाय का विकास हुआ। मंदिरों के लिए मूर्तियां पहले बनीं या इन रथों के मुखोट, अब कहना कठिन है। संभवतः मंदिरों की मूर्तियों का सृजन पहले शुरू हो गया होगा, क्योंकि शुरू में तो ये मूर्तियां पत्थर की रही हैं। धातु के प्रयोग के बाद ही धातुमूर्तियां बनीं और ये सभी मुखोट धातु के ही हैं। कुछ विद्वनों की इस मान्यता में कि भारत में मूर्ति-पूजा पाणिनि काल (500-450 ई० पू०) से चली आ रही है, कितनी सच्चाई है, कहना कठिन है। सरस्वती-सिन्धु के मैदानी भागों से जो दल यहां आए, वे संभवतः धातु-मूर्तियां अपने साथ नहीं लाए थे। यह बात मलाणा में जमलू और निरमंड में परशुराम के मंदिरों से जाहिर है। जमलू की कोई मूर्ति है ही नहीं, मलाणा में जमलू मंदिर में हाथी की एक चांदी की प्रतिमा है, जिसकी पीठ पर सोने का महावत है। यहां मनौती के तौर पर चांदी के हाथी-घोड़े ही चढ़ाए जाते हैं। लगता है आज जिस मूर्ति की पूजा होती है वह परम्परानुसार अकबर की भेंट की हुई प्रतिमा है, अन्यथा महावत वाले हाथी की पूजा का क्या सरोकार? हाथी न यहां की किसी किंवदंति में आता है और न ही देवता संबंधी आख्यान में। बड़ा ग्रां, हामटा, सोयल, शंगचन, जगतसुख, कटराईं, बुरुआ, शेगली, डेफरी, भाडका और प्रीणी तथा शिमला में क्यार के निकट देउधार में, जहां जमलू के मंदिर हैं, और जहां सरस्वती-सिन्धु के लोग आकर बसे, या मलाणा क्षेत्र में आने के बाद गए, वहां की प्रतिमाएं हाथी और महावत की नहीं हैं। मलाणा में जमदग्नि का न तो कोई रथ है और न ही कोई बुत, मूर्ति या मोहरा।

देवता के अस्तित्व और महत्त्व का केवल एक निशान वहां मौजूद है, जो उसका खण्डा है, जिसे स्थानीय भाषा में टुंडाच कहते हैं। चन्द्रभान नामक एक और खण्डा भी है।"[1]

काल-काम-परशुराम

निरमंड के परशुराम कोठी में भी शुरू में कोई मूर्ति नहीं थी। जीवित व्यक्ति की मूर्ति बनाने का प्रचलन तब नहीं था। माना यह जाता है कि परशुराम अपनी कोठी की एक गुफा में समाधि में बैठते हैं और बारह वर्षों के उपरांत समाधि से उठते हैं। इस अवसर पर एक महायज्ञ होता है। परशुराम उसमें सम्मिलित होते हैं और यज्ञ पूरा हो जाने पर पुन: गुफा में प्रवेश कर समाधिस्थ हो जाते हैं। यह क्रम चिरकाल से चला आ रहा है, लेकिन न जाने कब समाधिस्थ परशुराम की काम-काल-भार्गव त्रिमूर्ति बनाकर स्थापित कर दी गई। उस भव्य मूर्ति के परशुराम श्रुतिधर हैं, सदा धर्म की रक्षा में तत्पर हैं, निरमंड, चिपलूण (महाराष्ट्र) और माहेन्द्र पर्वत पर उनका वास है। वे त्रिगुणात्मवान हैं। उनकी मूर्ति में बाईं ओर देवताओं का साथी पंचशर (काम) है, दाईं ओर काल (यम) और बीच में भार्गवनन्दन, स्वयं परशुराम हैं। खेद है अब यह मूर्ति भी नहीं रही। चोर उसे उठाकर ले गए। चांदी और त्रिनेत्र में लगे हीरे के लालच में मूर्ति को तोड़फोड़ कर बेच खा गए।

विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो इस नष्ट काल-काम परशुराम मूर्ति को ऐलीफैन्टा गुफा के शिव महेश्वर की विख्यात त्रिमूर्ति का ही प्रतिरूप मानता है। उसकी गणना में इन दोनों में इतना अधिक साम्य है कि भेद करना कठिन हो जाता है, और जो शब्द[1] राधाकमल मुखर्जी ने ऐलीफैन्टा के शिव महेश्वर के लिए प्रयुक्त किए वे कमोबेश काल-काम-परशुराम की मूर्ति पर भी लागू होते हैं। इस मूर्ति में भारतीय दर्शन की सर्वाधिक तर्कसंगत, सक्षम और पावन अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रतिमा के बीच का मुख स्वयं-प्रभासित, निरपेक्ष और पारलौकिक 'तत्पुरुष सदाशिव' का है। दाहिना मुख उग्र भृकुटी ताने हुए तथा वैराग्य व विनाश की भावना से उद्धृत 'अघोर भैरव' का है, और बायां मुख है शिव की संगिनी, परम सौन्दर्यमयी, आभूषणयुक्त उमा का, जो अपनी चपल सृजनशीलता, प्रेम और करुणा के बल पर लासमयी है। भारतीय संस्कृति में उमा अथवा शक्ति, जिनके हाथ में सदा कमल रहता है, अर्थ और काम अर्थात् सम्पत्ति, सौन्दर्य और जीवन-सौख्य की देवी है। अपनी अंगुलियों में सांप लपेटे अघोर भैरव धर्म और

---

1. कुलूत देश की कहानी
2. भारत की संस्कृति

मोक्ष के प्रतीक हैं और आत्मलीन तत्पुरुष के लिए सृजन और संहार क्रिया और प्रशांति का सतत गतिशील चक्र केवल क्षणिक माया है, जो जन्मती, बढ़ती और अन्य सभी मायावी आकारों की भांति तत्पुरुष में ही विलीन हो जाती है। इस आध्यात्मिक त्रिमूर्ति के कुछ दूसरे रूपों में प्रशान्त योगी की भांति सदाशिव तो मध्य में हैं ही, किन्तु दाहिनी ओर खप्पर से रक्तपान करते हुए महाकाल तथा बाईं ओर एक दर्पण में प्रतिबिम्बित ब्रह्मांड के रूप में अपने सौन्दर्य का अवलोकन करती हुई महामाया हैं। संस्कृति के भारतीय दर्शन में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतु:वर्ग) का सम्मिलन और ऐक्य है, जो आत्मा और माया की यथार्थ प्रकृति पर आधारित है। इसका प्रतीक है शिव की त्रिमूर्ति में एक विशाल मुकुट का निर्भीक और मौलिक प्रयोग, जिसके बल पर शिव के तीनों शिरों में अन्यतम सन्तुलन और ऐक्य उत्पन्न हो जाता है।

शिव सर्व-सन्तुष्ट, सर्व-सन्तुलित और सार्वभौम है। शिव के अन्य दो मुख— अनुभूत अथवा निम्नतर आत्म-निरन्तर सक्रिय और निश्चयात्मक हैं। मायावी संसार का सृजन, रूपान्तरण और अनुभव करते रहते हैं, फिर भी ये आत्म के उच्चतर, शाश्वत, एकान्त सत्य सदाशिव के ही अंग हैं और उसी से उद्भूत भी। अत: सत्य, शाश्वत और अनन्त के कारण ही असत्य, नश्वर और सीमित का बोध होता है। यह है शिवत्व की विराट कल्पना, जिसके अनुसार जीवन और मृत्यु, ब्रह्मांड के सृजन और रूपान्तरण की शाश्वत गति में परमात्मन् का ही स्पन्दन है। यह मूर्ति पुरुष और प्रकृति के आदिकालीन तीन रूपों को व्यक्त तो करती है, फिर भी किसी स्वाराध्य देवता की मूर्ति नहीं है। यह तो धर्म और सामाजिक परम्परा से परे एक प्रजातीय क्रिया, मानवीय आत्मा के रूपान्तरण का प्रतीक और आह्वान है। इसकी भाषा सार्व-भौम है।

देवताओं के सात वर्ग

हिमाचल के देवताओं को विश्लेषण की सुविधा के लिए हम सात वर्गों में बांट सकते हैं : (1) घर अथवा गरिहा, (2) घर का देवता अथवा गृह देवता, (3) ग्राम देवता, (4) खूंद व अल्ल देवता, (5) क्षेत्र देवता, (6) पौराणिक देवी-देवता, तथा (7) महादेउ या देऊ नाग।

घौरे गरिहा

घीरे गरिहा वस्तुत: गृहलक्ष्मी का पर्याय-सा दीखता है। यह देवता अमूर्त है, केवल एक भाव मात्र है, अनुभूति है। घर में कोई अनुचित व्यवहार न हो, अनैतिक कार्य न हो, यह निश्चित करने के लिए ही शायद इस दैवी शक्ति की कल्पना की गई हो। यदि कोई अनुचित कार्य या बात घर में की जाए तो तुरन्त

कहा जाता है "ऐसा मत करो, ऐसा मत कहो, घर की गरिहा कांप जाएगी।" इस प्रकार की शक्ति स्वयं घर बन जाता है, उसी के कमरे को कोनों और दरवाजों को धूप दीप 'धूप पाची' दिया जाता है। दरवाजे से बाहर दिशाओं को भी 'धूप पाची' दी जाती है। यह शक्ति केवल परिवार के लिए ही है। उस घर में रहने वाले लोगों को ही इस गरिहा की अनुभूति होती है।

गृह देवता

दूसरा गृह देवता है। यह देवता सामान्यत: कोई पूर्वज पितर सा रहता है। या परिवार की कोई 'सती' हुई स्त्री होता है। 'सती के बुटड़े' इसी श्रेणी में आते हैं। उसे कहीं-कहीं 'तया' कहा जाता है, यह मंगल एवं असंगलकारी दोनों गुणों वाला है और नई फसल आने पर इसकी पूजा की जाती है। इसकी कोई प्रतिमा भी होती है, कहीं नहीं भी होती है। इसी गृह देवता का एक शुद्ध मंगलकारी स्वरूप भी है, वह घर की रक्षा करता है, कुटुम्ब का त्राणदाता है और वरीन्द के अर्घ्य का अधिकारी है। कहीं-कहीं यह कुल देवता या कुलजा का रूप भी ले लेता है। इसकी मान्यता के पीछे घर की रक्षा, सुख-समृद्धि की प्राप्ति का विशेष उद्देश्य रहता प्रतीत होता है। यह कामना है भी स्वाभाविक, विशेषकर जब हम देखते हैं कि हिमाचल में बहुधा घर दूर-दूर, बस्ती से बाहर होते हैं, कहीं धार पर, चोटी पर, कहीं पर्वत के ढलान पर, कहीं तेज बहती नदी के किनारे। जहां भी कमाने योग्य थोड़ी बहुत-जमीन मिले, वहीं घर डाल दिया जाता है। घर बनाने का इन्हसार व्यक्ति की अपनी इच्छा या अपनी छांट पर नहीं होता है, उसका एकमात्र आधार केवल भूमि का सुलभ होना है, जिससे अन्न पैदा किया जा सके, पशुओं के लिए चारा मिल पाए। यदि निकट में कहीं झरना हो, चश्मा हो तो बहुत अच्छा, किन्तु न भी हो, तब भी काम चल जाता है। मील दो मील ऊपर-नीचे से पीने के लिए पानी लाया जा सकता है। इस प्रकार के घर के लिए कोई रक्षक शक्ति नितान्त अनिवार्य है। कई बार सारे-सारे दिन यह घर खाली निर्जन रहता है। परिवार के सभी लोग बाहर खेतों में, घासनियों में, जंगल में, काम करने गए होते हैं, घर अरक्षित रहता है। तब यही गृह देवता उसकी रखवाली करता है।

ग्राम देवता

ग्राम देवता सारे गांव का देऊ है, अत: हिमाचल में जितने गांव हैं प्राय: उतने ही देवता हैं। इसलिए उनका पृथक्-पृथक् उल्लेख असंभव है। यही वह देवता है जिसके इर्द-गिर्द यहां का सम्पूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक जीवन घूमता दीख पड़ता है। ऐसा लगता है कि इसी देवता की धुरी पर हिमाचली मानव का अस्तित्व है, या यों कहें कि यही देवता है जिसके हाथ की वह कठपुतली है। जब

जैसे चाहे नचा ले।

इस देवता का मतलब है हर दूसरे-तीसरे महीने नियमित भोज, नाचना-गाना। इस देऊ का अर्थ है समय-समय पर छोटे-मोटे उत्सव। इनमें कई स्थानों पर नर-नारी सामूहिक रूप से सम्मिलित होते हैं। यहां मनोविनोद के अन्य साधन नहीं हैं, अतः ये देव ही मनोविनोद के अवसर प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, यदि मांस खाना हो तो देवता को अर्पित कर खा लो, अच्छा भोजन चाहिए, तो देवता के देउरे में भोज का आयोजन कर लो या उसका कोई पर्व मना लो। जब घी खाने को मन करे, देवता को चढ़ा दो, और ले लो। नाचना-गाना हो, कहीं मिलना-जुलना हो, वर्तमान-भविष्य के मुतल्लिक जानना हो, तो देवता को पूछ लो। गर्ज कि यह देवता हर मर्ज की दवा है।

इन ग्राम देवताओं के प्रति लोगों के मन में अद्भुत भाव हैं। यदि एक ओर ये देवता लोगों के सर्वस्व हैं, जिनकी जरूरत कदम-कदम पर, प्रातः उठते ही पड़ती है, तो दूसरी ओर उन्हें कोटेश्वर महादेव और गोली नाग की तरह नदी में भी फेंका जा सकता है। उनका सत (सद् प्रकृति) क्षीण हो जाने पर तूंबी या घड़े में बन्द कर कूड़े-करकट के बीच भी डाला जा सकता है। कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जब किसी देवता को दंडित किया गया और जेल में बन्द कर दिया गया। कैद से मुक्ति तभी मिली जब उसने भविष्य में सद्व्यवहार, सद्आचरण का आश्वासन दिया। यों भी यदि देवता अर्ज़ मारूज न माने, या कष्टों के निराकरण के लिए कोई प्रभावशाली कदम न उठाए, तो उसे सजा मिल सकती है और उसका 'डांड बांध' का अधिकार उसी पर प्रयुक्त हो सकता है। एक ओर इतना डर कि ग्राम देवता के प्रति मन में लेशमात्र भी अश्रद्धा का भाव न आने पाए और उसके इशारे पर खेत में जुते बैलों को छोड़कर दो-चार दिन उसके रथ को नचाया-घुमाया जाता है, तो दूसरी ओर उसके साथ बराबरी का व्यवहार भी किया जाता है। उसे निमित्त बना कर सामाजिक दायित्व निभाए जाते हैं, पुन (पुण्य) प्राप्त किया जा सकता है। वह नाचने-गाने, मेला-त्यौहार में लोगों का साथी होता है। यहां तक कि उसके जिम्मे प्रेमी या प्रेमिका को ढूंढ़ लाने का काम भी सौंपा जाता है या उस काम में उसकी सहायता ली जाती है। वह कर न पाए तो निराशा का ठिकाना नहीं रहता, असमर्थता की पराकाष्ठा हो जाती है, उस रमणी की तरह जो "देउआ-देवी न पूछिया थौकी, थौकी देशा-देशा न भाली। फिरी बी लोभी नी मिलू आपणा, बोह मैं विपता घाली।" अपने 'लोभी' को देश-विदेश में खोज आई और सभी देवी-देऊओं को पूछ कर हार गई, लेकिन प्रेमी को पा न सकी और फलस्वरूप अत्यन्त विपत्ति में फंस गई।

हिमाचल में देवता के चार उपकरण जरूर होने चाहिए, एक रथ या जमाण,

दूसरा मुखोट, तीसरा गूर, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे और चौथा कोठी। कहीं हर रोज पूजा के लिए कोई मंदिर भले ही न हो, लेकिन कोठी अवश्य चाहिए, जहां जमाण, मुखोट आदि रखे जा सकें। सामान्यतः ग्राम देवता का देऊरा होता ही है, जहां कोई पिंडी या मुखोट मूर्ति का काम देता है। बड़ा देऊरा हो, तो देवता का रथ (जमाण) भी होगा। इस तरह यह देवता मूर्त है, साकार ही नहीं बृहदाकार है। इस परिवेश में वह नाचने-गाने, मेला-त्यौहार में लोगों का साथी है। बिना देवता के मेला हो नहीं सकता, और बिना रथ के देवता। रथ के बिना न देवता और न नाच ! हां, जब देवता रथ पर आरूढ़ होकर मेलास्थल पर न आना चाहे तो उसके मंदिर में ही नाटी लग सकती है।

खूंद देवता

इस नाच-गाने और अन्य सामाजिक दायित्व को निभाने में परगने या खूंद व अल्ल का देवता भी सहायक होता है। यह देवता आरंभ में शायद ग्राम देवता ही था, लेकिन अपनी परजा (प्रजा) के अन्यत्र जा बसने के कारण उनके साथ हो लिया। जहां-जहां इसकी प्रजा जा बसी, यह देवता उन-उन स्थानों, गांवों का देवता भी बन गया। इस पद की प्राप्ति उसे सहज रूप से नहीं हुई। उस गांव में पहले से माने जाने वाले देवता के साथ उसका काफी संघर्ष रहा, और उस संघर्ष में अधिक बल दिखाने के बाद और अपने प्रतिद्वन्द्वी को हर बात में निर्बल, हीन सिद्ध करने के उपरान्त ही उसकी मान्यता बनी। इस तरह के संघर्षों की कथाएं अनेक आख्यानों में हैं, और देवता का गूर आत्म-परिचय देते हुए उनका उल्लेख करता है। इस प्रकार ये देवता ग्राम देवता से परगना या खूंद देवता बन जाते हैं, क्योंकि आम तौर पर किसी गांव से बाहर जाकर बसने वाले लोग दूर न जाकर आसपास के ही गांव या इलाके में जाते हैं, जिससे अपने भाई-बन्धों से कट न जाएं और सामाजिक मेलजोल भी बना रहे।

क्षेत्रीय देवता

एक और देवता है जिसका प्रभाव-क्षेत्र काफी बड़ा है और अनेक परगनों, पुरानी रियासतों और आधुनिक जिलों तक फैला है। इस प्रकार का देवता सामान्यतः स्वयंभू है। देवता संबंधी लोक गाथाएं इस तरह के देवता से भरी पड़ी हैं। इस श्रेणी के प्रायः सभी देवताओं ने या तो लोगों को स्वप्न से आकर अपने लिए देउरा बनाने को कहा, या गवालों ने आकर गृहस्थों को बताया कि उनकी दुधारू गाएं किसी पिंडी पर दूध देती हैं। वहीं पर उनकी पूजा का प्रबन्ध किया गया। कुछ एक ऐसे देवता भी हैं जिन्हें दूसरी जगह से बुला कर लाया गया है जिससे वे किसी अन्यायी, क्रूर देवता, राक्स, राजा या राणा से मुक्ति दिला सकें।

महासु इन देवताओं के प्रतिनिधि के तौर पर लिया जा सकता है। किरमत दानू के अत्याचारों से उसकी प्रजा पीड़ित थी। विशेष कर उसकी नरमांस-भक्षण की आदत से। लगभग सभी परिवार उसकी इस भूख का शिकार हो चुके थे। एक ब्राह्मण की चार कन्याओं को दानू पहले ही खा चुका था। अब अन्तिम कन्या की बारी थी। तभी उसकी पत्नी को स्वप्न में काश्मीर के किसी देवता ने सुझाया कि वह उसकी कन्या की रक्षा कर सकता है। पब्बर और टोंस नदी क्षेत्र में रहने वाला यह गरीब ऊणा भाट जेहलम के किनारे रहने वाले स्वप्न में देखे देवता से एकदम अपरिचित था। उसने न कभी उसका नाम सुना न ही उसे देखा था। पता करते-कराते वह हाटकोटी पहुंचा और वहां नाग पंडित से जानकारी प्राप्त की और काश्मीर का मार्ग पूछा। देवता की कृपा से मार्ग में उसके मानों पंख लग गए, पलक झपकते ही वह काश्मीर जा पहुंचा। वहां उसे चेकरिया वजीर मिला। यह वजीर उसे देवता राजा के पास ले गया। देवता राजा सोने की मूर्ति के रूप में था। उसका नाम था महासु। एक सप्ताह के अनन्तर महासु अपने दलबल, तीन भाई, चार वजीरों के साथ ऊणा भाट के खेत में प्रकट हो गया। भीषण युद्ध में उसने किरमत दानू और उसकी सेना को परास्त किया। यह साधारण युद्ध नहीं था। इसमें दोनों ओर का काफी नुकसान हुआ। किरमत ने अपनी जान गंवाई। महासु और उसके भाई भी क्षतविक्षत हो गए। एक की टांग टूट गई, दूसरे का बाजू और तीसरे ने आंखें ही खो दीं। अक्षत रहा तो केवल चालडू महासु।

यह गाथा महासु की कथा तो बताती ही है इसका प्रतीकात्मक और ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इसकी मान्यता सिरमौर, सोलन, शिमला, मंडी और कुल्लू जिलों में काफी है। कई परिवार तो महासु देवता के मंदिर में जाकर चूड़ाकर्म संस्कार तक करवाते हैं। वैसे यह कार्य पौराणिक देवी-देवताओं, विशेषकर अम्बिका के मंदिर में किया जाता है।

कोट ईश्वर और खेगसू की खसुम्भा तथा मरेच्छ देवता भी इसी श्रेणी में आते हैं। भेद केवल इतना है, कि इन देवताओं को बुलाया नहीं गया था, ये खुद आए और अपने तेज से लोगों को मजबूर किया कि इनकी पूजा की जाए। कोट ईश्वर और मरेच्छ कुछ-कुछ अमांगलिक स्वरूप लिए भी दीखते हैं। हाटकोटी का रहने वाला कोट ईश्वर एक समय राक्षसी वृत्ति का हो गया था और अपने ही लोगों पर अत्याचार करने लग पड़ा था। उसके जुल्मों से बचने के लिए उसकी प्रजा ने यह उपाय निकाला कि देवता को दूर जाकर सतलुज नदी में ही बहा दिया जाए। उसे तूंबी में बन्द कर दिया गया, लेकिन मार्ग में वह बच निकला और भाग कर उसने अन्यत्र प्राण बचाए। किन्तु आदत तो आदत ही रहती है। यहां भी उसने लोगों को सताना शुरू किया और नाग बनकर गायों का दूध पीने लग पड़ा। उसने अपने लिए मंदिर की मांग की, जब बन गया तो उसे जगह पसन्द नहीं आई।

लोगों को दूसरी जगह, कोटी में, नया मंदिर बनाना पड़ा। अब कोट ईश्वर ने आसुरी वृत्तियों को त्याग दिया और एक बार फिर मंगलकारी देवता बन गया और महादेव के तौर पर उसकी मान्यता अनेक गांवों में होने लगी। खेगसू की खसुम्भा कोटेश्वर महादेव की बहन है जो हाटकोटी से उसके साथ आई थी और सतलुज के दायें किनारे खेगसू में स्थापित हो गई थी। इस देवी का प्रभाव कुल्लू और शिमला जिले में है।

मरेच्छ देवता कोटेश्वर महादेव का वजीर है। उसका पुराना नाम क्या रहा होगा, कहा नहीं जा सकता। मरेच्छ शब्द तो स्पष्टत: म्लेच्छ ही है। इसे तिब्बत से आया हुआ माना जाता है। बेचारा कोई बौद्ध भिक्षु रहा होगा जिसका नाम दिथू था। वह आठवीं-नवीं शताब्दी में यहां आया होगा। तब वज्रयान-मन्त्रयान का बोलबाला था। लेकिन बाद में वैष्णवों के ज़ोर पकड़ने पर दिथू के मांसाहार के कारण उसे म्लेच्छ समझा जाने लगा। उस पर यह आरोप भी लगा कि वह नरमांस-भक्षी है। कोट ईश्वर ने इस लांछन पर उसे कैद कर दिया। उसे मुक्ति तब प्राप्त हुई, जब उसने मांस का पूरी तरह त्याग कर विशुद्ध वैष्णव रीति अपनाने का वचन दिया।

डूम एक और देवता है जिसका केन्द्रीय स्थान तो फागू का कटियाणा गांव माना जाता है, लेकिन यात्रा कुठाड़, महलोग, बुशैहर, कोटखाई, जुब्बल, बाघल, कोटी आदि पुरानी रियासतों की किया करता है। यह मंगल-अमंगल दोनों का कर्ता है। एक लोक गाथा के मुताबिक डूम कांगड़ा नगरकोट से आकर यहां बसा, तो दूसरी गाथा इसे हाटकोटी देवी की कृपा से उत्पन्न खलनिध नामक कनैत का पुत्र मानती है। जो भी हो, यह देवता घी-दूध पसन्द करता है, और यदि कोई गृहस्थ इसे दूध-घी देने में हील-हुज्जत करे, तो उसकी गाएं-भैंसें सुखा देता है।

कांगड़ा से आकर जुनगा, क्योंथल में निवास स्थापित करने वाला एक और देवता है, जिसे उचित नाम न होने के कारण जुनगा देवता ही कहा जाता है। यह नादौन से आया माना जाता है। वस्तुत: यह कोई राजकुमार था, जिसने इस इलाके में आकर अपने आप को देवता घोषित करवा दिया। इस तरह के स्वयं-घोषित देवताओं का दसवीं-बारहवीं शताब्दियों में इस प्रदेश में बड़ा जोर रहा। इस काल में इन राजकुमारों ने अपने लिए राज्य भी हथिया लिए और लोगों की धार्मिक भावना का अपना प्रभुत्व मजबूत बनाने के लिए इस्तेमाल भी किया और अपने को देवता बना डाला। सिरमौर से आए मुड़ पड़ोई देवता ने कोटी में अपना राज्य भी बनाया और देवत्व भी प्राप्त किया। इसमें राजकुमार की सहायता उसके कुलदेवता नरोलिया ने की थी। नरोलिया और राजकुमार समय बीतने पर एकाकार हो गए और कौन मनुष्य रहा, कौन देवता था अब यह कहना कठिन है, क्योंकि मूर्ति एक ही है।

देवता की तीर्थ-यात्रा

इस प्रदेश की सांस्कृतिक एकता की सबसे मजबूत कड़ी ये देवता ही हैं। इन्होंने घर को गांव से जोड़ा, गांव को दूसरे गांव या परगने से, परगने के देवता ने दूसरी रियासत से, दूसरे जिले से और उन्होंने समूचे पर्वतीय क्षेत्र से ही नहीं, देश के अन्य भागों से भी जोड़ा है। इस प्रक्रिया का सुन्दरतम उदाहरण देवता की यात्रा है। इसमें देवता और 'परजा' दोनों एक हैं। दोनों को यात्रा का शौक है। प्रदेश में जब सड़कों का अभाव था, जंगल घने थे, आने-जाने के साधन नहीं थे, तब हरिद्वार, मनि महेश कुल्लू, नग्गर, शराई कोटी, हाटकोटी, मंडी रिवालसर, नगर कोट, ज्वालाजी दूर जगहें थीं। अकेला-दुकेला व्यक्ति इन स्थानों में भ्रमण दर्शन के लिए न तो जाता था, न उसे समय था और न हौसला ही। इस हालत में देवता उसके बड़े काम आया। जब वह देश-भ्रमण, तीर्थ-यात्रा या अपने सगे-संबंधी देवता से मिलने जाना चाहता या लोगों को ही किसी दूसरे स्थान पर किसी कारणवश जाना होता था तो देवता को साथ ले जाते थे, या देवता उन्हें साथ ले जाता था। इस यात्रा अथवा 'देऊ साथ' में गांव के प्रायः सभी पुरुष सम्मिलित होते थे, कहीं-कहीं स्त्रियां भी शामिल हो जाती थीं। सब मिलकर देवता के रिश्तेदारों से मिल आते, अपने भाई-बन्धों के दर्शन कर आते और 'देश मुल्क' भी देख आते।

यह यात्रा लोगों के सामाजिक जीवन में बड़ा उपयोगी प्रयोजन पूरा करती थी। गांव वालों की धार्मिकता को बल देती थी, उन्हें नया स्थान, नये आदमी से देखने मिलने का अवसर देती थी। इस यात्रा में देवता एक प्रकार से नेता, मार्ग-दर्शक और रक्षक का काम करता था। उसकी छत्रछाया में लोग अपने आपको सुरक्षित पाते थे। समूह में ही शक्ति है, इन यात्राओं का शायद यह अभिप्राय भी रहता था। अनजानी जगहों पर एक-दूसरे का सहारा रहता है, यही भावना शायद उनके झुंड में चलने के पीछे भी रही हो। अपने घरों में, अपने गांव में और अपने इलाके में चाहे मर्द हो, या औरत, बालक हो या वृद्ध, अकेले ही जंगल पहाड़ चढ़ लेते हैं, दूर-दूर के खेतों में सारे दिन काम कर लेते हैं, ज्यादा अकेलापन महसूस किया तो कोई गीत गा लिया, उसके कुछ बोल गुनगुना लिए। भेड़-बकरियों के साथ पर्वत-शिखर पर डेरा डाला या किसी द्वार (गिरि कन्द्रा) में रैन-बसेरा किया, यह सब कुछ मंजूर, किन्तु अपने इलाके से बाहर जाना हो, अपरिचित स्थान पर जाना हो, अपरिचित व्यक्तियों से मिलना हो तो समूह में चलते हैं, समूह में मिलते हैं।

समूह में चलने का रिवाज, यह 'साथ' का प्रश्न उनके दूसरे कार्यों में भी दीखता है। तम्बाखू पीना हो तो साथ-साथ ही। उनकी हुक्का चिलम सबों में घूमती है, और आधुनिक समय में बीड़ी-सिग्रेट भी। उसका एक कश लगाया और

आगे कर दी। कई बार तो केवल एक कश ही मिल पाता है, लेकिन अलग-अलग बीड़ी-सिग्रेट नहीं जलाई जाती। ज्यादा ही 'कड़की' आई तो दूसरी जला दी, पर तभी, जब पहली जलकर समाप्त हो जाए। हां, बीड़ी-सिग्रेट अथवा हुक्के की नली में मुंह नहीं लगाया जाता है, होंठ नहीं छुआए जाते हैं, अन्यथा वह जूठी हो जाती है। इसलिए बीड़ी-सिग्रेट को प्रायः हथेलियों के पास अंगुलियों के बीच फंसाकर कश भरा जाता है। हुक्के की नली के सिर पर हाथ की नली-सी बना कर जोर का कश लिया जाता है।

देवी-देवताओं और उनकी 'परजा' के यात्रा-स्थलों ने धीरे-धीरे तीर्थ-स्थानों का रूप लिया। ऐसे तीर्थों का क्रम भी बड़ा मनोरंजक है। एक तीर्थ तो वे हैं, जहां स्थानीय ग्राम देवता जाता है। ये प्रायः खूद के बीच ही हैं, जैसे सतलुज उपत्यका में रंदल, देउगी, ढरोपा और खशोली गाड के चार चम्भू। ये एक-दूसरे से मिलते हैं। एक-दूसरे का दुखदर्द बांटते हैं। अच्छे-बुरे में शरीक होते हैं और साल छः महीनों में अपनी माता, बहिन या भाई के दर्शन करने चले आते हैं। इन अवसरों पर जो स्वयं एक मेला बन जाते हैं, चम्भू के दलबल के खाने-पीने का और रहने-सहने की जिम्मेदारी अम्बिका के मन्दिर अथवा गांव वालों की होती है। आम तौर पर प्रत्येक देवता के ठहरने का ठांव निश्चित होता है। वह सीधा वहां आता है, विश्राम करता है और ताजा होकर मंदिर जाता है। इस तरह के ग्रामीण तीर्थ हर दो-चार मील पर मिल जाएंगे। यह भी कह सकते हैं कि हर दूसरा गांव पहले गांव का तीर्थ है और उनमें परस्पर सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर निरंतर आदान-प्रदान होता रहता है।

दूसरे तीर्थ वे हैं जहां खूंद और राज्य देवता आते-जाते हैं, इनमें महासु, माहू नाग, श्रीगुल और मैलण जैसे देवताओं के दूर-दूर स्थित विविध स्थान शामिल हैं। इनके अतिरक्त वे तीर्थ-स्थल हैं जिनकी परिभाषा हमारे संस्कृत ग्रंथों में मिलती है। इन स्थलों का वर्गीकरण जल की पवित्रता, अग्नि भूमिष्ठ की अलौकिकता और ऋषि-मुनियों की तपोभूमि की महत्ता के आधार पर किया जाता है। इस तरह के तीर्थ व्यास नदी, रबीरगंगा, बाण गंगा, पार्वती आदि हैं जो जल की पवित्रता के कारण पूज्या हैं। ज्वालामुखी भूमिष्ठ अग्नि की अलौकिकता के आधार पर पूज्या है, और मणिकरण तथा वसिष्ठ अपने गरम स्रोतों के कारण। तत्ता पानी भी इसी आधार पर देवयात्रा-स्थल माना जाता है। जहां तक ऋषि-मुनियों की तपोभूमि का प्रश्न है, शायद ही कोई छोटी या बड़ी ऐसी घाटी हो, जो किसी-न-किसी ऋषि के नाम से संबंधित न हो। कुल्लू में व्यास कुंड है, वसिष्ठ ग्राम है, जमलू का मलाणा है। सिरमौर में रेणुका का सरोवर है भृगुतुंग है, पाराशर का स्थान है। बिलासपुर में व्यास गुफा है, औटर सराज में परशुराम का समाधिस्थल है। बनजार के निकट श्रृंगी ऋषि की तपःस्थली है।

मंडी और बिलासपुर में मार्कण्डेय के मन्दिर हैं जिनका संबंध लाहुल के त्रिलोकनाथ से जोड़ा जाता है। सुकेत शुकदेव की कर्मभूमि और रिवालसर लोमस ऋषि की तपःभूमि रही है। कुलान्तपीठ माहात्म्य के अनुसार 'यत्र पीठे महादेवः भवान्या सह नारदः। अर्जुनस्य प्रसादाय दधामि शवरं वपुः।' यहां भगवान शंकर ने पार्वती सहित अर्जुन की प्रसन्नता के लिए शवर का रूप धारण किया था और उसे अपना अस्त्र प्रदान किया था।

इनसे भी बढ़कर प्रकृति ने इस प्रदेश पर हाथ खोलकर अपना सौन्दर्य बखेरा है। ऋग्वेद की ऊषा तो विपाशा नदी के तीर पर अपनी थकावट दूर करती थी, यहां श्रीखंड, किन्नर कैलाश और मणि महेश के धवल हिमाच्छादित पर्वतशृंग, रेणुका, रिवालसर जैसे रम्य सरोवर, देऊडांक जैसे शिला मंदिर और शराईकोटी जैसे वनाच्छादित मनोरम जगहें हैं, जो स्वयं तीर्थ वन गए। हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष लोग इन स्थानों पर आते हैं, देव-पूजा करते हैं और प्रकृति की अपार कृपा का अनुभव करते हैं। देऊ देवी के लिए भी ये तीर्थ बड़े आकर्षक हैं और जब भी उनका मन किया, वे यहां यात्रा दल लेकर आ जाते हैं।

एक दूसरी तरह के तीर्थ यहां प्रचुर मात्रा में हैं। ये तीर्थ हैं पौराणिक देवी-देवताओं, दुर्गा, अम्बिका, नयना देवी, वज्रेश्वरी देवी, चंडिका, हाटेश्वरी, लक्षणा देवी, भीमा काली, शिव, महेश, विष्णु, रघुनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ, और सिद्ध बाबा बालकनाथ के मन्दिर। इन्हीं के कारण बिलासपुर में नयनादेवी, हमीरपुर से बाबा बालकनाथ का स्थल, कांगड़ा में चिन्तपूर्णी, ज्वालाजी एवं नगरकोट, चम्बा में भ्रमौर, लाहुल में उदयपुर, कुल्लू में डूंगरी-मनाली और निरमंड, किन्नौर में कोठी, शिमला में सराहन और हाटकोटी तथा सिरमौर में रेणुकासर प्रसिद्ध हैं। इनके इलावा कुछ ऐसे नगर भी हैं जो विशेष उत्सवों पर देऊ देवी के समागम के कारण तीर्थ वन गए हैं, ये हैं मंडी और कुल्लू। शिव-रात्रि के उत्सव पर मंडी में आसपास के अनेक देवी देऊ इस शिव नगरी में अपनी श्रद्धा का अर्घ्य चढ़ाने आते हैं। और 'विजय दसमी' पर कुल्लू क्षेत्र के सैकड़ों देवता रघुनाथ से भेंट करने ढालपुर पधारते हैं।

देवी-देवताओं की बहुलता के कारण हिमाचल को देवभूमि कहा गया है। ब्रह्मांड पुराण में शिव को यह कहते उद्धृत किया गया है कि कलियुग में देवताओं के लिए यदि कोई उपयुक्त स्थान बना है तो वह जालन्धरपीठ है। जालन्धरपीठ और कोई क्षेत्र नहीं, स्वयं हिमाचल प्रदेश है। कलियुग के प्रारंभ में सभी देवी-देवता तथा तीर्थ त्रस्त थे कि अपनी पवित्रता अब वे कैसे सुरक्षित रख सकेंगे? वे सब भगवान शिव की शरण में गए और उनसे कलियुग से बचाने की याचना की। शिव ने उन्हें सुझाव दिया कि—

एतज्जालन्धरं क्षेत्रं यत: सर्वोत्तमोत्तमम्
अत्रागत्यांशतो यू यं सन्तिष्ठध्व मिहैव हि

जालन्धर क्षेत्र तीर्थों और देव-स्थानों में श्रेष्ठ है अत: यहां आकर निवास करो। यहां पर तुरन्त पाप हरने वाली लोक पावनी व्यास नदी है और सद्य: सिद्धि प्रदायनी चंडिका, वज्रेश्वरी, चामुंडा और ज्वालामुखी है।

शक्ति पीठ

जालन्धरपीठ शक्ति पीठ है। शिव सती के शव को कन्धे पर रख तांडव करने को जब उद्यत थे तो उसके चार अंग इस क्षेत्र में गिरे थे। नेत्र नयना देवी में, जिह्वा ज्वालामुखी में, वक्ष:स्थल कांगड़ा तथा पैर चिन्तपूर्णी में। इस पीठ में वज्रेश्वरी कांगडा, चम्बा, हाटकोटी और खेगसू में स्थित है। अम्बिका अन्य स्थानों के इलावा नगरकोट और निरमंड में स्थापित है। इन दोनों जगहों पर अम्बिका के रूप में भगवती दुर्गा की पूजा अर्चना होती है, जो दुर्गा सप्तशती पर आधारित है। आरती के समय गाए जाने वाले स्तोत्रों के अनुसार अम्बिका परम देवी है, उसकी लीला सारे विश्व में व्याप्त है। वह चतुर्भुजा है, महाकाली है। वह सर्वज्ञा है, महामाया, महादुर्गा, महाज्वाला और महाबला है। वह सर्वपूज्या है, उसका दिव्य रूप है। वह सदा सिंह पर सवार रहती है। वह जगदम्बा है, जगद्धात्री है, जगत का संहार करती है। वह पराविद्या है, भगवती है, नारायणी, महाविद्या, सरस्वती, भारती तथा ऋग्-यजु-साम-रूपिणी है। वही ईश्वरी है, वाराही, भैरवी, चंडी, चामुंडा एवं चंडिका है। वह सर्वेश्वरी है, सर्वकामा है, सर्वविद्या प्रकाशिनी है। वह अम्बिका सर्वमन्त्रमयी है, उसे सब देवता नमस्कार करते हैं और वह सबों का कल्याण करती है। वह भक्तवत्सला है, तीनों भुवनों की ईश्वरी है, और वह नित्य सब सिद्धियों को और हर सौभाग्य को देने वाली है।

यह स्तुति स्पष्टत: उस काल की है जब देश में वाममार्ग जोरों पर था, क्योंकि इसमें अम्बिका को 'वाममार्ग-रता' भी कहा गया है। लेकिन देवी की स्थापना उसकी शास्त्रीय परिकल्पना, उसके युद्धों का वर्णन, उसका सर्वेश्वरी, सर्वज्ञा, सर्वमंगला बन जाना पहले हो चुका था, संभवत: ईसा पूर्व पहले हजार वर्षों में। उससे पहले उसकी किस रूप में पूजा होती रही होगी, अब कहना कठिन है। तब तो रथ भी नहीं रहे होंगे। रथ का अस्तित्व मोहरों के बिना है ही नहीं। मोहरे बाद की बात है, तब शायद मातृशक्ति की, महामाया की पूजा एक भाव के रूप में होती रही होगी, बिना मंदिर, बिना मूर्ति के। किन्तु यह भी केवल अनुमान ही है। परोहड आदि विवरणों में सरस्वती-सिन्धु लोगों की बसतियों में देवी मंदिरों की स्थापना का जिकर किया गया है और सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र के उत्खनन

से प्राप्त अनेक मुद्राएं और मूर्तियां मातृशक्ति की प्रतीक मानी जाती हैं ।

धर्म के चार पहलू

विद्वानों का यह कहना है कि सरस्वती-सिन्धु सभ्यता के धर्म के चार पहलू हैं, जो आज भी किसी न किसी रूप में हिन्दू धर्म में पाए जाते हैं । ये विशेषताएं हैं—(1) मातृ शक्ति की उपासना, (2) शिव की उपासना, (3) वृक्ष पूजा और (4) पशु पूजा । खुदाई में मिली अनेक मूर्तियों, मिट्टी के पात्रों और ताबीजों पर मातृदेवी के चित्र मिली हैं । कहा जाता है कि' मातृदेवी की उपासना इस धारणा पर आधारित थी कि सृष्टि का प्रारम्भ नारी शक्ति से हुआ था । अतः यह मातृ-शक्ति जगज्जननी एवं संसार की पोषिका थी । कुछ मुहरों पर अंकित पशु-परुष और हंसिये के साथ मातृदेवी की मूर्ति को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि इस देवी की पूजा में नर-बलि एवं पशु-बलि चढ़ाई जाती थी । हिमाचल प्रदेश में आधुनिक काल तक भीमा काली जैसे देवी मंदिरों में इस प्रकार की बलि का प्रचलन था । पशु-बलि तो आज भी अनेक देवी मंदिरों में दी जाती है । बाबा द्योट सिद्ध की भेंट में भी 'मीढ़े बकरेयां दी जोड़ी' देने का वर्णन है । ज्वालाजी में किसी समय बलि दी जाने की बात सुनी जाती है, लेकिन देवी की बिनती में इस तरह का कोई इशारा नहीं है । माता से सिर्फ यही प्रार्थना की जाती है कि

जगत पुकारदा मां हुण आ के बेड़ा पार कर ।
मेरियां भुल्लां बख्श लै हुण अपणे दास ते उपकार कर
मैं आया शरण तेरी, लाटां वालिए ।

वज्रेश्वरी के साथ एकाकार होकर ज्वाला माई धौलाधार की अधिष्ठात्री बन जाती है और इस 'कांगड़ा धौलाधार मैया को 'बैकुंठ बणाणे' का सेहरा पहनाया जाता है ।

भीमा काली का उल्लेख सर्वप्रथम दुर्गा सप्तशती में आता है जहां दुर्गा कहती है कि मैं हिमाचल में भीमाकाली के नाम से जानी जाऊंगी । इस देवी को अर्पित नर का रक्त उसकी जिह्वा पर लगाया जाता था और फिर उपस्थित लोगों के माथे पर । लहू का तिलक लगाने की प्रथा जमदग्नि के मंदिर मलाणा में भी है ।

उषा और अहन ऋषि

पुराने काल से चली आई वैष्णवी देवी हिमाचल में केवल उषा दीख पड़ती है । उखा नाम से जानी जाने वाली इस देवी के मंदिर किन्नौर में कोठी, नचार और सांगला में हैं और शिमला में सराहन और रामपुर में । ऋग्वेद में बीज रूप से वर्णित आख्यान पर आधारित उखा वृत्तान्त के अनुसार इस प्रदेश में अहन नाम

का एक ऋषि था। यह उस समय की बात है जब सृष्टि का आरंभ हो रहा था, तब न सूर्य था, न प्रकाश। अहन ने लाखों वर्षों तक ब्रह्मा की उपासना की थी, जिसके फलस्वरूप उसमें इतनी शक्ति आ गई थी कि वह मिट्टी से कोई भी वस्तु बना सकता था। वह तारों का सृजन कर सकता था और ब्रह्मांड के ग्रहों तक का निर्माण कर लेता था। देवता उसकी इस अपार शक्ति से ईर्ष्या करने लगे। वे ऋषि अहन से डरने लगे कि कहीं वह इन्द्र के राज्य पर ही अधिकार न कर ले। उसकी शक्ति को क्षीण करने के लिए तथा उसकी तपस्या को भंग करने के लिए देवताओं ने परस्पर विचार-विमर्श किया, योजनाएं बनाई और अन्ततः निश्चय किया कि इन्द्र के दरबार की नर्तकी उषा को ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने के लिए भेजा जाए। उषा इन्द्र सभा की एक अनुपम सुन्दरी थी।

अपनी तपस्या के प्रताप से ऋषि अहन भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता था। वह त्रिकालदर्शी था। वह तुरंत जान गया कि इन्द्र ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा है। उसने इस विपत्ति से अपनी रक्षा के लिए ब्रह्मा की उपासना की। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उसे मार्ग दर्शाया। ऋषि अहन ने तब अपनी शक्ति से आकाश में सूर्य का सृजन किया। उधर उषा स्वर्ग से उतरकर उस स्थल पर आई जहां ऋषि अहन तपस्या कर रहा था। पास पहुंचकर उषा ने ऋषि की शान्त सौम्य मुख-मुद्रा देखी तो प्रभावित हो गई। उसके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया। उसे अपने सौन्दर्य का प्रभाव अहन पर डालने का अभी अवसर ही न मिला था कि आकाश में सूर्य चमक उठा। उषा का शरीर सूर्य किरणों में पिघल गया। सूर्य ने समझा उसका कार्य पूरा हुआ, अतः वह दक्षिण में जाकर डूब गया।

इन्द्र चुप बैठने वाला नहीं था। दूसरे दिन उसने दूसरी अप्सरा, जिसका नाम भी उषा था ऋषि का व्रत खंडित करने को भेजा। अहन ने फिर प्रार्थना की, सूर्य निकला, उषा पिघल गई। इसी प्रकार छः बार होता रहा, किन्तु ऋषि के ध्यान में विघ्न न पड़ सका। इन्द्र क्रुद्ध हो उठा। उसने एक बार फिर छः उषाएं भेजीं, लेकिन वे भी असफल रहीं। इन्द्र ने दूसरी युक्ति निकाली। उसने उषा की सहायता के लिए मेघ और उसकी पत्नी वर्षा को भेजा। मेघ ने सूर्य छिपा लिया और मूसलाधार वर्षा बरसाई। मेघ बरसता रहा, बरसता रहा, जब तक कि उसका सारा कोष समाप्त न हो गया। उधर सूर्य ने पृथ्वी पर गिरा सारा जल सोख लिया। इन्द्र तब भी हार मानने वाला नहीं था। वह निरन्तर प्रयत्न कर रहा है, कि किसी प्रकार ऋषि अहन तपच्युत हो जाए। तब से न जाने कितनी लाख उषाएं प्रति दिन वह ऋषि का मन विचलित करने के उद्देश्य से भेज चुका है। अभी तक वह अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाया। कहते हैं आज भी उषा प्रतिदिन अहन का मन विचलित करने आती है, किन्तु सूर्य निकलते ही वह पिघल कर लुप्त हो जाती है। इन्द्र के पास करोड़ों उषाएं हैं, अहन का धैर्य भी निःसीम

है, उषा आती रहेगी और अहन अडिग तपस्यारत रहेगा।

महिषासुरमर्दिनी

हिमाचल प्रदेश में तुलनात्मक रूप से दुर्गा का चंडिका स्वरूप लोकप्रिय रहा और चंडिका का भी अम्बिका जगदम्बा की अपेक्षा महिषासुरमर्दिनी का रूप ही। कुल्लू जिले के बजौरा गांव के प्रख्यात मंदिर में महिषासुरमर्दिनी की पत्थर की अत्यन्त सजीव एवं कलात्मक मूर्ति है। एक हाथ में तलवार लिए, दूसरे से महिषासुर के बाल पकड़ने वाली यह अष्ट-भुजा दुर्गा महिषासुरमर्दिनी ऐसी लगती है, मानो इसी क्षण शत्रु के प्राण ले लेगी। हाटकोटी, भ्रमौर और जगतसुख में तथा काव, ममेल, बकलोह और सवाठू में इसी महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियां हैं। भूंडा महायज्ञ में हवन कुण्ड के विधिविधान एवं संरचना में दुर्गा चंडिका की महिषासुरमर्दिनी प्रतिमायें ही प्रयुक्त होती हैं। इसके इलावा अन्य छोटे-बड़े सैंकड़ों मंदिरों, शाक्त ब्राह्मणों, राज परिवारों में लघु एवं मध्यम आकार की सुन्दर, सशक्त महिषासुरमर्दिनी मूर्तियां हैं। चंडिका द्वारा महिषासुर वध और अम्बिका की शुंभ-निशुंभ-संहार संबंधी गाथाएं इस प्रदेश में व्यापक रूप से प्रचलित हैं।

मार्कंडेय पुराण के देवी माहात्म्य में वर्णित एक कथानक के अनुसार महिषासुर ने संसार को नष्ट करने की शक्ति प्राप्त की। इससे देवता डर गए। इन्द्र सहित सभी देवता इस आशंका से कांप उठे कि कभी किसी समय भी महिषासुर उनके स्वर्ग का नाश कर देगा। उधर स्वयं प्रजापति ब्रह्मा भी घबरा गए। ब्रह्मा को लेकर सभी देवता विष्णु और शिव की शरण गए और उनसे महिषासुर पर काबू पाने और उसका नाश करने की विनती करने लगे। दोनों परम देवों ने अपनी सारी शक्ति से एक अजेय शक्ति उत्पन्न की। इस शक्ति के 18 हाथ थे। ब्रह्मा ने उसे वेद, शिव ने त्रिशूल, काल ने असि, और हिमालय ने आभूषण दिए। इसे ही महाशक्ति, महादेवी, महादुर्गा कहा जाता है। कई मूर्तियों में इसकी आठ या दस भुजाएं हैं। इस प्रकार की अष्टभुजा और दशभुजा मूर्तियां प्रदेश के प्रमुख नगरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और पुरानी राजधानियों के मंदिरों में स्थापित हैं। पौराणिक व शास्त्रात्मक विधि से जिस देवी की पूजा इस प्रदेश में सर्वाधिक होती है, वह यही महिषासुरमर्दिनी है, वही त्रिपुरा सुन्दरी, उमा, दुर्गा, पार्वती, काली, चामुण्डा, गौरी, हेमवती, विंध्यावासिनी और लक्ष्मी भी है।

कभी-कभी ऐसा आभास-सा होने लगता है कि महिषासुर इसी पहाड़ी क्षेत्र का कोई शासक रहा हो, जिसका मर्दन करने के लिए उसके विरोधियों को अपनी सारी शक्ति स्वाहा कर देनी पड़ी होगी और अन्ततः अत्यन्त कठिनाई से ही उन्हें सफलता मिली होगी। यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि महिषासुर के साथ

सारस्वत-सैन्धवों का युद्ध तब हुआ होगा जब वे लोग अपना घर-बार छोड़ कर नई जगह बसने निकल पड़े थे। यह भी संभव है कि यह देव-असुर संग्राम सारस्वत सैन्धवों की जातीय थाथी हो और समाज के संगठन के आरंभिक दिनों में ही इस प्रकार का कोई संघर्ष हुआ हो। एक अन्दाजा यह भी लगाया जा सकता है कि उन प्रारंभिक दिनों में सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र में जंगली भैंसों ने उत्पात मचा रखा हो और वे खेती-बाड़ी को भीषण नुकसान पहुंचाते रहे हों, जिनके कारण उन्हें शत्रुओं की संज्ञा दी गई और वे जानवर असुर बना दिए गए। भैंसे तब इस भूखंड में बहुत बड़ी संख्या में रहे होंगे। यह पशुपति की उस मुद्रा से मालूम पड़ता है, जिसमें त्रिमुख योगी की दाहिनी ओर हाथी व सिंह और बाईं ओर भैंसा व गैंडा दिखाए गए हैं।

दुर्गा के केवल रौद्र रूप की ही पूजा नहीं होती। जहां चंडी, चंडिका, रक्त-दंती, भैरवी और भद्रकाली की मान्यता है वहां, जैसा हम देख चुके हैं, अम्बिका, जगदम्बा, तारणा, भगवती और माता के ममतामय स्वरूप की पूजा भी व्यापक रूप से प्रचलित है।

मनुष्य से बने देवता

शिव एवं अन्य पौराणिक देवी-देवताओं को छोड़ बाकी सभी देऊ देवी मनुष्य से देवी-देवता बने प्रतीत होते हैं। रानी साहिबा नेउली, रूपणी रानी, रानी सूही देवी फुंगणी, गाडगसैणी री दुर्गा जाहिरा तौर पर ऐतिहासिक नारियां हैं। हिडिम्बा भी ऐतिहासिक नारी थी, जभी तो वह भीम से विवाह कर सकी और घटोत्कच्छ जैसा शौर्यवान पुत्र जन सकी। इसी तरह उखा ऋग्वैदिक उषा हो न हो, वह बाणासुर की पुत्री अवश्य थी, जिसने कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न को स्वप्न में देखा और उसे शोणितपुर आमंत्रित कर उससे विवाह किया और राज्य उसके हवाले कर दिया। शायद इसी कारण बुशैहर के राजवंश के मुखिया को भीमाकाली डुम्याण कहती है। कुल्लू में भी हिडिम्बा राजा को बर्धयाण कहती है। कभी वहां का राजवंश वर्धन या वर्मन रहा होगा। संभव है प्रद्युम्न के आने से यहां सिन्धु-गांगेय क्षेत्र की संस्कृति का प्रभाव व्यापक रूप से फैला, जिसका श्रेय उषा को मिला और उसकी स्मृति को बनाए रखने के लिए उसकी स्थापना देवी के रूप में की गई। उषा की मूर्ति अत्यन्त भव्य एवं दयालु मुद्रा में है, जिसमें काली अथवा चंडी की भयानकता लेशमात्र भी नहीं है।

श्रीगुल, जहारपीर, गुगा, बाबा बालकनाथ तथा अन्य सिद्ध और नाथ स्पष्टतः मानव थे। एक रोचक पहलू यह है कि मंदिर में पौराणिक देवता का तेज जैसा भी रहा हो, मंदिर के बाहर वह एक सहयोगी-सा बन जाता है। कहीं-कहीं तो ऐसा दीखता है कि देवी ममतामयी, सुख-दुख की साथिन होते हुए भी

कुछ-कुछ पुरुपत्व लिए हुए है और वह 'देऊ' बन जाती है। इसे भी पुरुषों के साथ नृत्य में शरीक होना पड़ता है, यहां तक कि कहीं-कहीं स्वयं चंडी, चंडिका का भी रथ है। वह उसी तरह की देवी बनकर रह गई जैसी अन्य ग्राम देवियां हैं। उसका भी रथ है, मोहरे हैं, वह भी नाचती है, प्रजा को नचाती है। इस हालत में वह किसी मानवी का ही दैवी रूप ग्रहण कर लेती है।

अनेक प्रमाण हैं कि देवी-देवताओं की एक बहुत बड़ी संख्या प्रारंभ में मनुष्य थी, किन्तु अप्राकृत अथवा हिंसात्मक मृत्यु को प्राप्त होने पर भय के कारण, या प्रायश्चित्त में या स्मृति को बनाए रखने के लिए उन्हें देवी या देवता मान लिया गया है। इस संबंध में नागों की पूजा महत्त्वपूर्ण है। स्थानीय लोक गाथाओं में नाग पहले मनुष्य थे, बाद में सर्प बन गए और अब उन्होंने मुख्यत: वरुण का स्थान ले लिया है और शिव के साथ मिलकर एक अनूठे देवता 'देऊ नाग' का पद प्राप्त कर लिया है। वे कृषकों के रक्षक तथा अन्नधन के देवता हैं जो हर समय हर काम पड़ने पर याद किए जाते हैं। देवता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसके गूरों की गडाई (आख्यान) में जो उल्लेख बार-बार आता है वह यह है कि उसकी उत्पत्ति दिव्य थी और वह दैवी गुणों से युक्त मानव था, जिसका उद्देश्य पृथ्वी को किसी जालिम दैत्य से मुक्त कराना था और इस उद्देश्य के पूरा होने पर लोगों ने उसकी पूजा आरंभ कर दी।

नागों का दैवीकरण

मानव का दैवीकरण सर्वाधिक नागों में हुआ है। नागराज और नेता राजनीतिक तौर पर भले ही खशों- आर्यों से पराजित हो चुके थे, किन्तु सर्वसाधारण जनता में अपने सजातीय बन्धुओं के प्रति अगाध श्रद्धा और आस्था थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि नाग मुखियों को देवताओं की पंक्ति में बैठा दिया गया। उनमें भी सद् और असद्, करुणा और क्रूर गुणों का आरोप हुआ। विशेष बात यह हुई कि अपने आराध्य शिव की प्रतीक पिंडी में वे स्वयं समा गए और कालांतर में आराध्य और आराधक का अभूतपूर्व एकीकरण हो गया। किसी-किसी नाग को रिखी (ऋषि) भी कहा जाता है।

कोटगढ़, खनेटी और कुम्हारसैन का काचडी नाग, सतलुज और गिरी उपत्यकाओं का मूल नाग, कोटरवाई का गोली नाग जो कुल्लू से आकर वहां बस गया, बशेरू नाग, कुरपण उपत्यका का शरशाही नाग, बराम गढ़ का नातड़ी नाग, आनी घाटी का कुंगशी नाग, मंडी का माहू नाग, कांगडा का देट एवं ज्वालिया नाग, शिमला में कन्धारल नाग, किन्नौर में बडुआ नाग और लाहुल का घेपन नाग, मानव ही थे। इनके अतिरिक्त जो नाग देवता ग्राम देवता के रूप में स्वीकार किए जाते हैं, वे भी मनुष्य ही थे। जिस प्रकार असुरों में बाणासुर इस क्षेत्र का

प्रमुख मानव रहा है, उसी प्रकार बासुकि नाग यहां का अत्यन्त यशस्वी शासक रहा होगा। यही कारण है कि उसकी गाथा प्रदेश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक, सिरमौर से चम्बा और किन्नौर से ऊना तक लोगों के हृदयपटल पर अंकित है। बासुकि के मंदिरों की संख्या बहुत बड़ी है जिस से बासुकि के प्रभावक्षेत्र का ज्ञान होता है। बासुकि संभवतः सम्पूर्ण नाग जाति का ही नेता रहा हो।

ऐसे संकेत मिलते हैं कि नागों को असुरों से भी लोहा लेना पड़ा होगा। यह बात काचड़ी नाग के काणा असुर के साथ बिवाद से मालूम पड़ती है। काचड़ी नाग शेष नाग की तरह महात्मा, दयालु, तपस्वी और साधुवृत्ति का व्यक्ति था। उसे राज और राज्यलिप्सा छू तक नहीं गई थी और लोगों ने जब उसे स्नेह-वश राजपाट संभालने के लिए मजबूर करना चाहा, तो भी वह अपनी बात पर अडिग रहा।

लोक गाथाओं में नागों की सीधे सर्प के रूप में पूजा का उल्लेख नहीं है, बल्कि नाग की आकृति में उनमें किसी अन्य देवात्मा या मानवात्मा का निवास माना जाता है। उदाहरण के लिए मंडी के माहु नाग के विषय कहा जाता है कि वह महाभारत के कर्ण की आत्मा है जो यहां के किसी किसान को नागरूप में मिली थी। कुछ लोक कथाएं ऐसी हैं जिनमें नागों को पूर्वजों की आत्मा बताया गया है जो सर्प रूप धारण कर भूमि में गाड़े अपने धन की रक्षा किया करती हैं। माहु नाग में कर्ण की आत्मा मानना या कर्ण की ही माहु नाग के रूप में पूजा उस ऐतिहासिक वास्तविकता का संकेत करती है जिसमें हिमाचल क्षेत्र की सहानुभूति महाभारत युद्ध में कौरवों के साथ थी और सिवाय भीमपुत्र घटोत्कच्छ के किसी अन्य नेता ने पांडव पक्ष में युद्ध नहीं किया था। चक्रव्यूह भी त्रिगर्त के संसप्तकों ने ही बांधा था, जिसमें अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था।

देवताओं का मिश्रित रूप

यह निर्विवाद तथ्य है कि मूल रूप में हिमाचल का देवता देऊनाग है। इस देवता में महादेव शिव, नाग देवता तथा ग्राम देवता, सभी का सम्मिश्रण है, सभी का समन्वय है और आमतौर पर यह देऊनाग एक अमूर्त, अव्यक्त भाव मात्र है जिसे धर्म का पर्याय समझा जा सकता है। इस देऊनाग से यहां का जीवन इतना अप्लावित है कि आश्चर्य व्यक्त करते हुए भी स्वयमेव मुंह से निकल पड़ता है, 'देऊआ नागा'। आश्चर्य सुखद हो तो भी देऊनाग, दुखद हो तो भी वह देऊनाग, जिससे त्राण मांगा जाता है, सुरक्षा की आकांक्षा की जाती है। कसम खानी हो तो देऊनाग की, भोजन ग्रहण करना हो, विशेषकर खेतों में, वनों में, तो पहले देऊ-नाग के अर्पण किया जाता है।

इस देऊनाग भाव के विकास के विविध चरण हैं, जिन सबों में मंगल का, कल्याण का आग्रह रहा है। इसी कारण देऊनाग मंगलकारी देवता है। इसका टकराव न पौराणिक देवी-देवताओं से है, न सिद्धों, नाथों, पीरों और जोगियों से है। यह नाग देऊ में इतना घुल-मिल गया है कि प्रदेश के देवताओं के जितने भी मोहरे या मुखौट हैं, सभी में किसी न किसी रूप में नाग चित्रित है। हर मोहरे में नाग या तो देवता के गले में हार की तरह लटका रहता है, या अर्ध-गोलाकर में वक्ष पर दिखाया जाता है। प्रायः दो नाग अंकित होते हैं जिनके मुंह वक्षस्थल के बीच हृदय के पास होते हैं। बिना नाग के किसी भी देवी-देवता का मुखौट अधूरा ही रहता है, और वह श्रद्धालुओं द्वारा संभवतः माना भी न जाए।

पिंडी : लिंग

स्वयं नागों का प्रतीक केवल पिंडी है। दिनकर का कहना है कि पिंडी अथवा पत्थर के खंड को देवता मानना आग्नेय लोगों की देन है। नाग मंदिरों में जहां कहीं मानवाकृति मूर्तियां हैं भी उनमें भी, मूर्ति के इर्द-गिर्द फन फैलाए लेटा हुआ नाग दिखाया जाता है। इससे ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि इन मंदिरों में भी पिंडी अवश्य होती है। यदि देखा जाए तो सामान्यतः ग्राम देवता के मंदिर में भी पिंडी रहती है, भले ही मंदिर नागेतर देवी-देवता का हो। शिवालयों के अतिरिक्त जहां भी ये पिंडियां हैं, वे आकार में बड़ी और मोटी होती हैं, और इन पिंडियों के लिए जरूरी नहीं कोई देउरा ही हो। ये खुले आकाश के नीचे कहीं भी गड़ी हुई देखी जा सकती हैं। जहां कहीं नाग पिंडियां छोटी भी हैं, उनका स्वरूप शिवलिंग से भिन्न है। इन पिंडियों में योनि का कोई स्थान नहीं है।

ये पिंडियां कब शिवलिंग बनीं और उनके साथ कब और क्यों योनि जोड़ी गई, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। योनि के प्रति हिमाचल प्रदेश में अधिक रुचि भी नहीं दीखती है। लोक साहित्य में, लोक गीतों में स्तन के लिए तो विविध उपमान प्रयुक्त हुए हैं, अनेक प्रतीक व्यवहार में लाए गए हैं, लेकिन योनि के लिए शायद ही कोई प्रतीक हो। सृजन की प्रक्रिया में भी उदर, पेट का ही उल्लेख होता है। काम के संदर्भ में योनि का उल्लेख केवल गाली में अथवा फूहड, गंवारू भाषा में ही आता है।

लिंग को ईश्वर की सृजन शक्ति का प्रतीक मानना शायद पौराणिक युग की देन है लेकिन देवता उसे ऋग्वेद से भी पहले से माना जाता है। स्कन्दपुराण में आकाश को लिंग (पिंडी) और धरती को आधार बताया गया है, लेकिन शिव पुराण में यह स्पष्ट कथा आती है कि ऋषियों ने शिव पर क्रोध किया और उन्हें शाप दे डाला, जिससे उनके लिंग के नौ टुकड़े हो गए। शिव पुराण के आधार पर ही हिन्दू शिव का प्रसाद खाना निषिद्ध मानते हैं। शिव ही लिंग बन गए,

या पिंडी ही शिव बन गई, यह तो ठीक है, लेकिन पिंडी को व्यभिचार का माध्यम भी देखा जाने लगा, इसी कारण "जब महादेव नग्न वेश में नवीन तापस का रूप धारण कर मुनियों के तपोवन में आए, तो मुनिपत्नीगण ने उन्हें घेर लिया।" वामन पुराण की कथा कहती है कि "मुनिगण अपने ही आश्रम में मुनिपत्नियों की ऐसी अभव्य कामातुरता देखकर 'मारो-मारो' कहकर काष्ट, पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े और 'पातयन्तिस्म देवस्य लिंग मूर्ध्व विभीषणम्', शिव के भीषण ऊर्ध्व लिंग को निपातित किया।" ऋग्वेद ने भी देवताओं से प्रार्थना की कि "हे देव, जो लिंग को देवता मानते हैं, उन्हें हमारे आश्रमों की सीमा में प्रवेश न करने दो।" शायद यह इसलिए कि नाग लोग लिंग या पिंडी की पूजा करते थे। पर यह समय की विडम्बना ही कहिए कि आज वही पिंडी, लिंग प्रायः समूचे हिन्दू समाज के पूज्य हैं। सभी शिव मंदिरों में लिंग है, सभी मंदिरों में पिंडियां हैं। वैसे मोहनजोदाड़ो में भी पत्थर के लिंग योनि प्राप्त हुए हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि लिंग-पूजा यूनान में भी होती थी। धर्मानन्द कोसाम्वी[1] की मान्यता है कि महादेव का लिंग में रूपान्तर शकों के ह्रास काल में हुआ। वह कहते हैं कि लिंग-पूजा का आविर्भाव जैन और बौद्ध श्रमणों की दुर्दान्त काम भावना से हुआ है। दिनकर[2] इस स्थापना को एकदम निराधार, निरी कपोल कल्पना कहकर ठुकरा देते हैं। वह कहते हैं कि "लिंग-पूजक तो आर्यों के आगमन से पूर्व ही, इस देश में वर्तमान थे, जिन्हें आर्यों ने 'शिश्ने देवा' कहा है। अवश्य ही ये 'शिश्ने देवा' आर्येतर जाति के लोग रहे होंगे। हां, विविध आचार-बन्धनों से त्रस्त श्रमणों को वाम मार्ग की ओर आने की प्रेरणा लिंग-पूजा से मिली हो, यह हो सकता है।"

लाहुल के संबंध में लिखते हुए जे० हुचीसन का कहना है कि पद्मसंभव के समय गुरु घंटाल और त्रिलोकीनाथ में बौद्ध विहार स्थापित होने से पहले "अन्य पहाड़ी इलाकों की तरह यहां भी सांप, भूत-प्रेत और लिंग संबंधी पूजा का धर्म प्रचलित था। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि त्रिलोकीनाथ आरंभ में शिव मंदिर था"[3] लिंग से उसका अभिप्राय संभवतः पिंडी से ही रहा हो। पिंडी तो कई जगह पर देवियों की भी है। कुम्हारसेन में आदिशक्ति, जिसे कोटेश्वर महादेव की बहन माना जाता है, लिंग (पिंडी) की शकल में है। जानकार लोगों का यह भी कहना है कि खेगसू की खसुम्भा (महिषासुरमर्दिनी) शुरू में केवल पिंडी के रूप में ही थी। इससे यह जाहिर होता है कि पिंडी को लिंग मानने का प्रचलन यहां बहुत

---

1. संस्कृति के चार अध्याय
2 वही
3. हिस्ट्री आफ पंजाब हिल स्टेट्स

बाद की बात है।

नाग देवता का भावरूप जो रहा हो, उसका मूर्त रूप तो पिंडी ही है और इस पिंडी का सर्प से भी कोई साम्य नहीं है, हां, कहीं-कहीं अवचेतन मन में नाग देवता सर्प के रूप में देखा जाता है, जो मैदानी भागों की सर्प-पूजा का प्रभाव हो सकता है। यदि काला सांप मिल जाए तो समझा जाता है नाग देवता ने दर्शन दिए हैं, 'छठावा' किया है, अर्थात् प्रत्यक्ष हो गए हैं। क्या यह अवचेतन मन की भावना कोई जातीय स्मृति है ? यदि नाग पूजा मैदानी लोग साथ लाए, तो खश नाग को क्यों अपना आराध्य देव मानते हैं ? गंभीरता से देखा जाए तो खशों का देवता ही नाग है, शिव तो दूसरे स्थान पर आता है। यों कहा जा सकता है कि नाग-शिव या शिव-नाग ही खशों का देवता है। खश मध्य एशिया से आए माने जाते हैं। उनके बाद शक भी वहीं से आए। मध्य एशिया तो ठंडा देश है, वहां अधिक सर्प होते नहीं हैं, यदि होते भी हैं तो भयंकर नहीं माने जाते, उनका विष तेज नहीं गिना जाता। इस दशा में उनसे डरने का तो विशेष कारण नहीं होना चाहिए, फिर खशों और शकों ने नाग को अपना देवता क्यों माना ? यह समस्या जटिल है। कारण कुछ भी रहा हो, सच्चाई यह है कि नाग और शिव एकाकार हैं, एक ही हैं।

शिव के विविध रूप

शिव-पूजा भारत में प्राचीनतम है, लोक धरातल पर भी और वैदिक कर्म-कांड और धर्म के धरातल पर भी। यद्यपि शिव नाम का जिकर वेदों में नहीं है, लेकिन रुद्र का है। हिमाचल प्रदेश में यह रुद्र 'लूदर' बनकर रह गया है। मंदिरों, शिवालयों में जब शिव की पूजा की जाती है, तो वह महेश, महेश्वर या महादेव है। वह कर्पूर के समान गौर वर्ण है, वह करुणा का अवतार है, सारे संसार का सार है। वह शेष नाग का हार पहनता है, उसका हृदय कमल के समान है, उसके गले में विष है, गरल है, मस्तक पर गंगाजल है। वह त्रिभुवन का स्वामी है। उसके वाम अंग में गिरिराज तनया, भवानी सती है। नन्दी, स्कन्ध, गण आदि उसकी सेवा करते हैं। वह विश्वनाथ है, अखिल लोक का गुरु है। वह त्रिनेत्र है, पंचानन भी है। शिव सृष्टि-कर्ता है। ब्रह्मा और विष्णु उसके भाई हैं, परन्तु दोनों उसकी दया और इच्छा पर आश्रित हैं।

ब्रह्मा के कतिपय मंदिर हैं, लेकिन उसकी कल्पना एक वृद्ध पुरुष के रूप में की जाती है, जो भाग्यविधाता तो है, किन्तु बूढ़ा हो गया है। उसके हाथ कांपते हैं। स्मरण-शक्ति कमजोर पड़ गई है। वह पक्षपात भी कर लेता है, विशेषकर भाग्य लिखते हुए। शिव काल संहार है, पशुपतिनाथ, अर्धनारीश्वर और भूतनाथ भी है। कहीं-कहीं उसका भूतनाथ का रूप वरुण या नाग का है

जो जल देता है, वर्षा करता है। वह वैद्यनाथ भी है। वैजनाथ में उसका नटराज मंदिर देश के बारह पवित्रतम शिव मंदिरों में से है। शिव पंचक्रियाकारी है, वह सृष्टि के पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह का कर्ता है। वह पंचशक्तिमय और पंचमंत्रात्मक है।

शिव योगी भी है, वह लिंग' रूप में महादेव है। लेकिन वह केवल लिंग ही नहीं है। जिस प्रकार कर्नाटक के वीरशैव पूजा के समय लिंग पर ध्यान रखते हैं और छोटा लिंग शरीर पर जनेऊ की तरह धारण करते हैं, उस प्रकार की पूजा-पद्धति हिमाचल में नहीं है। शैवमत की शास्त्रीय व्याख्या में शिव को वेदान्त का ब्रह्म माना गया है। किन्तु हिमाचली गाथाओं में वह महादेव तो है, उसका कार्य ब्रह्मा की तरह सृष्टि-कर्ता का है, लेकिन वह स्वयं ब्रह्म नहीं है। एक चम्बाली ऐंचली के शब्दों में शिव का पिता न्यारे गुरु है और माता मनसादेवी है। न्यारे गुरु के आदेश पर शिव ने धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, पवन, जल आदि प्राकृतिक उपकरणों का सृजन किया। उसने बैल के सींगों पर धरती को टिकाया। उसने दिन-रात, चर-अचर, जीव-उपजीव सभी को पैदा किया, क्योंकि उसके अग्रज ब्रह्मा एवं विष्णु इस कार्य में असमर्थ रहे थे।

हिमाचली शिव आशुतोष है। नटराज है। वह लोगों के सुख-दुख में भाग लेता है, उनके पर्व-त्यौहारों में सम्मिलित होता है। वह महादेव है, देवाधि देव है। किन्तु विचित्र बात यह है कि स्वयं वह इन उपाधियों के प्रति उदासीन है। वह अपनी महानता में विनम्र है। उसने कभी यह दावा नहीं किया कि वह सृष्टिकर्ता है, न ही तो उसने अपना प्रभुत्व दूसरे देवताओं पर जमाने का प्रयत्न किया है। अपनी इस स्थिति में वह केवल निराकार है। वह एक भाव का प्रतिनिधित्व करता है, एक गुण का प्रतीक है।

कहीं-कहीं वह मानव जैसा व्यवहार करता है। शिवरात्रि के अवसर पर गाए जाने वाले एक गीत के अनुसार रणसीवीर नामक कोई व्यक्ति उसे अपने घर आने का निमंत्रण देता है। महादेऊ निमंत्रण स्वीकार करता है, किन्तु साथ ही पूछ बैठता है : "रणसीवीर बताओ, तुम्हारे घर में कितने बकरे, मेढ़े, घी, तेल, आटा और चावल हैं ?" यह उत्तर पा कि "खाडू बकरे इतने कि उनके सींगों का ढेर लग जाए, घी-तेल से अढाई घड़ी तक घराट चल सकें, और आटा-चावल इतनी मात्रा में कि पड़े-पड़े सूंडियां लग जाएं," महादेव प्रसन्न हो जाता है, मानो वह पेटू हो। निश्चित समय पर वह रणसीवीर के घर चलने लगता है। किन्तु अकेले जाने को मन नहीं करता। वह पार्वती को स्वयं निमंत्रित करता है। बेचारी गिरिजा बहुत समझाती है। हीला-बहाना करती है। कहती है, "बिना बुलाए जाना सभ्याचार-विरुद्ध है, अशिष्ट बात है। मार्ग दुर्गम एवं बीहड़ है। परन्तु हिमबाला की सारी अनुनय-विनय अनसुनी कर महादेव उसे अपने साथ ले

ही जाता है। वह केवल यह कहकर रह जाती है : भोले ईश्वर, तू कहां ले आया है मुझे ? देख, मेरा पैर कांटों से छलनी हो गया है, कंकरों-पत्थरों से टकराकर लहूलुहान हो गया है। कैलाश से धरती की यह यात्रा कितनी कष्टकारक है !" पर शिव है कि कहता है, "गिरिजा, तू देखना, मैं किस प्रकार नाचता हूं।"

हिमाचली महादेव सँईं है, भोलाभाला, सीधा-सादा व्यक्ति, जिसके मन में सभी का भला करने की चाह है, जो दरिद्र-नारायण है, असहायों का सहायक और दलितों, शोषितों का हिमायती है। जब कभी वह चुहल कर लेता है। स्वभाव से वह घुमन्तु है। जब जी चाहा, जहां मन किया, चल दिया। स्वयं पराहुणा बना, बिना बुलाए किसी के घर गया और कहीं बुलाने पर भी नहीं पहुंचा। लेकिन वह फक्कड़, मस्तमौला भोड़ा ईशर ज्ञानी है, सिद्ध पुरुष है।

सार्वभौम छत्रपति

प्रदेश के कई भागों में शिवरात्रि के दिन शिव लताकार बन जाता है। उसे उस दिन न तो मूर्ति का वास पसन्द है, न पिंडी अथवा लिंग का। लता की तरह के इस महादेऊ को जौ के पौधों, बेलपत्र, ऊजर जौंटी नामक नीले रंग के पुष्प, पाजा वृक्ष की पत्तियों और नारंगी या खट्टे के फल को धागे में पिरोकर बनाया जाता है और पूजा उपरान्त उसे घर के कोने में लटका दिया जाता है। संभवत: महादेऊ का यह रूप उसके लिंग रूप से भी पहले का है। इसमें वह अकेला है, उसका अपना पृथक् अस्तित्व है, लेकिन पिंडी में उसे नाग के साथ भागीदार बनना पड़ता है। अपनी पूर्व स्थिति वह पिंडी से लिंग बनकर प्राप्त कर सकता है और इनमें से किसी न किसी रूप में वह देऊनाग बन जाता है। यों भी देऊनाग महादेव नाग का ही रूप है। वह नागदेऊ अर्थात् नाग देवता नहीं है, वह परम देवता के परिवेश में नाग है और कुछ-कुछ द्वैत का-सा बोध कराता है।

हमने देखा कि बहुधा ग्राम देवता और खूंद देवता राक्षस भी बन जाते हैं, लेकिन देऊनाग कभी अमंगलकारी देवता नहीं बनता। वह तो सदैव लोगों के जान-माल का रक्षक है, उनका त्राता है, उनके अच्छे-बुरे कर्मों का साक्षी है। जिस प्रकार काणा देऊ, कोट ईश्वर, दियू, मरेच्छ, गोलीनाग आदि अपने भक्तों को ही सताने लगे थे और अपने छोटे-मोटे स्वार्थों की पूर्ति के लिए सभी मानवीय अवगुणों का शिकार हुए थे, देऊनाग उस प्रकार का आचरण कभी नहीं करता। इस दृष्टि से यह देवता सर्वोपरि है, सर्वश्रेष्ठ है। वह हिमाचल की पवन में चम्पा-चमेली एवं कुई की सुगन्ध-सा व्याप्त है। वह इस प्रदेश का सार्वभौम छत्रपति देवता है।

गूर

देवता को जीवन का कर्णधार तो मान लिया गया, उसके प्रति सखाभाव की

कल्पना सहज थी, उसमें मानवीय गुणों का आरोप सरल था, किन्तु उन गुणों की अभिव्यक्ति कैसे हो ? किस माध्यम द्वारा हो ? यह जटिल प्रश्न था । इस कठिनाई पर काबू पाने के लिए यहां के मानव ने अनोखी सूझ से काम किया । उसने अपनी कल्पना से एक ऐसे पात्र का सृजन किया जो विश्व-भर में अद्वितीय है । यह पात्र है गूर । गूर को विभिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है जैसे चेला, गरोगच्छ, माली या दीवा। देवता उसके माध्यम से काम करता है, अपनी इच्छा व्यक्त करता है, अपने आदेश प्रसारित करता है, और अपने उपासकों के कष्टों के निवारण का उपाय सुझाता है । उसके द्वारा ही देवता लोगों के जीवन में सक्रिय भाग लेता है, मानवीय उत्तरदायित्वों को निभाता है । देऊ देवता का यह दायित्व पार्वतीय क्षेत्रों की निजी विशेषता है । देऊ गूर को अपना प्रतिनिधि बनाता है और उन क्षणों में अपना सारा 'सत' अर्थात् तेज या देवत्व उस गूर में हस्तांतरित कर देता है और गूर देवता का प्रवक्ता न रहकर स्वयं देऊ या देवी बन जाता है ।

गूर में देवता के आने का भी एक निश्चित क्रम है । देवता यदि मंदिर में अवस्थित है तो उसकी मूर्ति, प्रतिमा, मुखोट अथवा मोहरे के सामने गूर उपस्थित होगा, यदि वह सजा-सजाया अपने रथ या पालकी में है, तो उसके सम्मुख खड़े होकर गूर वे सारी क्रियाएं करेगा जिनके द्वारा देवता के 'सत' का उसके शरीर में प्रवेश माना जाता है । रथारूढ़ देवता के गूर में देवागमन की क्रिया कुछ इस प्रकार की है कि किसी विशेष अवसर पर देवता का रथ इतने जोर से हिलने-डुलने लगता है कि उसे उठाने वाले उपासकों की गर्दन भी रथ के दो लठों के बीच मुड़ती-सी प्रतीत होती है। इस झंझावतीय हिलन का अर्थ यह होता है कि देवता अपनी प्रजा से बात करना चाहता है । सब लोग उत्सुकता से विनीत भाव में देव-रथ के इर्द-गिर्द खड़े हो जाते हैं और गूर रथ के सम्मुख नेत्र बन्द कर वरदहस्त मुद्रा में खड़ा हो जाता है । उसके नाक के पास धूप दिया जाता है । उधर ढोल-नगाड़े बड़े जोरों से बज उठते हैं, उन पर क्रमशः ताल तीव्रतर होता जाता है जिससे वातावरण में कंपकंपी-सी फैल जाती है । दो-चार मिनटों के उपरान्त गूर कांपने लगता है, मानो ठंड की वजह से उसका तापमान बहुत चढ़ गया हो । उसके कुछ क्षण बाद वह एक झटके से सिर की टोपी उछाल देता है, जिसे उसके पीछे खड़ा व्यक्ति बड़ी फुरती से संभाल लेता है । अब गूर देवता बन जाता है और 'गड़ाई' देना शुरू कर देता है । गड़ाई में वह अपने जन्म और प्रताप का वर्णन करता है । गड़ाई के बखान के बाद वह पूछता है : "बताओ, मुझे तुम लोगों ने क्यों याद किया है ?"

यह वाक्य उपस्थित लोगों के लिए देवता से प्रश्न पूछने का संकेत होता है । गूर की एक मुट्ठी में चावल के दाने होते हैं, वह जितने भी दाने प्रश्न करने वाले की हथेली पर रख दे, उत्तर उसके मुताबिक होगा । यदि चावल के दानों की

गिनती सम हो, अर्थात् दो, चार, छः हो, तो उत्तर 'न' में अगर विषम यानी एक, तीन, पांच हो, तो उत्तर 'हां' में माना जाता है। प्रश्न चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, देवता से उत्तर पाने का तरीका यही है। 'न' को 'हां' में बदलवाने के लिए प्राय: देवता से विनती की जाती है, अपने निर्णय में संशोधन करने की प्रार्थना की जाती है। भूलचूक और अपराध के लिए क्षमा मांगी जाती है। अपनी दीनता और दासता सिद्ध करने के लिए देवता से कहा जाता है कि हम तो तेरी प्रजा हैं, तेरी भेड़ें हैं, तू ही हमारा सर्वस्व है, 'तेरी आज्ञा सिर-माथे पर है, इसलिए तू हमारी दशा पर तरस खा, हमारे बिगड़े कामों को सुधार दे।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि देवता समस्या का समाधान करने या कष्ट का निवारण करने में अपनी अरुचि या असमर्थता प्रकट करता है। असमर्थता की स्थिति में वह अपने से बड़े किसी दूसरे देवी देऊ को 'प्रकट' करने अर्थात् उससे दुख के निराकरण का उपाय पूछने का सुझाव देता है। जहां वह अरुचि की बात करता है, वहां प्रजा द्वारा किया गया कोई अपराध इसका कारण बताया जाता है। देवता सर्वप्रथम उस उपराध के लिए दंडस्वरूप जुर्माने की मांग करता है। प्रजा दंड-पूर्ति का वचन देती है। यदि देवता इस पर भी सन्तुष्ट न हो और वर्षा जैसे सामूहिक जनकल्याण के कार्य में आनाकानी करे, तो कई बार स्वयं देवता को ही चेतावनी दी जाती है कि उसे तब तक अपना 'सत' गूर से वापिस लेने नहीं दिया जाएगा जब तक कि उनकी मांग पूरी न हो जाए। किन्तु ये क्रूर उपाय तो यदाकदा ही बरते जाते हैं।

दुःख-दर्द, बीमारी, खुशी, गमी, लड़ाई, झगड़े, खेती-बाड़ी, अधिक वर्षा या बहुत कम वर्षा, अकाल, नौकरी, चोरी, आदि सभी परिस्थितियों में देवता का सहारा लिया जाता है। उससे न्याय मांगा जाता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां किसी शासक के अत्याचारों का प्रतिरोध करने का तरीका भी देवता से पूछा गया और देवता की अनुमति मिलने पर शासक के विरुद्ध उसके प्रतिद्वन्द्वी की सहायता कर उसे अपदस्थ किया गया था। मध्य युग में देश के मैदानी भागों से आने वाले राजा, राजकुमारों ने स्थानीय ठाकुरों और राणाओं के विरुद्ध सर्वत्र देवताओं की सहायता ली।

यह भी देखा गया है कि एक देवता ने किसी दूसरे देवता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और देव-आज्ञा का पालन करने के लिए दोनों ओर से सशस्त्र युद्ध हुआ। यदि इस आदेश का उल्लंघन किया जाए तो 'देऊ दोष' लग जाता है, जिससे जन्म-जन्मान्तर तक छुटकारा नसीब नहीं होता है। कहीं-कहीं देवता गाँव के झगड़ों के निपटारे के लिए अपनी अदालत तक लगा लेता है और उसके सामने दोनों पक्ष, बादी और प्रतिवादी वैसे ही बयान देते हैं जैसे किसी मैजिस्ट्रेट के सामने देते हैं।

ऐसा भी देखने में आया है कि देवता प्रेम में मनुष्यों से भी होड़ लेते हैं, उन से ईर्ष्या करते हैं। किन्नौर की उखा देवी के रूप-लावण्य और प्रेम की उत्कटता तथा मानवोचित गुणों की अनेक गाथायें हैं। वह परम सुन्दरी, दयामयी है लेकिन सौन्दर्य में अपना मुकाबला सहन नहीं कर सकती। जब कभी कोई मानव सुन्दरी उखा से आगे निकल जाए, तो देवी उस अभागिन की जीवन-लीला ही समाप्त करा देती। है। वह किसी के प्रेम की तृप्ति सहन नहीं कर सकती, इस की शायद यह वजह है कि वह स्वयं चिर अतृप्ता है।

शिव के समान ही इन देवताओं का व्यवहार भी पूर्णत: मानवीय है। उनकी माता होती है। भाई और बहनें होती हैं। जब दो समान स्तर के देवता आपस में मिलते हैं तो उनका एक-दूसरे के प्रति वर्ताव अत्यन्त भद्र होता है। दोनों झुककर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं, गले मिलते हैं। कहीं-कहीं इन देवताओं में कौटुम्बिक वैमनस्य भी रहता है, और अपने विरोधी को नीचा दिखाने के लिए हर हरबा इस्तेमाल करते हैं। वह छल-कपट, धोखा-धड़ी तक से नहीं चूकते। वे मान-अपमान के प्रति सर्वदा सजग हैं। थोड़ी-सी भूल अक्षम्य समझते हैं और पूरे राजसी ताव से बदला चुकाने पर उतारू हो जाते हैं।

देवता भाई-बहनों में आमतौर पर स्नेह का भाव ही दीखता है। समय-समय पर देवता भाई अपनी देवी बहन के घर मिलने आता है, उसके लिए भेंट लाता है। उसी तरह बहन भाई के घर आती है। साधारणत: कनिष्ठ भाई या बहन ज्येष्ठ भाई या बहनों के पास जाते हैं, अपने सुख-दुख की चर्चा करते हैं, कष्टों, समस्याओं का उल्लेख करते हैं, कहीं किसी का मन्दिर टूट-फूट गया या भवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया, या उसका गूर मर गया और नया गूर निकला नहीं, तो बड़ा भाई या ज्येष्ठ बहन तुरन्त उस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने गूर के माध्यम से सारी प्रजा को इस स्थिति से अवगत कराते हैं और शुल्क इकट्ठा कर जरूरत पूरी कर देते हैं। शुल्क की राशि या मात्रा सब परिवारों के लिए समान होती है और सभी को अनिवार्य रूप से देना होता है। कई बार एक देवता दूसरे देवता को अपना गूर कुछ काल के लिए उधार दे देता है। यह प्राय: उन्हीं देवताओं में होता है जो एक वंश के हों। नया गूर निकलने तक वह नये देवता का देवत्व ग्रहण करता है।

नया गूर निकालने की भी एक विशेष प्रक्रिया है। देवता कुछ समय तक अपनी प्रजा में से किसी सच्चरित्र, भोले, ईमानदार व्यक्ति की निरख-परख करता रहता है, उसकी परीक्षा लेता है। जो व्यक्ति गूर बनने के योग्य हो, माना यह जाता है कि उसे देव-कृपा से गृहस्थी से विरक्ति होनी शुरू हो जाती है। वह घर के काम से उदासीन हो जिन्दगी से उदास, मायूस अपने में ही खोया रहने लगता है। खाने को कुछ मिल गया तो खा लिया, नहीं तो फाके ही सही। जंगल,

पहाड़, मैदान, उसके लिए सब जगहें एक समान होती हैं । यह दशा लगभग एक साल तक रहती है । इन लक्षणों से लोग समझ लेते हैं कि वह मनुष्य गूर बनने का उपयुक्त पात्र है । कुछ समय के बाद वह व्यक्ति ऊंचे, निर्जन, दुर्गम पर्वत-शिखर पर पहुंच जाता है जहां सामान्यत: आम आदमी की पहुंच नहीं हो सकती है । वह व्यक्ति वहां पर नहाता है और एक सुगंधित बूटी, जिसे 'ब्रेठर' कहते हैं, अपने साथ रखता है । वह कई दिनों तक पर्वत-शिखर के आसपास बन्दरों की तरह कूदता-फांदता रहता है । अन्त में जिस देवता का उसे गूर बनना हो, उसके मंदिर में आ जाता है । वहां पर विधिपूर्वक उसका अभिषेक होता है, जिसे कहीं-कहीं 'गाडू डालना' कहा जाता है । उसे नये वस्त्र पहनाए जाते हैं और आचार-व्यवहार के देवोचित गुणों की दीक्षा दी जाती है ।

सामान्यत: गूर जीवन-पर्यन्त रहता है, लेकिन देवविरुद्ध अथवा समाजविरुद्ध आचरण पर इस पद से हटा भी दिया जाता है और देवता अपना 'सत' उसे नहीं देता है । देवता द्वारा त्यक्त हो जाना एक प्रकार का लांछन है, जिसे सहज में स्वीकार नहीं किया जाता है । समाज में इस प्रकार के गूर का अस्तित्व ही अवांछनीय समझा जाता है ।

गूर, भीतरके और बाहिरके, दोनों तरह के होते हैं । उनमें अन्तर केवल इतना है कि भीतरका गूर देव मंदिर के गर्भ-गृह में बैठकर देवत्व धारण कर सकता है, जब कि बाहिरका गूर वहां नहीं आ सकता । अन्यथा दोनों को समान आदर मिलता है और दोनों से सामाजिक और धार्मिक व्यवहार के ऊंचे आदर्शों की अपेक्षा की जाती है । गूर गृहस्थ-जीवन बिता सकता है, और सामान्यत: बिताता भी है ।

संस्कृति का रक्षक

सामाजिक एवं धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में गूर का अत्यधिक महत्त्व है । यदि कहा जाए कि उसके कारण ही प्रदेश भारत की पुरातन संस्कृति को अक्षुण्ण रख सका है तो अत्युक्ति नहीं होगी । गूर इतिहास और संस्कृति का रक्षक है । अपने वचनों, 'गड़ाई एवं भार्था' में वह न केवल अपने देवता के जन्म, पराक्रम और शौर्य का उल्लेख करता है, बल्कि तात्कालिक वातावरण और घटनाओं का भी उद्घाटन करता है । इनमें प्राचीन गाथाएं, घटनाएं गुंफित होती हैं, इसके अतिरिक्त इन गड़ाई एवं भार्थाओं में कुछ एक पुराने शब्द ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं, जिनका अर्थ न तो इन गूरों को मालूम है और न किसी दूसरे व्यक्ति को ही । गूरों के वचनों से हमें देव-दानव युद्ध, नागदेवता का जन्म, उसकी लीला, ऋषि-मुनियों का विवरण, जमदग्नि, व्यास, वसिष्ठ, शृंगी, कण्व, शांडिल्य, धौमय, नारद, ब्रह्मा के कथानक, महासू, गूगा, श्रीगुल के पराक्रम और हिडिम्बा, भीमा-

काली, तारा, अम्बिका द्वारा राजाओं को राज्य प्रदान करने की सूचना मिलती है।

समाज का पारस पत्थर

गूर की संस्था का बहुत बड़ा कार्य सामाजिक और राजनीतिक अथवा राजसी दबाव को संभालना रहा है। हम कह सकते हैं कि यदि गूर न होते तो शायद इतने लम्बे समय तक यहां जो पुराने राज्य और जनपद चले आए थे, वे न रहते। यहां का जन-जीवन छिन्न-भिन्न हो गया होता। राजसी कलह और विद्रोह अनगिनत व्यक्तियों की आहुति ले लेता। इतना ही नहीं, समाज में जाति-पांति, ऊंच-नीच, सवर्ण-असवर्ण, भीतरके और बाहिरके की विषमताओं को कम करने में इसका योगदान अतुलनीय है।

सबसे मनोरंजक बात यह है कि गूर अकसर हरिजन हैं, और वे ही देवता बन जाते हैं। देवत्व की स्थिति में उनका दरजा ब्राह्मणों, राजपूतों, पुरोहितों, पुजारियों से ऊपर होता है। गूर तब उतना ही पवित्र, उतना ही ऊंचा बन जाता है जितना उसका देऊ या देवी। और वह देवी चाहे ग्राम देवी हो या भगवती जगदम्बा और अम्बिका, माहू नाग हो या विष्णु नारायण। समाज के सभी वर्गों को, सभी जातियों को समानता का दर्जा देने का और उनके अहम् की तुष्टि का इससे बेहतर दूसरा कौन-सा तरीका हो सकता है? और इससे भी बड़ी बात यह है कि कई बार अन्तर्जातीय विवादों, सवर्ण-हरिजन समस्या पर भी इन हरिजन गूरों की भूमिका निर्णायक होती है। कोई भी जाति अथवा पक्ष उन्हें पक्षपात का दोषी नहीं मानता। सामान्यत: देवता इन मामलों में परम्परावादी होते हैं, पर कुछ एक स्थानों पर उन्होंने क्रांतिकारी भूमिका भी निभाई है और उनके निर्देशों ने पिछड़े वर्गों के सामाजिक उत्थान में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है।

ऐतिहासिक भूमिका

एक ऐतिहासिक काम जो इन गूरों ने किया वह है पहाड़ी समाज का ढांचा बनाए रखने का। बाह्य शक्तियों ने समाज पर जो भी प्रहार किए, वे इन गूरों ने संभाले। इन्हीं के कारण हिमाचल प्रदेश में धर्म-परिवर्तन के अधिक उदाहरण नहीं हैं। यह इसलिए नहीं कि इस दिशा में प्रयत्न नहीं किए गए। यदि बारीकी से देखा जाए तो आदि काल से इस क्षेत्र में बाहर के लोगों के आने-जाने का एक लम्बा सिलसिला चला आ रहा है। यहां सभी मतों के लोग आए, सभी धर्मों के अनुयायिओं ने यहां आकर अपनी बात कही, अपना प्रभुत्व जमाने की पूरी कोशिश की।

सबसे पहले वैदिक ऋषियों ने इस क्षेत्र में आकर अपने आश्रम स्थापित किए। उनके पश्चात् जमदग्नि और परशुराम के नेतृत्व में सारस्वत-सैन्धवों ने

बस्तियां बसाईं। कहा जाता है स्वयं महात्मा बुद्ध ने भी इस प्रदेश की यात्रा की। उनके बाद तो बौद्ध भिक्षुओं का यहां तांता ही लग गया और जगह-जगह उन्होंने अपने मठ और विहार बनाए। वैष्णव साधु बड़ी गिनती में यहां आते गए। वैष्णव मत को कई राज्यों में राजधर्म तक घोषित किया गया। देश के अनेक वैष्णव केन्द्रों से विद्वान महात्मा आए। उनके साथ ही अन्य सम्प्रदायों के लोग यहां आए, बसे और यहीं के होकर रह गए। यहां सहजयानी, वज्रयानी, वाम-मार्गियों ने अपनी पूजा-पद्धति लादनी चाही। नाथों, सिद्धों, जोगियों, बैरागियों, उदासियों और गोसाइयों ने यहां धूनी रमाई, डेरा जमाया। ज्वालामुखी को गोसाइयों ने अपना अड्डा बना डाला।

फिर मुसलमान आए, शासन किया, कई जगहों पर मस्जिदें बनाईं, मंदिर तुड़वाए, लोगों को धर्म छोड़ने के लिए नाना प्रकार के प्रलोभन दिए। सिख गुरुओं ने भी यहां भ्रमण किया, गुरुद्वारे बनवाए और बाद में ईसाई मिशनरियों ने एक सुनियोजित, राज-समर्थित अभियान यहां के लोगों को अपने धर्म में शामिल करने का चलाया। उन्होंने जगह-जगह अपने मिशन स्थापित किए। लाहुल, किन्नौर, पांगी, चंबा से लेकर मनाली, धर्मशाला, निरमंड, कोटगढ़, आनी, केलांग, कल्पा, चीनी, पालमपुर, कांगड़ा, सब जगह इन मिशनों का जाल-सा बिछा दिया। लेकिन इन सबों के इन सभी प्रयत्नों का फल जो निकला, वह इस प्रदेश की जनगणना के आंकड़ों से जाहिर हो जाता है। इसका यदि किसी को श्रेय जाता है तो केवल गूर संस्था को। जब-जब भी कोई आपदा आई, दैवी अथवा मानव-कृत आफतें आईं, इन गूरों ने अपने लोगों को दिलासा दिया, देवता के आश्रय का आश्वासन दिया। उनकी मानसिक विकलता को दूर कर अपने प्रेम का, दया का, विश्वास का ऐसा इन्द्रजाल रचा कि मानव बाहर निकल नहीं सका और न ही तो उसने निकलने का प्रयास ही किया। वे इन देवी-देवताओं पर अपने विश्वास में अटल रहे। नाना प्रकार के प्रलोभनों के बावजूद उन्होंने किसी दूसरे की शरण में जाने की जरूरत ही महसूस नहीं की।

गूर अपने स्वच्छतम रूप में कुछ-कुछ वैदिक ऋषियों से मिलते हैं। ऋषि मंत्रों के द्रष्टा थे, देवताओं से बात करते थे और उनके बताए सत्य को लोगों तक पहुंचाते थे। यही काम देऊ के संबंध में गूर करता है। वह देव सत्य का ज्ञाता, व्याख्याता और द्रष्टा है। वह उस युग में जन्मा, जब वर्ण-व्यवस्था में लचीलापन था, जब पुरोहित-पुजारी का महत्त्व था। गूर भी पुजारी की तरह ही देवता का अन्तरंग सहयोगी है। डोडराक्वार के क्वारजाख देवता और मलाणा में जमलू के गूरों की अनुमति के बिना देवता का कोई काम हो ही नहीं सकता। गूर संस्था के वर्तमान ढांचे को शायद बौद्धों से भी बल मिला है। जब समाज में वर्ण-व्यवस्था कुछ जटिल होने लगी थी, तो भगवान बुद्ध ने धर्म के द्वार सबके लिए खोल दिए।

ब्रह्मविद्या को त्रयवर्णिक के बजाय सर्ववर्णिक बना दिया। इसी से हरिजन अथवा बाहिरका गूर भी धार्मिक ढांचे का अभिन्न अंग बना रहा, जिससे आगे चलकर समाज का बहुत ज्यादा कल्याण हुआ। जहां देश के अन्य भागों में, विशेषकर मैदानी इलाकों में, जात-पांत ने भयानक रूप से समाज के निम्न वर्ग को दबाए रखा वहां हिमाचल प्रदेश में सभी वर्ग एक-दूसरे पर सभी बातों में आश्रित रहे और मंदिर आदि की व्यवस्था में बाहिरके और भीतरके लोगों का एक समान दखल रहा, संभवत: वैसा ही जैसा समाज-संगठन के प्रारंभिक दिनों में था।

पांचवां अध्याय*

शैव-बौद्ध जनपद

सरस्वती-सिन्धु मैदान से आकर बस्तियां बसाने के बाद से लेकर भगवान बुद्ध के समय तक डेढ़-दो हजार वर्ष सम्मिश्रण और फैलाव के रहे। नये और पुराने लोग घुल-मिल गए। अनेक मिश्रित बस्तियां बनीं, कुछ एक केवल नये आने वालों की रहीं और कहीं-कहीं पुराने लोगों की निजी बस्तियां कायम रहीं। लेकिन सभी बस्तियों का मूल वरीन्द रहे, कुल रहा। उन दिनों न तो जनसंख्या अधिक थी, और न ही तो खेती-बाड़ी के लिए विस्तृत भूमि उपलब्ध थी। जहां कहीं अच्छे चरागाह, उपजाऊ भूमि और पीने का पानी सुलभ होता था, वहीं बस्तियां बस जाती थीं। जब किसी बस्ती पर दबाव पड़ जाता, भूमि कम पड़ जाती या पानी की कमी महसूस होती तब या तो सारा वरींद कहीं और चला जाता, या उसके कुछ लोग। ये अपनी नई जगह बनाते, वहां खेती-बाड़ी, पशु-पालन शुरू करते और नये जीवन का आरंभ करते।

वरीन्द, कुल

स्वाभाविक रूप से ये बस्तियां एक-दूसरी से अलग-अथग होती थीं। प्रत्येक बस्ती में केवल एक ही परिवार आकर नहीं बसता था, बल्कि एक से ज्यादा परस्पर संबंधी परिवार वहां रहते थे। इस प्रकार के परिवार-समूह को वरीन्द कहा जाता था। आज भी कई स्थानों में एक ही सम्बंधित परिवार के लोग वरीन्द कहलाते हैं। यही 'वरीन्द' कुल कहलाए। कुल के प्रति आदर की, पवित्रता की वही भावना रही, जो देवी-देवताओं के प्रति थी। इसीलिए 'कुलद्रोह' देवद्रोह के समान ही जघन्य माना जाने लगा। कुल के लिए इस तरह का दृष्टिकोण वर्तमान समय तक बड़े-बड़े और पुराने कुटुम्बों में चला आ रहा है। बुजुर्ग प्रायः यह समझाते सुने जाते हैं कि 'कुलघात' एकदम निन्दनीय है, इसका कभी विचार भी मन में नहीं आना चाहिए।

इन वरीन्दों या कुलों का मुखिया आमतौर पर सभी परिवारों का सबसे बड़ा बुजुर्ग होता था, जबकि अकेले परिवार का मुखिया पिता या दादा होता था। ये वरीन्द एक इकाई हुआ करते थे और मिलकर काम करते थे। जब कभी एक

जगह से दूसरी जगह प्रस्थान करना होता था, तब भी समूचा बरीन्द ही अपना अन्न-धन और धौण (पशु, भेड़, बकरी) लेकर जाता था। आन्तरिक मामलों में परिवार स्वतंत्र था, लेकिन बरीन्दों के आपसी मामलों के लिए वे बरीन्द मुखिया के अधीन थे। बरीन्द सामान्यत: आत्म-निर्भर हुआ करता था। बरीन्दों की बस्तियां ही समय के साथ गांव व अल्ल बनीं। ज्यों-ज्यों कृषि का विस्तार होता गया और विभिन्न कामों के लिए कई तरह के लोगों की जरूरत पड़ी, बरीन्द में और लोग भी शामिल होते गए और उसका स्वरूप बदल गया। आपसी खून के रिश्ते के सूत्र ढीले पड़ गए। कुछ लोग बाहर से आए और कुछ अपने ही लोग नीचे गिरते गए। कुछ ऐसे तत्त्व भी आए, जिन्हें हरा दिया गया था।

खूंद

ऐसे भी अनेक अवसर आए, जब एक बरीन्द ने अन्यत्र जा किसी दूसरे बरीन्द की भूमि और बस्ती पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। सरस्वती-सिन्धु मैदानों से आने वाले लोगों ने काफी जगहों पर इस प्रकार की चेष्टा की। कहीं वे सफल रहे, कहीं उनका विरोध किया गया, जैसा कि मलाणा में बाणासुर या उसके बरीन्दों ने जमदग्नि और उसके अनुयायियों का किया था। कई स्थानों पर वे अलग नई बस्ती बसा गए। समय बीतने पर उन्हें भी इसी प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा। ऐसे हालात का मुकाबिला करने के लिए आसपास बसे बरीन्दों का एक सुरक्षात्मक संगठन बना। इस संगठन को 'खूंद' या 'गढ़' कहा जाता था। गांव यदि बरीन्द के उदाहरण हैं, तो परगना या कोठी खूंद के ही रूप हैं। बुशैहर, धूंड, बलसन, बिलासपुर आदि रियासतों में इन खूंदों की परम्परा आधुनिक काल तक बनी हुई थी। निरमंड के ब्राह्मण आज भी सात खूंदों में विभक्त हैं। मलाणा के 'चुघ' भी खूंदों के ही सूक्ष्म उदाहरण हैं।

कालान्तर में ये खूंद ठकुराइयां बन गई थीं। जहां कई खूंद एकत्रित हुए वहां उन्होंने राज्यों का स्वरूप ले लिया था। संस्कृत साहित्य में संभवत: यही खूंद जनपद कहलाए। देश के मैदानी भागों में इन जनपदों का आकार काफी बड़ा था। हिमाचल प्रदेश में त्रिगर्त, आयुधजीवी औदुम्बर, कुलूत, बुशैहर, कुलिन्द जैसे छोटे-बड़े जनपद भी रहे और धूंड जैसे जनपद छोटे भी, जिसका आकार सन् 1948 में विलय के समय केवल नौ वर्ग मील था और जन-संख्या दो हजार थी। मलाणा जनपद में केवल सवा सौ के करीब घर और नौ सौ के करीब आबादी है।

जिस प्रकार सभी बरीन्द परिवारों का वयोवृद्ध पुरुष उस बरीन्द का नेता होता था, ठीक उसी प्रकार खूंद के सभी बरीन्दों में वृद्ध व्यक्ति खूंद या गढ़ का नेता होता था। संभव है अपने प्रारंभिक स्वरूप में ये खूंद संबंधित बरीन्दों के ही रहे हों, जो शांतिकाल में अपनी-अपनी बस्तियों में पूर्ण स्वतंत्र थे, किन्तु आपत्काल में या युद्ध

के अवसर पर मिलकर अपनी रक्षा करते और एक-दूसरे की सहायता करते थे। जब बाद में इन बरीन्दीय बस्तियों में अन्य बरीन्द या बरीन्दों के परिवारों के अकेले पुरुष ही आकर शामिल हो गए, तब भी बाह्य स्थितियों का सामना करने के लिए उनके संगठन का यही स्वरूप रहा। सुरक्षा के लिए उन्होंने गढ़ों या कोटों का निर्माण किया होता था। ये गढ़ अथवा कोट युद्धनीति की दृष्टि से उपयुक्त स्थान पर बनाए जाते थे। बहुधा ये धारों की चोटियों पर स्थित होते थे या ऐसे स्थानों पर जहां से सब ओर देखा जा सके और दूर-दूर तक सब दिशाओं में नजर रखी जा सके, लेकिन जहां पहुंचना कठिन हो तथा जहां की रक्षा आसानी से की जा सकती थी। इस प्रकार के गढ़ प्राय: सारे प्रदेश में नये-पुराने गांव में या उनके निकट पाए जाते हैं। कहीं उनके भग्नावशेष हैं, कहीं केवल नाम रह गया है, और कहीं-कहीं उन जगहों पर नये गांव या नगर बस गए हैं। बरामगढ़, सिरिगढ़, कोटगढ़, नालागढ़, हरिगढ़ में भग्नावशेष मिलते रहे हैं। नगरकोट, पठानकोट, राबाकोट, समरकोट आदि स्थान कोटों से ही अपना नाम सार्थक करते हैं।

आरंभ में परिवार, बरीन्द अथवा कुल और खूंद ही राजनीतिक इकाइयां रही होंगी। ऋग्वेद काल में संभवत: यही स्थिति थी। शम्बर खूंदों का मुखिया था। उसी हैसियत से वह सुदास-दिवोदास के विरुद्ध लड़ा होगा। उसके खूंदों के एक सौ गढ़ थे। सुदास के विरुद्ध युद्ध में उसकी सहायता चुमुरी, वृत्रासुर, कृष्णासुर, नमुचि, तुग्र, कुत्स, वरशिख, धुनि, शुण, अक्षुप और पिपु नामक नायकों ने की थी। ये इकाइयां जनतन्त्रात्मक थीं, जिनमें सब परिवारों, बरीन्दों और खूंदों के प्रतिनिधि, बरीन्द मुखिया और खूंद नेता के अधिकार बराबर थे। सारस्वत-सैन्धवों के यहां गणतन्त्रात्मक व्यवस्था का प्रचलन था। इसका स्पष्ट उदाहरण हमें हिमाचल में उनकी पुरातन बस्तियां, मलाणा, हाटकोटी, निरमंड आदि में मिलता है।

मलाणा जनपद व्यवस्था

प्रार्थी[1] और कुल्लू के चन्द्रशेखर 'बेबस'[2] मलाणा की शासन-पद्धति एवं निर्वाचन-प्रक्रिया का आंखों-देखा हाल ब्यान करते हुए लिखते हैं कि गांव दो भागों में विभक्त है। एक भाग सौरा बेढ़ और दूसरा धारा बेढ़ कहलाता है। इनके आठ छुद्दियां (वंश) और चार बरीन्द हैं जिन्हें चुघ कहा जाता है। इन चुघों के नाम हैं—थम्याणी, नगवाणी, दुराणी और पलचाणी! इस जनपद का सारा कार्य जमलू के नाम पर जमलू द्वारा ही चलाया जाता है। जनपद उसका है, वहां की सारी भूमि उसकी है। उसके प्रतिनिधि जनपद के सारे परिवार हैं, जो हर निर्णय

1. कुलूत थम्याणी देश की कहानी
2. जन साहित्य पार्वती लोक मानस विशेषांक, 1966

सर्वसम्मति से करते हैं। निर्णय पर पहुंचने से पहले हर मामले पर पूरी बहस होती है। गंभीर विचार-विमर्श होता है। इसके लिए बाकायदा दो सदन हैं। एक का नाम है जेठरा या जेष्ठांग और दूसरे का 'वारी' या कोरम। कोरम को कई लोग जेष्ठांग के साम्य में कनिष्ठांग भी कहते हैं। लेकिन स्थानीय नाम वारी, कोरम या कोर ही है। कोरम में मलाणा जनपद के हर परिवार का एक वयस्क सदस्य होता है। उस रूप में उसे 'चाकर' कहते हैं और अन्य लोगों को हूद।

जेष्ठांग में ग्यारह प्रतिनिधि होते हैं। यह कार्यकारिणी परिषद का सा विधान है, इसे ज्येष्ठ सदन अथवा सीनेट का पर्याय भी माना जाता है। इन प्रतिनिधियों में से तीन, बड़ा पुजारी, गूर और कारदार अथवा कर्मिष्ठ, विशिष्ट चुघों से लिए जाते हैं। बड़ा पुजारी नगवाणी चुघ, गूर दुराणी या पलचाणी चुघों तथा कर्मिष्ठ थम्याणी चुघ का सदस्य होता है। देवता के बाद सबसे बड़ा अधिकारी पुजारी माना जाता है, जो वस्तुतः पुराने समय का पुरोहित है। ये तीनों अधिकारी जीवन-भर के लिए चुने जाते हैं, केवल मृत्यु पर या कोढ़ जैसे किसी संक्रामक रोग से ग्रस्त होने पर या कोई अत्यन्त भयंकर जघन्य अपराध करने पर ही उन्हें हटाया जा सकता है, वह भी तब जब जेष्ठांग और कोरम इस निर्णय का एक मत से अनुमोदन करें।

जेष्ठांग के बाकी आठ सदस्यों का चुनाव प्रायः चार-पांच वर्षों के बाद होता रहता है। प्रत्येक छुद्दी एक-एक प्रतिनिधि चुनता है, जिसका निर्वाचन आम सह-मति से होता है। जब कभी एक से ज्यादा लोग चुनाव लड़ना चाहते हैं, तब मत-दान का प्रचलन भी है। आपस में सलाह-मशविरा करने पर जिसके पक्ष में उस छुद्दी के ज्यादा लोग हों, उसे ही प्रतिनिधि माना जाता है। जेष्ठांग के किसी भी सदस्य को सेवा-निवृत्त करने या निकाल देने से सभी आठ सदस्य सेवा-निवृत्त समझे जाते हैं। इस अवसर पर जिस 'चौतड़े' पर ये जेष्ठांग प्रतिनिधि बैठते हैं, वे वहां से नीचे उतर आते हैं। चौतड़े पर केवल तीन स्थायी प्रतिनिधि, बड़ा पुजारी, गूर और कर्मिष्ठ रह जाते हैं। ऐसे अवसर पर चौतड़ा कभी खाली नहीं रखा जाता है। ज्योंही सदस्य चौतड़े से नीचे उतरते हैं, उनका स्थान रिक्त माना जाता है और नये सदस्य चुनने का काम तुरन्त शुरू हो जाता है।

नया चुनाव कोरम के सामने होता है, अर्थात् सारा जनपद तब वहां उपस्थित होता है। कोरम ही इन सदस्यों का निर्वाचन करता है। चुने हुए सदस्यों को बड़ा पुजारी हाथ पकड़कर चौतड़े पर अपने बराबर बैठाता है। उसी समय छोटा पुजारी या कोई दूसरा आदमी बकरा काटता है और लहू भरा द्राट चौतड़े पर ले आता है। नये चुने हुए जेठरा और बड़ा पुजारी, गूर और कर्मिष्ठ द्राट पर लगे खून से अपने माथे पर तिलक लगाते हैं। फिर सब एक आवाज होकर शपथ लेते हैं कि वे देवता और जनपद के वफादार रहेंगे और उनके जिम्मे लगाए गए काम

को पूरी लगन से करेंगे।

जेष्ठांग चुने जाने पर निर्वाचित सदस्य तीन मास तक त्यागपत्र नहीं दे सकते। विशेष कारणों से कोरम जेष्ठांग के प्रति अविश्वास प्रकट कर सकता है। किन्तु यदि जेठरा सहमत न हों तो वे पहले आपस में गुप्त सलाह-मशविरा करते हैं और तब कोरम को बुलाने के लिए आवाज लगाते हैं और उसके सामने त्यागपत्र देने का सुझाव रखते हैं। कोरम अपनी शिकायतें बताते हैं और आम तौर पर जेठरों के स्पष्टीकरण से सन्तुष्ट हो जेष्ठांग को बना रहने देते हैं। किन्तु जेष्ठांग यदि त्यागपत्र देना ही चाहे तो धम्याणी चुघ का सदस्य चौतड़े से छलांग लगा कर नीचे उतर आता है। उसके बाद दूसरे सात जेठरा भी नीचे आ जाते हैं और चौतड़े पर तीन स्थायी जेठरा ही रह जाते हैं। उन्हें तब तक वहीं बैठे रहना होता है, जब तक नये जेठरा न चुन लिए जाएं। जेष्ठांग के विरुद्ध कोरम का अविश्वास साधारण घटना नहीं होता, इसे बड़ा 'दोष' व कलंक समझा जाता है।

जेष्ठांग और कोरम का अधिवेशन एक साथ एक स्थान पर होता है और निर्णय भी एक मत से होते हैं। गांव के बीच में जमलू की कोठी के सामने लगभग पांच मीटर लम्बे-चौड़े अनघड़ पत्थरों के आधा मीटर ऊंचे इस समतल चौतड़े पर जेष्ठांग के सदस्य बैठते हैं। कोरम के सदस्य चौतड़े के इर्द-गिर्द भूमि पर बैठ जाते हैं। समस्या उनके सामने रखी जाती है। जेष्ठांग और कोरम के लोग समस्या को जान कर परस्पर चर्चा करते हैं। जेष्ठांग के सदस्य कोई निर्णय लेने से पहले कोरम का समर्थन प्राप्त करने पर बाध्य होते हैं; अतः एक जेष्ठांग सदस्य चौतड़े पर से नीचे उतर कर लोगों को सारी परिस्थिति बतला कर जेष्ठांग की प्रतिक्रिया से उन्हें अवगत कराता है। यदि जेष्ठांग का निर्णय लोकमत के अनुकूल न हुआ तो कोरम विरोध करता है। इस पर जेठरा फिर चौतड़े पर जाकर बाकी जेठरों से बातचीत कर निर्णय में फेरबदल कराता है। फिर दूसरा जेठरा इस नये निर्णय को लोगों को बताता है। यह क्रम तब तक जारी रहता है जब तक कि निर्णय पूरी तरह सभी को मान्य न हो जाए। सहमति प्रकट करने के लिए हाथ उठाने जैसी बात देखने में नहीं आती। न वोट लिए जाते हैं, न पर्चियां पड़ती हैं, न विरोधी पक्ष होता है। सभी समान रूप से सभी के हित में मिल-जुल कर समस्या का हल निकालते हैं और एक बार निर्णय हो जाने पर उसे तन-मन से पूरा करते हैं।

अधिवेशन नियत समय के अतिरिक्त किसी भी समय बुलाया जा सकता है। एक जेठरा चौतड़े पर खड़ा होकर आवाज देता है, फिर एक पोगलदार, जनगा या हारचा के मैदान (शना) के एक सिरे पर विशेष पत्थर पर खड़ा होकर ऊंचे स्वर में पुकारता है। शब्द कुछ इस प्रकार के होते हैं, "दोऽऽऽय-गऽऽऽकेऽऽऽ।" इस प्रकार का आह्वान तीन बार किया जाता है। इसे जो भी सुनता है, तत्काल उपस्थित

हो जाता है। पड़ोसी एक-दूसरे को सूचित करके सब काम-धन्धा छोड़ भाग आते हैं। गैरहाजिरी या देर करने पर दंड तक दिया जाता है। मामला अगर गंभीर हो और यह वांछित हो कि कोरम और जेष्ठांग के सभी सदस्य शामिल हों तो पोगलदार अपने बुलावे की पुकार के साथ देऊ द्रोही 'देवता की द्रोही' भी देता है। इस द्रोही की कोई भी व्यक्ति अवहेलना नहीं कर सकता है और वह चाहे कुछ भी कर रहा हो, घर में कोई भी खुशी-गमी हो, खेतों में कैसा भी काम किया जा रहा हो, उसे त्याग कर तुरन्त चौतड़े पर आ उपस्थित होता है। पोगलदार संख्या में चार होते हैं और हर चुघ से एक लिया जाता है। इनका मुख्य काम जेष्ठांग के फैसलों का पालन कराना होता है।

निर्णय लेने की जिम्मेदारी साधारणत: जेष्ठांग की होती है। कोरम उसका अनुमोदन संशोधन करता है। इसलिए सोच-विचार करते हुए जेष्ठांग सदस्य तो पूरा ध्यान समस्या पर लगाते हैं, लेकिन कोरम वाले जेठरा द्वारा, समस्या का कारण सुनते हैं, जेष्ठांग ने जो निर्णय लिया, उसे सुनते हैं, और जब जरूरी हुआ अपना मत व्यक्त कर देते हैं, नहीं तो चौतड़े के चारों तरफ अपनी-अपनी टोलियां बना हंसी-मजाक, गप्पें चलाए रहते हैं और ऊन कातते, सूत ऐंठते या घास की पूलें (जूतियां) बनाते रहते हैं।

किसी विषय पर जेष्ठांग में ही मतभेद हो, या जेष्ठांग और कोरम एक मत न हो सकें, उस स्थिति में समस्या स्वयं जमलू के सम्मुख रखी जाती है और 'गूर' जो भी निर्णय दे वह अन्तिम और सर्वमान्य होता है। अपने-अपने पक्ष की यदि देवता के सम्मुख पैरवी करनी हो, तो लोग मुख्त्यार भी दे सकते हैं। सामान्यत: देवता का निर्णय प्राप्त करने का यह तरीका है कि पोगलदार बकरियों के रेवड़ में से दो बराबर की आयु और एक जैसे कद के छोटे-छोटे बकरे लाता है। 'फलोबरी' (रेणुका माता का अन्दरोल) के पास दो मजबूत खूंटे गाड़ कर इन बकरों को उनसे बांध देता है। छोटा कारदार जहरमाहुरा, जिसे यहां बछनाग कहते हैं, पीसता है और उसके दो बराबर भाग करके दोनों बकरों की पिछली रान चीर कर उसमें डाल देता है। दोनों पक्ष अपने-अपने बकरे के पास दोजानू होकर सिर जमीन पर टिका, औंधे मुंह बैठ जाते हैं। बकरों के ऊपर कपड़ा डाल दिया जाता है। उन में जहर चढ़ना शुरू हो जाता है। जिस पक्ष का बकरा पहले मर जाए, वह हारा हुआ माना जाता है। हार-जीत का एलान जेष्ठांग करता है। हारने वाले व्यक्ति के सिर पर कफनी-सी बांधी जाती है और वह शर्मिंदा-सा होकर घर चला जाता है। जीतने वाले को उसके तरफदार कन्धों पर उठाकर जलूस में देवता के सिंहासन पर ले जाते हैं, जहां वह देवता को और जेष्ठांग को प्रणाम करता है और जीतने की खुशी में जलपान कराता है।

इससे यह समझा जा सकता है कि बार-बार इस प्रकार की निर्णय-विधि का

प्रयोग करने से लोगों में दुश्मनी काफी बढ़ती होगी। यों यह स्वाभाविक परिणाम भी है, लेकिन इस पुरातन जनपद ने इस स्थिति को संभालने का अनूठा तरीका निकाल रखा है। जब जीत की खुशी का नशा कुछ कम हो जाए, और हार के अपमान की टीस मद्धिम हो जाए, तो जीतने वाले और हारने वाले, दोनों को देवता के सिंहासन के पास बुलवाया जाता है और देवता के सम्मुख उनका मन-मुटाव दूर करा कर मेल-मिलाप कराया जाता है। इसे 'छिदरा करना' या शुद्धि करना कहते हैं। दोनों व्यक्तियों को आदेश मिलता है कि वे इस झगड़े से पैदा हुए फैसले के कारण भविष्य में कोई शत्रुता नहीं रखेंगे। इसके बाद जीतने वाला हारने वाले व्यक्ति को अपने घर ले जाता है, और उसका यथासामर्थ्य आदर-सत्कार करता है। इस तरह से परम्परा से चले आए इस जनपद का सामाजिक ढांचा ज्यों-का-त्यों बना चला आ रहा है।

यदि किसी पीड़ित को किसी मामले में तुरन्त निर्णय करवाना अपेक्षित हो और उसे शक हो कि साधारण परिस्थितियों में उसे न्याय नहीं मिल सकेगा, तब वह चौतड़े के पास आग जला कर बैठ जाता है और रात होने तक वहीं बैठा रहता है। गांव में उपस्थित जिस जेठरा को इसकी सूचना मिलती है वह उसके पास आकर विश्वास दिलाता है कि उसका फैसला करने के लिए प्रातःकाल ही कोरम की बैठक बुलाई जाएगी। जेठरा यह आश्वासन देकर चला जाता है। अगली सुबह ही जेष्ठांग और कोरम मिलते हैं और फैसला कर देते हैं।

इस जनपद के लोग न्याय के लिए किसी सरकारी अदालत में जाना अपराध समझते रहे हैं। बात छोटी हो या बड़ी, सज़ा रुपया दो रुपया का दंड हो या मृत्युदंड, वे अपनी ही अदालत में फैसला करते हैं और उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। हां, यदि कोई बाहर का आदमी सरकारी अदालत में मुकद्दमा दायर करे, तो मजबूरी में वहां हाजिर हो जाते हैं। प्रार्थी का कहना है कि अंग्रेजों की एक सौ वर्षों की हुकूमत में उनका कोई मुकद्दमा सरकारी अदालत में नहीं गया, सिवाय एक बार के जब सामूहिक फैसले के अनुसार आड्तु नाम के पुजारी को देवता के खजाने में गोलमाल करने पर मृत्युदंड दिया गया। आड्तु किसी प्रकार भाग कर मलाणा जनपद की सीमा के बाहर दूसरे गांव में चला गया। जेष्ठांग और कोरम ने उसके सारे परिवार को देशनिकाला दे दिया।

बदले की आग में जलकर उसने कुल्लू के तत्कालीन अंग्रेज़ असिस्टेन्ट कमिश्नर से शिकायत की कि कुल्लू में अभी तक मलाणा गांव वाले ब्रिटिश सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने अपने देवता जमलू की आज्ञा से मृत्यु और निर्वासन दंड जैसे निर्णय मेरे और मेरे परिवार के विरुद्ध लिए हैं, कृपया मेरी फरियाद पर गौर किया जाए और मुझे इन्साफ दिलाया जाए। अंग्रेजी प्रशासन ने मलाणा गांव वालों को

कुल्लू बुलाने के समन भेजे, किन्तु न तो किसी मलाणा-वासी ने समन ही लिए और न अदालत में हाजिर हुए। इससे खीजकर उस अधिकारी ने पंजाब सरकार को रिपोर्ट भेजी कि मलाणा गांव ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया है। विद्रोह को कुचलने के लिए सशस्त्र गोरों का एक दस्ता आइतु के साथ मलाणा पहुंचा और लोगों को हर तरह से दबाना शुरू किया, यहां तक कि गोवध जैसे तरीके भी इस्तेमाल किए। मलाणा वाले इन अत्याचारों को शान्ति से सहते रहे, मानो वे इस स्थिति का इन्तजार कर रहे हों। उनका कहना था कि जमलू पहले ही सुझा चुका था कि ऐसा कुछ होने वाला है। तूफान गुजर गया, मलाणा और मलाणा-वासी वहीं रहे, केवल असिस्टेन्ट कमिश्नर को अपनी रिपोर्ट में विद्रोह जैसे शब्द प्रयुक्त करने के लिए बदल दिया गया। लोगों ने पुजारी को गांव में दोबारा रहने तो दिया लेकिन उससे किसी प्रकार का मेल बरतन नहीं रखा। इस सामाजिक बाइकाट से वह इतना परेशान हुआ कि थोड़े ही दिनों में घुल-घुलकर मर गया।

एक और घटना का उल्लेख भी उपलब्ध है। मंदिर के एक कार्यकर्ता ने खजाने से चांदी चुराकर अपनी पत्नी के लिए आभूषण बनाए। परन्तु वह स्त्री लोगों से इस बात को छुपा न सकी। उसने अपने पति की मुखबरी की। छानबीन हुई, कारिन्दे को दोषी पाया गया और उसे देशनिकाला दिया गया। पत्नी को उसकी सम्पत्ति पर कब्जा करने का आदेश दिया गया। किन्तु उसने यह कहकर इस आदेश का पालन करने से इन्कार कर दिया कि मैंने देवता और गांव को अपनी वफादारी का सबूत दे दिया है, अब मैं अपने पति के प्रति वफादारी का सबूत देना चाहती हूं। यह कहकर वह अपने पति के साथ गांव छोड़कर चली गई और सारा जीवन मलाणा से बाहर रही। इन घटनाओं से लोगों के मन में अपने देवता और जनपद के प्रति अगाध श्रद्धा, आस्था और विश्वास का पता चलता है।

बुद्धकालीन जनपदों से साम्य

आश्चर्य की बात यह है कि ठीक मलाणा की तरह बुद्ध के समय के जनपदों की स्थिति भी थी। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के अनुसार लिच्छवी जैसे संघों में सात 'अपरिहन्य धम्म', विशिष्ट नियमों का पालन किया जाता था, जिनका उपदेश स्वयं बुद्ध ने सरदन्द चैत्य में दिया था। इन धम्मों के अन्तर्गत संघ वाले अपनी सामान्य सभा का अधिवेशन कई बार बुलातेथे और इन अधिवेशनों में सभी को बिना किसी छूट के सम्मिलित होना होता था। इन अधिवेशनों में जो भी निर्णय लिए जाते थे वे सर्वमान्य हुआ करते थे और सख्ती से लागू किए जाते थे। वे लोग निरन्तर अपनी परम्पराओं का पालन करते थे और जो वायदा एक बार कर

लेते, उस पर अडिग रहते थे। वे बुजुर्गों का आदर करते थे और उनकी भली प्रकार देखरेख करते थे। वे कभी किसी को भी स्त्रियों अथवा कन्याओं का अपहरण नहीं करने देते थे। अपने देव मन्दिरों, देवालयों का बहुत अच्छी तरह रख-रखाव करते थे और अपने मुनियों और अर्हतों का पूरा सम्मान करते थे।

संथागार—चौतड़ा

सुमंगल विलासिनी में लिखा है कि ये लोग अपने सभा अधिवेशनों में बीमार, आधिव्याधिग्रस्त अतिथि की आवभगत या किसी पति द्वारा चरित्रहीन पत्नी के वध जैसे विषयों पर विचार करते थे। जो भी निर्णय लेते, वे सर्वसम्मत होते। इस तरह के अधिवेशन ढोल बजाकर बुलाए जाते थे और ढोल की आवाज सुनकर, चाहे जो जहां हो, वह संथागारशाला में उपस्थित हो जाता था। संथागारशाला स्पष्टतः मलाणा, निरमंड, हाटकोटी, डोडराक्वार, निरथ आदि स्थानों का चौतड़ा ही है।

अभी हाल तक निरमंड में भी परशुराम की कोठी का काम इसी प्रकार चलता था। जब कभी लोगों का मत जानना होता और अधिवेशन बुलाना होता, तो कोठी का 'कराडक' 'हाक' डालता था। 'हाक' सुनकर सभी मर्द 'अंबिका के खड़े' या चौतड़े पर इकट्ठे हो जाते थे। चौतड़े पर पांच पीठिकाएं थीं और पांच आसन थे जिन पर कोठी का कारदार और चार अन्य पदाधिकारी बैठा करते थे, जिन्हें बाद में दरोगा कहा जाने लगा था। ये दरोगा भिन्न-भिन्न जाति के होते थे—एक ब्राह्मण, एक खश, एक डागी। चौथा कभी-कभी ब्राह्मण, तो कभी किसी अन्य जाति का हुआ करता था। ये अपने-अपने खूंदों के नुमाइंदे हुआ करते थे। डागी चौतड़े पर नहीं बैठता था। वह बाकी लोगों के साथ चौतड़े के बाहर बैठता था। इस सभा में जो भी फैसले लिए जाते, वे प्रायः सर्वसम्मत होते थे। सभा प्रायः कारदार और दरोगों के निर्णयों को ही स्वीकार कर लेती थी। किन्तु जब कभी साधारण लोग विपरीत मत रखते और यदि उनकी ओर जनमत ज्यादा रहता तो वह स्वीकार भी किया जाता था। निर्णय जब एक बार हो जाए, वह अकाट्य होता था।

चौतड़े पर कोई झूठ नहीं बोलता था। यहां पर जुटी सभा धार्मिक, सामाजिक, जातीय और राजनीतिक निर्णय भी करती थी। किसी स्थान से किसी देवता का किसी यज्ञ में शामिल होने का निमंत्रण आए तो यहीं फैसला होता था। कभी किसी रियासत के राजा या किसी 'स्थान' या 'ठेहरी' के देवता ने अपमान किया हो, तो उसके साथ संबंध बनाए रखे जाएं या तोड़ दिए जाएं और यदि पुनः स्थापित करने हों तो कितना दंड वसूल किया जाए, इसका फैसला भी यह सभा

किया करती थी। इस चौतड़े पर जो 'करार' कर ली जाती थी, जो सौगन्ध खा ली जाती थी वह अटल मानी जाती थी। यह बैठक इतनी पूजनीय बन जाती थी कि स्वयं चौतड़े में ही देवत्व आरोपित हो गया था। उस पर जूता लेकर नहीं चढ़ सकते थे, आते-जाते उसे छूकर एक प्रकार की बन्दगी की जाती थी। उच्च कुल की स्त्रियां इस चौतड़े के सामने से होकर नहीं चला करती थीं।

चौतड़े को किन्नौर में सन्थांग, शिमला में थौड़, सिरमौर में शोज, सतलुज उपत्यका में थाणी या थांठ भी कहा जाता है। सन्थांग को चौगान और 'शना' का पर्यायवाची भी कहा जा सकता है, विशेषतः वहां जहां इसका उपयोग सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्सव मनाने के लिए किया जाता है। किन्नौर में साधारणतः देवता के मंदिर के साथ का खुला मैदान सन्थांग कहलाता है। इस सन्थांग में बैठ कर देवता दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय करता था, अपराधियों को दंड देता था और बीमारी-शुमारी के समय लोगों की सहायता एवं रक्षा करता था। प्रदेश के अन्य भागों में चौतड़ा पत्थरों का बना गोल या चौकोर स्थान होता है, उस तरह का जैसा कि बुद्ध के महानिर्वाण के बाद कपिलवस्तु में निर्मित किया गया था। यह चौतड़ा देवता की गद्दी या सिंहासन भी माना जाता था। आज भी पुराने गांव में इस प्रकार के पत्थरों के गोलाकार अवशेष हैं, जिन पर बड़े-बड़े पत्थर बिछाए हुए हैं। यद्यपि आज ये चौतड़े अपना सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक महत्व खो चुके हैं, किन्तु इनके पीछे जो पवित्रता, शुचिता, दैवीपन और आदर की भावना थी, वह बनी हुई है। हाटकोटी में बज्रेश्वरी के मंदिर के बाहर के चौतड़े की भी यही स्थिति है।

डोडराक्वार

पूर्व में, डोडराक्वार मलाणा जैसा ही अगम्य स्थान है। इसका प्रवेशद्वार केवल छः महीनों के लिए खुला रहता है। डोडराक्वार में भी हर परिवार का योग्यतम व्यक्ति ग्राम-सभा के लिए चुना जाता है। यह सभा या पंचायत बिरादरी और परिवार के अन्दरूनी झगड़ों को निपटाती है। यहां सामाजिक जीवन का आधार यह पंचायत ही है। जिन फैसलों को पंचायत न कर सके उन्हें 'क्वार-जाख' देवता, जो जमलू की तरह जातीय देवता है, तय करता है। उसका निर्णय सभी को मानना पड़ता है। क्वार-जाख कई बार परिवारों को उनके मकान, जमीन, जायदाद तक से बेदखल कर लेता है।

देवराज

मलाणा, निरमंड और डोडराक्वार जैसे जनपदों को हम देवराज जनपद कह सकते हैं, क्योंकि उनका संचालन स्वयं देवता या उसके नाम पर उसके प्रतिनिधि

करते थे। आगे चलकर ये देवराज जनपद ही एकराज और गणराज जनपद बन गए। लेकिन कहीं-न-कहीं देवराज का अंश जरूर बना रहा और यही कारण है कि पन्द्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भी कुल्लू और बिलासपुर जैसे राज्यों के राजाओं ने क्रमश: अपने राज्य को रघुनाथ और माधोराय (केशव) के नाम कर दिया था और स्वयं इन देवताओं के सेवक बनकर राज करते थे। वाराणसी का महाराजा भी अपने आपको भगवान विश्वनाथ का सेवक कहलाता रहा है, बाद में भले ही लोगों ने स्वयं राजा को विश्वनाथ का अवतार मानना शुरू कर दिया।

•

एकराज

ये देवराज जनपद कब एकराज बने, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। एकराज-पद्धति के जन्म का मुख्य कारण युद्ध जैसी संकटमयी स्थिति का सफलता से सामना करने के लिए एक सर्वप्रमुख नेता की आवश्यकता रहा होगा। ऐसा लगता है कि ऋग्वेद काल में शम्बर के समय में ही कांगड़ा तथा निकटवर्ती इलाकों में राजा और राज्यों का बीजरूप में जन्म हो गया था, लेकिन उनका आरंभिक स्वरूप देवराज ही रहा। देवराज-एकराज का सम्मिलित रूप हमें औदुम्बर और कुलिन्द जनपदों में भी मिलता है। सामान्यत: सर्वोच्च नेता के अधिकार-क्षेत्र के खंड ही जनपद बने और बाद में राज्य बने। इसका परिणाम यह हुआ कि कहीं-कहीं हमें राजनीतिक रूप से दो इकाइयां सी दीखती हैं। कात्यायन भी दो प्रकार के जनपदों का उल्लेख करता है, एक एकराज और दूसरा संघ। वास्तव में वे सब गण या संघ थे। उनका संविधान जनतन्त्रात्मक था, जिसमें कुछ-कुछ राजसी पुट भी था। उनके नेताओं को राजा कहा जाता था। महावस्तु के अनुसार वैशाली में एक समय इस प्रकार के 68 हजार राजा थे। जातकों में इन राजाओं की संख्या 7,707 दी गई है।

इस तरह का विधान देश में चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तक चलता रहा। कौटिल्य ने उनका उल्लेख वृज्जिक, मल्लक, मद्रक, कुक्कुर, कुरू, पांचाल तथा अन्य श्रेणियों के साथ किया है। ये लोग 'राजा शब्दोपजीविना' थे, अर्थात् राजा की उपाधि लिए होते थे। संघ शासन के प्रभावशाली ऐश्वर्य-सम्पन्न जितने कुल थे, उन कुलों के प्रतिनिधि भी राजा के नाम से जाने जाते थे और उनका एकराज जनपद के राजा के समान अभिषेक होता था। लिच्छवी जनपद के वैशाली संघ के राजाओं के संबंध में कहा जाता है कि उनके जितने कुल थे, सबके वृद्धों का अभिषेक होता था। अभिषेक के लिए जल एक विशेष पुष्करणी या कुंड से लिया जाता था। उस मंगल पुष्करणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था, अत: जिन कुलों में प्रभुसत्ता प्रतिष्ठित थी, उन्हें ही इस मंगल पुष्करणी से अभिषेक के

लिए जल पाने का अधिकार होता था। कुल पिता के अनन्तर उसके पुत्र का मूर्धाभिषेक बड़ी धूमधाम से किया जाता था।

कुलपति का अभिषेक

हिमाचल प्रदेश में कुछ एक स्थानों में यह कुल प्रतिनिधियों के अभिषेक की प्रथा आज भी चली आ रही है। यह प्रथा सरस्वती-सिन्धु भू-भाग के लोगों की विशेषता थी, जो उनके पूर्व और पूर्व-दक्षिण प्रसार के साथ उनके संग गई और ईसा पूर्व की चौथी-पांचवीं शताब्दी तक सारे देश में लोकप्रिय थी। जैसा हम पूर्व अध्याय में देख चुके हैं, निरमंड में भूंडा के अवसर पर सन् 19[illegible]1 तक कुल प्रतिनिधियों का अभिषेक होता रहा है। ये प्रतिनिधि गाहरी कहलाते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी ये गाहरी अपने इस अधिकार की रक्षा बड़ी सतर्कता से करते आए हैं। यहां अभिषेक मुख्यतः गाहरी कुटुम्ब के ज्येष्ठतम पुत्र का ही होता है जिसकी साम्यता युवराज से की जा सकती है।

भूंडा के समारंभ पर प्रत्येक गाहरी कुल और परिवार परशुराम मंदिर के कारदार और यज्ञ के अधिष्ठाता को सूचित करता है कि फलां दिन उसके घर अभिषेक समारोह होना है। इस समारोह को 'टीका लगाना' कहते हैं। टीका सबसे पहले किसी नाग पुंडरीक ब्राह्मण गाहरी को लगता है। निश्चित समय पर अंबिका का कलश अभिषेक के इच्छुक गाहरी के घर लाया जाता है। कलश की विधिवत पूजा की जाती है। इस पूजा के लिए जल एक खास बावली से लाया जाता है जिसे गंगाजल के समान पवित्र मानते हैं। यह रोचक बात है कि इस कार्य के लिए गंगाजल प्रयुक्त नहीं होता है। आम तौर पर यह बावली कई बार सूख जाती है, लेकिन सब लोग इस बात पर एकमत हैं कि भूंडा के अवसर पर इस बावली में हमेशा पानी निकल आता है। कलश-पूजा के समय सारा वरीन्द उपस्थित होता है। कुल प्रतिनिधियों के सामने कलश की कुशा से पवित्र बावली के जल द्वारा अभिषेक किया जाता है। उसके उपरान्त जिस व्यक्ति का अभिषेक हुआ है, उसे बाजे-गाजे के साथ पूरे सम्मान से परशुराम के सम्मुख ले जाया जाता है, जहां उसके मस्तक पर तिलक और पीठ पर केसर चंदन से हाथ के पंजे का निशान लगाया जाता है।

टीका लगाने पर कई बार मनमुटाव और झगड़ा तक की नौबत आ जाती है, विशेषकर तब जब कोई अपात्र छल से या अपने रुपये-पैसे के जोर से अपने बेटे का अभिषेक कराना चाहता है। कारदार के पास जब टीका लगाने वाला सूचना देता है तो उसकी इस प्रार्थना पर गाहरी पंचायत गौर करती है। जांच की कसौटी यह होती है कि क्या टीका लगाने का इच्छुक सात पीढ़ियों से विशुद्ध गाहरी चला आया है या नहीं ? यदि कहीं थोड़ा भी 'खोट' हुआ, अर्थात् त्रुटि हुई,

तो टीका लगाने के लिए अंबिका का कलश और मंदिर का बाजा (वाद्ययंत्र) नहीं भेजे जाते हैं। टीका की प्रार्थना करना और उसका स्वीकार न होना अपमानजनक माना जाता है।

यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि जब सारस्वत-सैन्धवों ने पूर्व में नई बस्तियां बसानी आरम्भ की थीं और हिमाचल में नई-पुरानी बस्तियां फल-फूल रही थीं तो उनका आपस में संबंध बना रहा था, भले ही उतना गहरा नहीं, जितना विस्थापना से पहले था। यह काल अपेक्षाकृत शांतिमय था और धीरे-धीरे देवराज एकराज में परिवर्तित हो रहा था। इसी दौरान शायद महाभारत का युद्ध हुआ। यह तो निश्चित है कि महाभारत काल तक सप्त-सिन्धु का गौरव समाप्त हो गया था और यमुना-गांगेय क्षेत्र प्रभुता प्राप्त कर गया था। महाभारत में विभिन्न स्थलों पर काश्मीर से हरिद्वार और तिब्बत की सीमा से शिवालिक तक जिन जनपदों का उल्लेख हुआ है, उनमें त्रिगर्त, औदुम्बर, कुलूत (उलूत), किम्पुरुष, कीचक, मत्स्य और कुलिन्द उल्लेखनीय हैं।

त्रिगर्त, कुलूत और बुशैहर जो संभवत: पहले किम्पुरुष के नाम से जाना जाता था एकराज जनपद थे और अन्य संघ। ईसा पूर्व दूसरी सदी की एक मुद्रा में त्रिगर्त को ब्राह्मी लिपि में 'त्रकत जनपदस' कहा गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कीचक सतलुज के बायें किनारे महलोग से रामपुर तक का क्षेत्र था और मत्स्य जनपद कालका से रोहड़ू तक। अधिकांश विद्वान मत्स्य जनपद राजस्थान के भरतपुर के इलाके को मानते हैं। महाभारत के विविध वर्णनों से मालूम होता है कि हिमाचल प्रदेश में भीम, अर्जुन और नकुल का आगमन हुआ था। अर्जुन ने सतलुज और यमुना के बीच के कुलिन्दों को अपने वश में किया फिर अन्तर्गिरि-उपगिरि और बहिर्गिरि पर विजय प्राप्त की। उलूत (कुल्लू) में भीम और अर्जुन दोनों आए। यहीं अर्जुन को शिव ने अपने अस्त्र दिए। राजसूय के अवसर पर नकुल ने त्रिगर्त पर आधिपत्य स्थापित किया था।

ईसा पूर्व पांचवीं सदी में पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में जिन पर्वताश्रयी जनपदों का जिकर किया है, उनमें त्रिगर्त, गब्दिका, युगान्धर, काल-कूट भरद्वाज, कुलूत और कुलिन्द शामिल हैं। त्रिगर्त के अन्तर्गत कौंडोपरण, दंडकी, कोष्टकी, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकी को गिना गया है। ये कौन से जनपद थे कहना मुश्किल है। किन्तु इन सबों को आयुध-जीवी कहा गया है। इन बड़े और छोटे जनपदों में भी और कई छोटी इकाइयां रही होंगी जो हमारे ग्राम जनपदों की तरह होंगी, इसीलिए शायद फरिश्ता ने कन्नौज के रामदेव द्वारा ईसा पूर्व पहली सदी में नगर कोट के राजा तथा अन्य जिन पांच सौ पहाड़ी राजाओं के हराने का उल्लेख किया है, इशारा संभवत: खूंद अधिपतियों की ओर है, अन्यथा ये सैकड़ों राज्य कहां से आ गए थे? कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन्हें

श्रेणी कहा गया है और कहा गया है कि इन लोगों ने राजा की उपाधि ले ली थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इन क्षत्रिय पार्वतीय श्रेणियों की सहायता पहले नन्द वंश का तख्ता उलटने में ली थी और बाद में पंजाब से यवनों को खदेड़ने में।

त्रिगर्तों के समान एक अन्य जनपद का नाम बार-बार आता रहा है और वह है औदुम्बर। उस जनपद की राजधानी प्रतिष्ठान थी। कई विद्वान यह कहते हैं कि पठनकोट या नूरपुर, का नाम ही कभी प्रतिष्ठान था। औदुम्बर विश्वामित्र के वंशज थे और संभवतः दशराज्ञ युद्ध के बाद से इसी क्षेत्र में रहते आ रहे थे। यह एक शक्तिशाली जनपद था जिसके कुछ शासकों ने अपनी मुद्राएं प्रसारित की थीं। ध्यान देने वाली बात यह है कि शिवालिकीय क्षेत्र, व्यास उपत्यका और गिरी-यमुना के इलाकों में बड़े जनपद स्थापित हुए। पश्चिम में औदुम्बर और त्रिगर्त और पूर्व में कुलिन्द इसके उदाहरण हैं। ये जनपद लम्बे अरसे तक बने रहे और कभी-कभी काफी शक्तिशाली भी रहे और सिन्धु एवं गांगेय प्रदेश की घटनाओं में शरीक होते रहे। सतलुज उपत्यका, रावी का पार्वतीय क्षेत्र तथा सीमान्तक प्रदेश मलाणा, निरमंड, हाटकोटी जैसे छोटे-छोटे गणों में ही विभक्त रहा और खूंदों तक ही सीमित रहा। इन जनपदों के निवासियों को अपनी भूमि से प्रगाढ़ मोह और उसके प्रति मातृभाव था। अतः प्रत्येक खूंद या खूंद-समूह की भूमि उन लोगों की मातृभूमि बनी, उनका देश बनी। यही कारण है कि आज तक लोक मानस में पुराने परगने, पुरानी रियासतें, उनका क्षेत्रफल चाहे दो मील ही रहा हो और आबादी हज़ार-दो हज़ार, देश कहलाते रहे हैं। धर्म, संस्कृति, भाषा और व्यवस्था की दृष्टि से ये गण उनके जीवन के केन्द्र-बिन्दु बन गए। हैरानी की बात यह है कि खूंदों पर आधारित इन गणों या जनपदों के प्रति यह मोह इतना प्रबल रहा कि बीसवीं शताब्दी तक वर्तमान हिमाचल में चालीस से ऊपर पुराने राज्य बने रहे थे। प्रदेश के बड़े जनपदों में उतार-चढ़ाव आता रहा, उथल-पुथल हुई, नये लोग ज्यादा तादाद में आए और उनका ढांचा ही बदल दिया। सतलुज उपत्यका तथा प्रदेश के मध्य भाग में यह उथल-पुथल कुछ कम हुई। नये शासक भले ही आए, नया लहू जरूर शामिल हुआ, लेकिन मौलिक ढांचा विशेषकर आठवीं-नवीं शताब्दी ईसा तक अक्षुण्ण रहा।

नये प्रभाव

यह नया प्रभाव नये लोगों के आने के कारण दृष्टिगोचर होने लगा। यद्यपि चन्द्रगुप्त से पूर्व सिकन्दर के साथ यूनानी भारत में आ गए थे, लेकिन यह यवन सेना हिमाचल के कोने को छूकर लौट गई थी। हां, मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद यूनानियों का बड़ा दल इस देश में आया। ईसा से प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व युची और शक जातियों के लोग आए। चौथी शताब्दी में हूणों का बड़ा दल आया,

लेकिन वह भी हिमाचल के त्रिगर्त राज्य के जालन्धर भाग को छोड़ अन्यत्र ज्यादा दखलअन्दाज नहीं हुआ। यवनों, शकों और कुषाणों ने अल्बत्ता प्रदेश के जातीय स्वरूप में काफी बदलाव लाया। इन जातियों की अपनी संस्कृति थी, अपनी परम्परायें, अपनी गाथायें थीं। शकों और कुषाणों का इस क्षेत्र में फैलाव भी बहुत ज्यादा रहा। किन्नौर से लेकर नालागढ़ और नूरपुर तक उनका अधिकार-क्षेत्र था।

शक

शकों का सर्वोच्च देवता सूर्य था। अपने समृद्धि काल में उन्होंने विभिन्न स्थानों पर मित्र (सूर्य) के मंदिर बनाए। सूर्य देव के इस प्रकार के प्राचीन मंदिर रावी उपत्यका में गुम, सतलुज के किनारे निरथ और व्यास के किनारे नग्गर में हैं। सूर्य-मूर्तियां कुछ एक अन्य नगरों और मन्दिरों में भी उपलब्ध हैं। इन मूर्तियों की पहचान उनके वस्त्र हैं। राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि शकों की सूर्य-मूर्तियां नोकदार टोपी, पाजामा, चबगला (लम्बा कोट) तथा घुटनों तक के बूट पहने दिखाई देती हैं। स्वयं शकों के भी यही वस्त्र थे। जौनसार बावर की स्त्रियां आज भी लगभग वही पहनावा पहनती हैं जो शकों के मूलस्थान सिंगक्यांग के कुछ भागों में पहना जाता है।

शक विदेशी आक्रमणकारी होते हुए भी अत्याचारी नहीं थे और न ही अपने परवर्ती हूण, अरब, तुर्क, मंगोल और पठान आक्रमणकारियों की भांति बर्बर और हिंसाप्रिय थे। वे भारत के जीवन में इस प्रकार घुलमिल गए कि कुछ काल के बाद उन्हें भारतीयों से पृथक् करना कठिन हो गया था। हिमाचल प्रदेश के अनेक लोगों की नसों में शकों का खून है किन्तु उसे पहचानना संभव नहीं है।

शकों की विवाह-पद्धति आदिम अवस्था की थी। कई भाइयों की एक ही पत्नी हुआ करती थी। यह प्रथा आज भी किन्नौर, लाहुल और जौनसार बावर में प्रचलित है। ~~प्राचीन मिश्र~~ के राजाओं और सामन्तों के समान ये शक भी मृतक संस्कार बड़ी शान से, धूमधाम से करते थे। सरदारों की कब्रों में मृत शरीर के साथ ही वे सभी वस्तुएं रखी जाती थीं, जिनका उपयोग वे अपने जीवन-काल में करते थे। शक भी अपने मृतकों, विशेषत: सरदारों और उनकी पत्नियों को दफनाते थे। इस तरह की कब्रें किन्नौर में अब भी मिलती हैं। इन्हें स्थानीय भाषा में खचेरो मरवङ् कहते हैं। निरमंड में सन् 1980 और सन् 1983 में इस तरह की दो कब्रें हस्पताल के भवन के लिए खुदाई करते हुए मिली थीं। एक कब्र किसी पुरुष की थी और दूसरी किसी स्त्री की। दूसरी कब्र में मिट्टी के कुछ बर्तन भी मिले थे। दुर्भाग्यवश कब्रों के दोनों अस्थिपिंजर और अन्य सामग्री मजदूरों की नासमझी से नष्ट हो गए। अनुमान यह है कि ये कब्रें निरमंड के किसी शक

सरदार की रही होंगी। यह इसलिए संभव है क्योंकि निरमंड के शूलिशग्राम का ऐतिहासिक शिवशूलपाणी कपालेश्वर का मंदिर किसी शक राजा सर्ववर्मन का बनाया हुआ था। शक कबीलों में मृत शरीर को जलाने तथा मृतक की पत्नी का उसके साथ जल मरने का रिवाज भी था। इस प्रकार शायद ये शक ही थे जिन्होंने देश में सती-प्रथा को जन्म दिया। हिमाचल में सैकड़ों ऐसी गाथायें हैं जिनमें सतियों का वृत्तान्त है।

शकों को घुमन्तू प्रकृति का माना जाता है। जब ये भारत में आए तो इनमें सम्राट और सामन्त ही नहीं थे, बल्कि उनकी सेना भी थी। उनका घुमन्तू परिवार समूह अपने पशुओं, डेरों के साथ वैसे ही चलता था, जैसे आज उनके वंशज गद्दी और गुर्जर पशुपालक और किन्नावरे।

हिमाचल शक सम्राट कनिष्क के साम्राज्य का एक भाग था। उस वीर सम्राट के क्षत्रप प्रदेश के विभिन्न भागों में शासन करते थे। प्राचीन ग्रन्थों में इक्के-दुक्के उल्लेखों से तथा प्रदेश के अन्तर्साक्ष्य से यह मालूम होता है कि या तो शकों का राज्य त्रिगर्त के बड़े भाग तथा सतलुज उपत्यका में काफी भीतर तक फैला हुआ था या शक कबीले, शक राजकुमार तथा सामन्त हूणों और गुप्तों के प्रहार से बचने के लिए हिमाचल के दुर्गम स्थानों में शरण लेने के लिए मजबूर हुए होंगे।

शिव के बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण इन शकों के राज्यकाल में बहुत हुआ। महादेऊ पिंडी और ऊजर जोट्टी तथा जौ के बसेरे के साथ-साथ भव्य विशाल मन्दिरों में स्थापित होने लगा। अब वह शिवरात्रि के अवसर पर नाच का आनन्द लेने अपने भक्तों के घर तो आता है, और वहां पर, गद्दियों की ऐंचली के अनुसार "भण खाद्दे बबरू धड़ खादे बडुए' जिससे वह नाच नहीं पाता, लेकिन अपने मंदिर में नटराज बन निरन्तर नाच करता रहता है। दिनकर के शब्दों में "तब तक शिव का रूप अत्यन्त विकसित हो गया था और उसके एक छोर पर तो आर्यों की रुद्र सम्बन्धी दार्शनिक भावना प्रतिष्ठित हुई, जिसे आर्य और द्रविड़ दोनों जातियों के शिष्ट वर्ग ने अपनाया और दूसरे छोर पर शिव के पारिवारिक रूप, उसके अवढर और दयालु होने की बात तथा उसके योगेश्वर, भूतेश्वर और फक्कड़ एवं अघोर होने की कथाएं आ जुड़ी थीं जिनसे जन-साधारण को सन्तोष मिलने लगा था।"[1]

औदुम्बर

बैजनाथ का वैद्यनाथ मन्दिर शकों की ही देन है, यद्यपि उसका वर्तमान भवन कुछ शताब्दियों बाद बनाया गया। प्रदेश की जनता तो देऊनाग और शिव

---

1 संस्कृति के चार अध्याय

भक्त थी ही, ये शक और कुषाण भी शैव थे। काश्मीर का हूण राजा मिहिरकुल और थानेसर के सम्राट् हर्षवर्धन के पूर्वज भी शैव थे। किन्नौर, स्पिति और लाहुल शैव क्षेत्र थे। कुल्लू, भ्रमौर के बर्मन, औदुम्बर, त्रिगर्त और कुलिन्दों के राजगण सभी शैव थे। उनके सिक्के उनकी शिवभक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ईसा से दो सदी पहले और एक सदी बाद के तीन सौ वर्षों की औदुम्बर जनपद की कुछ मुद्राएं पठानकोट, नूरपूर और हमीरपुर में मिली हैं जिनसे साफ जाहिर है कि औदुम्बर भी शैव थे क्योंकि उनकी मुद्राओं पर शिव की आकृति, फरशू, त्रिशूल, नन्दी और शिवालय अंकित हैं। जब उन्होंने मथुरा के राजा उत्तमदत्त को पराजित किया तो उसकी मुद्राओं पर भी औदुम्बरों ने महादेव की छाप अंकित की। कुछ सिक्कों पर प्राकृत भाषा में भागवत महादेवस्य राजर्यस्य लिखा हुआ है। मुद्रा चलाने वालों में शिवदास, रुद्रदास, धरघोष और भागवत महादेव के नाम आते हैं। मियां गोवर्धन सिंह[1] ने इन मुद्राओं की चर्चा करते हुए कहा है कि इन पर खरोष्ठी एवं ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा में 'महादेवस राणा शिवदासस औदुम्बरिस, महादेवस राणा रुद्रदासस औदुम्बरसि' 'महादेवस राणा धरघोषस औदुम्बरिस' तथा 'भागवत महादेवस राजा राणा औदुम्बरिस' अंकित हैं। उनका मानना है कि धरघोष संभवतः औदुम्बरों का महानतम शासक रहा हो जिसने यवन राजा दमित्रिस के उत्तर दिशावर्ती प्रसार को रोका था। पहले यह जनपद गणराज्य था किन्तु मित्र वंश के शासकों ने इसे बदल कर एक राज का स्वरूप दे दिया। यह मित्रों के सिक्कों से मालूम पड़ता है। इन सिक्कों में रुद्रवर्मा, महिमित्र, आर्यमित्र, भानुमित्र और महाभूतिमित्र का उल्लेख है। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि धरघोष स्वयं यवन था और मित्र शासक शक-कुषाण थे। औदुम्बरों की चांदी की मुद्राओं पर यवन प्रभाव माना जाता है। कुछ एक मुद्राओं पर एक ओर 'महादेवस राजा धरघोषस औदुम्बरिस' लिखा है तो दूसरी ओर 'विजय रानों वेमकिस रुद्रवर्मन' है।

ईसा की पहली शताब्दी कनिष्क का राज्यकाल थी। धर्म के क्षेत्र में यह युग अत्यन्त उदारता का था। कनिष्क का पूर्वज कुजुलकसस बौद्ध था, किन्तु उसका उत्तराधिकारी कुजुलकसस द्वितीय शैव था। कनिष्क की मुद्राओं पर शिव, बुद्ध, सूर्य तथा अग्नि की आकृतियां हैं। संघ में सबको धार्मिक स्वतंत्रता थी। औदुम्बर राजधानी बौद्धों का बड़ा गढ़ थी। गुप्तकाल तक आते-आते यह जनपद अपना अस्तित्व खो बैठा। उत्तर गुप्तकाल में त्रिगर्त ने इस ऐतिहासिक संघीय जनपद का क्षेत्र अपने राज्य में मिला लिया और अपनी दक्षिणी सीमा एक बार फिर जालन्धर तक पहुंचा दी थी।

---

1. हिस्ट्री आफ हिमाचल

सिक्कों की उपलब्धि क्षेत्र को देखते हुए तथा अन्य लिखित प्रमाणों से यह मालूम होता है कि इस गणराज्य का विस्तार कम-से-कम होशियारपुर, गुरदासपुर और कांगडा के नूरपुर तथा दूसरे पश्चिमी इलाकों तक रहा होगा। इस तरह कभी यह त्रिगर्त का अभिन्न अंग रहा हो, या कभी त्रिगर्त के ही इलाके इस के भाग बने हों। पाणिनि ने भी औदुम्बरों का उल्लेख जालन्धर के साथ किया है। कई विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि औदुम्बर शतपथ ब्राह्मण में चर्चित शल्वों की ही शाखा थे। रोपड़ तथा आसपास के स्थानों की खुदाई से ईसा पूर्व आठवीं-सातवीं शताब्दी के उत्तर सरस्वती-सिन्धु नगर मिले हैं। इससे यह जाहिर है कि औदुम्बर; सारस्वत-सैन्धव सभ्यता के ही अंग थे और त्रिगर्त के रूप में वे हजारों वर्षों से चले आ रहे हैं। निरमंड के ताम्रपत्र से भी स्पष्ट है कि हिमाचली क्षेत्र का ईसा के पहले के हजार वर्षों में रोपड़-तालापुर आदि हड़प्पन नगरों से निकट का संबंध था। अतः ये जनपद सारस्वत-सैन्धव लोगों के ही थे।

कुनिन्द

औदुम्बरों से पूर्व में उनका ही समकालीन राजाशब्दोपजीविनाः कुनिन्द सन्घ राज्य था। वाराह मिहिर ने कुनिन्दों को कौलिन्दन गुणपुंगवा कहा है। मियां गोवर्धन सिंह ने लिखा[2] है कि इस जनपद की केन्द्रीय सभा के सभी सदस्य राजा कहलाते थे। केवल सभा प्रधान ही महाराजा की उपाधि से भूषित था। इन कुनिन्दों अथवा कुलिन्दों के अब तक दो ही शासकों की मुद्राएं मिली हैं। ये ज्वालामुखी, हमीरपुर, अम्बाला, सहारनपुर और गढ़वाल तक मिली हैं। इनसे अमोघभूति और छत्रेश्वर नाम के दो संघाधिपतियों के नामों का पता चलता है। अमोघभूति अपने आपको महाराजा की उपाधि से विभूषित करता था जैसे 'राज्ञः कुनिन्दस्य अमोघभूतिस्य महाराजस्य'। किन्हीं मुद्राओं पर 'राज्ञो कुणिदस अमोघभूति महरजस' या 'अमोघभूतस महरजस राज्ञकुणदस' अंकित है। कुछ लोगों का यह कहना है कि अमोघभूति कोई व्यक्ति विशेष नहीं था, यह शब्द केवल उपाधिसूचक था जिसका अर्थ 'निरन्तर सम्पन्नता' है।

छत्रेश्वर के सिक्के कुषाण शैली के हैं। उन पर शिव की आकृति अंकित है। शिव के हाथ में त्रिशूल है और लिखा है 'भागवत छत्रेश्वर महात्मन्'। अमोघभूति की आरंभिक मुद्राओं पर केवल बौद्ध चिह्न अंकित हैं। ये मुद्राएं ईसा पूर्व पहली सदी की मानी जाती हैं। यह संघराज्य भी गुप्तकाल तक आते-आते समाप्त हो गया था।

कुनिन्दों और औदुम्बरों की मुद्राओं से यह मालूम हो जाता है कि इन जन-

2. हिस्ट्री श्राफ हिमाचल

पदों में शैव और बौद्ध दोनों मत एक साथ फूलते-फलते रहे और शासक दोनों को संरक्षण दिया करते थे। इसमें आश्चर्य की बात भी नहीं। जिस प्रकार का संघर्ष ब्राह्मणों और बौद्धों में हम आज कल्पित करते हैं, तब नहीं था। बौद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म का विरोधी माना नहीं जाता था। न तो बौद्ध धर्म को क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह की संज्ञा दी गई थी, जैसा कि कतिपय पाश्चात्य विद्वान और उनकी देखादेखी कुछ एक भारतीय विद्वान कहते हैं। असल बात तो यह है कि बौद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म से अलग देखा ही नहीं जाता था और पूसिन (De la valle Poussin) का यह कहना कि भारत के लिए बौद्ध मत कोई नवीन धर्म नहीं, प्रत्युत हिन्दुत्व का ही बौद्धीकरण मात्र था, बिल्कुल सही है।

बुद्ध और ब्राह्मण

भगवान बुद्ध और ब्राह्मणों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण थे। उनका आजीवन ब्राह्मणों के साथ बन्धुत्व और सौहार्द्य रहा। उनके पहले पांचों के पांचों शिष्य ब्राह्मण थे, जिन्हें धर्मचक्र प्रवचन दिया गया था। और इन्हीं पांच ब्राह्मण अनुयायियों ने बौद्ध मत के देशव्यापी प्रचार का सूत्रपात किया था। बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद बौद्ध संघ के संघ स्थाविर मथुरा में जन्मे महादेव ब्राह्मण थे। अमरावती बौद्ध विहार के प्रधानाचार्य सुमेध ब्राह्मण थे। अनेक बोधिसत्व ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। नागार्जुन, बुद्धघोष जैसे महान बौद्ध विचारक और व्याख्याकार जन्म से ब्राह्मण थे। महाराजा मिलिन्द का गुरु आचार्य नागसेन हिमालय क्षेत्र का ब्राह्मण ही था। ब्राह्मणों और श्रमणों के सह-अस्तित्व की यह परम्परा हिमाचल प्रदेश में आज तक चली आ रही है।

बौद्ध स्वरूप

अपने जन्मकाल से ही बौद्ध धर्म किसी न किसी रूप में इस प्रदेश के जन-जीवन से सम्बन्धित रहा है। अनुश्रुतियों और बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्य से स्वयं भगवान बुद्ध दो बार हिमाचल आए। एक बार सिरमौर के कालसी-पांवटा इलाके में और दूसरी बार कुल्लू में। दोनों स्थानों पर सम्राट अशोक ने बुद्ध आगमन की स्मृति में स्तूप बनवाए थे। कुल्लू का स्तूप सातवीं शताब्दी तक, जब चीनी यात्री युवान च्वांग वहां आया था, विद्यमान था। इसी प्रकार का एक दूसरा स्तूप कांगड़ा में धर्मशाला से लगभग दस किलोमीटर दूर चेतरू में आज भी देखा जा सकता है। स्थानीय लोग इसे 'भीमटीला' कहते हैं। इस टीले का घेरा लगभग 255 मीटर है और यह माजी और गरेलू नालों के संगम पर टूटे-फूटे हाल में है। इसी स्थान पर कुछ वर्ष हुए, बुद्ध की मूर्ति और एक खंडित सिर प्राप्त हुए थे। चाड़ी स्थान पर वाराहमुखी मारीची वज्रधारा की भी मूर्ति मिली है। यह मूर्ति

छठी शताब्दी की मानी जाती है। उसी की समकालीन अष्टधातु की 30 सेंटी-मीटर बुद्ध मूर्ति नूरपुर में फतहपुर के स्थान पर मिली है। यह मूर्ति अब लाहौर अजायबघर में है।

जनश्रुति यह भी है कि महात्मा बुद्ध मंडी विलासपुर में भी ठहरे। यह संभव भी है कि अपनी त्रिगर्त-कुलूत यात्रा के दौरान वह इस इलाके से गुजरे हों और कुछ दिनों यहां विश्राम किया हो। मान्यता यह है कि बुद्ध नवाही, मौंही देहरी और कुलवाड़ी स्थानों में रुके थे। जानकार लोगों का कहना है कि यदि नवाही, मौंही, नगरोटा (वलद्वारा) और मतौली जैसे गांव की खुदाई की जाए, तो पर्याप्त मात्रा में बौद्ध संस्कृति के अवशेष एवं चिह्न प्राप्त हो सकते हैं। मौंही में पत्थर पर उभारी गई एक मूर्ति मिली है जिसमें एक पुरुष ध्यानमुद्रा में एक रथ पर बैठा है। पास में एक दीपधारिणी यक्षणी भी मिली है। लोग रथवाली मूर्ति को रिवालसर के देवता की मानते हैं, और रिवालसर का नाग को छोड़कर यदि कोई देवता है तो वह है पद्मसंभव। तिब्बती मान्यताओं में पद्मसंभव (गुरु-रिम्पोच्छे) उड़ने वाले घोड़े पर बैठकर ध्यान किया करते थे। यह भी कहा जाता है कि पद्मसंभव के जो भी चित्र या मूर्तियां मिली हैं, उनमें उन्हें हिमाचली टोपी पहने दिखाया गया है। टोपी की बात तो कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्राचीन काल में सभी महात्मा और सिद्ध पुरुष हिमाचली टोपी की आकृति की टोपियां पहना करते थे।

महावंश में उल्लेख है कि सम्राट अशोक ने आचार्य मज्झिम थेर को चार सहयोगियों सहित इस प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। आचार्य थेर के ये सहयोगी थे—कस्सपगोत, दुन्दुभिस्सार, सहदेव और मूलकदेव। उन्होंने कांगड़ा, कुल्लू, सिरमौर और शिवालिक क्षेत्र में धर्म-प्रचार किया था और गन्धर्वों और किन्नरों को दीक्षित किया था। ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के कांगड़ा (पनिहारा) अभिलेख में जिस संघारम का उल्लेख है, वह संभवत: बौद्ध विहार ही रहा होगा। इसका समर्थन इस बात से होता है कि जब युवांन च्वांग कांगड़ा आया उस समय यहां 50 बौद्ध विहार थे जिनमें 2000 भिक्षु रहा करते थे। पूर्व की ओर सिरमौर की राजधानी सिरमौरी ताल के भग्नावशेषों में एक जीर्ण-शीर्ण बौद्ध मंदिर भी है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि यदि स्वयं भगवान बुद्ध के जीवन-काल में नहीं तो लगभग 242 ईसा पूर्व से हिमाचली क्षेत्र बौद्ध आचार्यों, प्रचारकों का क्रियास्थल रहा और यहां विहार और संघारम स्थापित होने शुरू हो गए थे। अशोक के शिलालेखों में एक शिलालेख टोंस और यमुना के संगम पर स्थित कालसी के स्थान पर भी है। कालसी एक समय सिरमौर का भाग था।

कालका-कसौली मार्ग पर तथा कांगड़ा में प्राप्त कनिष्क और वेमा कद-

फिसेस (Wema Kadphises) के सिक्कों से यह जान पड़ता है कि हिमाचल का व्यास, सतलुज, और गिरी क्षेत्र कनिष्क के साम्राज्य के अन्तर्गत रहा होगा। कनिष्क बौद्ध था, अतः यह मानना तर्क संगत होगा कि जिस प्रकार के भगीरथ प्रयत्न उसने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपने साम्राज्य से बाहर मध्य देश से मध्य एशिया तक किए, वैसे ही प्रयत्न सद्धर्म प्रचार के लिए उसने उसके भीतर भी किए होंगे। कनिष्क के राज्य-काल में ही बौद्ध ग्रन्थों की भाषा पाली से संस्कृत हुई थी। इसी सम्राट ने चतुर्थ धर्म महासंगीति का आयोजन किया था। यह धर्म महासंगीति कुछ विद्वानों के मत में काश्मीर में हुई, लेकिन अनेक विद्वान यह मानते हैं कि संगीति-स्थल कुंडलवन विहार जालन्धर में था। मंगोल परंपरा भी इस संगीति का जालन्धर में ही मिलन मानती है। जालन्धर त्रिगर्त का ही अंग था।

इस दृष्टि से देखें तो चतुर्थ महासंगीति का श्रेय हिमाचल को ही मिल जाता है। यह संगीति 100 ईसवी के आसपास मिली थी और इसमें बौद्ध जगत के प्रमुख आचार्यों ने भाग लिया था। यह एकदम मुमकिन है कि इन विद्वानों में हिमाचली भी रहे होंगे, क्योंकि तकरीबन दो-अढ़ाई सौ वर्षों से बौद्ध धर्म इस भू-भाग में जड़ें जमा चुका था और कई छोटे-बड़े विहार स्थापित हो चुके थे। हिमाचल के बौद्ध भिक्षु न केवल अपने यहां के विहारों और मठों में विद्याध्ययन और धर्म अनुशीलन करते थे, वे तक्षशिला और विक्रमशिला जैसे विश्वविख्यात केन्द्रों में भी जाते थे।

विक्रमशिला महाविहार में लाहुल-लद्दाखी सीमा के ग्या गांव का निवासी विक्रमसिंह (भिक्षु सोन सेन) शिक्षा-दीक्षा के लिए गया था और उससे ही उन लोगों की पहली भेंट हुई थी जिन्हें 1030 ई में तिब्बत से देवगुरु ज्ञानप्रभा के पुत्र देवगुरु बोधिप्रभा ने आचार्य दीपांकर श्रीज्ञान को तिब्बत आने का निमंत्रण देकर भेजा था। विक्रमसिंह ने उन्हें सलाह दी थी कि वे यह न कहें कि आचार्य अतिषा को तिब्बत लिवाने आए हैं। उसके प्रयत्नों से ही यह शिष्टमंडल आचार्य अतिषा से मिल पाया था। आचार्य के संग ही वह तिब्बत के लिए रवाना हुआ था किन्तु मार्ग में ही मर गया।

युवान च्वांग ने त्रिगर्त—जालन्धर के नगर धन विहार में आचार्य चन्द्र वर्मा के पास चार महीने विद्याध्ययन किया था। उसका आतिथ्य उतितस् (युति) नामक राजा ने किया था। हो सकता है यह कांगड़ा वंशावली का आदमचन्द्र (आदिमा) रहा हो। उसका राज्य पूर्व से पश्चिम तक 267 किलोमीटर (1000 ली) और उत्तर से दक्षिण तक 213 किलोमीटर (800 ली) था। युवान च्वांग ने यहां की एक परम्परा का उल्लेख किया है कि पुराने समय में यहां एक राजा था, वह श्रमणों, और ब्राह्मणों में भेदभाव करता था और नास्तिकों का पक्ष लेता था।

एक अर्हत ने उसे उपदेश दिया और राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। राजा के धर्म-प्रेम को देख मध्यदेश के सम्राट ने उसे देश का धर्मनिरीक्षक नियुक्त किया। उसने बिना भेद-भाव के श्रमण और साधारण जनता, संघ और विहारों का काम-काज देखा। उसने पुराने विहारों, मठों एवं स्तूपों का जीर्णोद्धार किया तथा नये स्तूप और संघारम बनाए। 'त्रिगर्त में एक उदिल राजा का जिकर आता है, जो बौद्ध धर्म में दीक्षित हो, उसका प्रबल संरक्षक बना था। क्या यह उदिल ही था जो धर्म-निरीक्षक नियुक्त हुआ ? ठोस प्रमाण के अभाव में कुछ कहना कठिन है।

विहार

जैसा हम उल्लेख कर चुके हैं, जब युवान च्वांग कांगड़ा आया तो वहां 50 बौद्ध मठ थे। कुल्लू में 20 के लगभग संघारम थे, जिनमें 2000 भिक्षु रहा करते थे। सुलतानपुर कुल्लू से 9-10 किलोमीटर उत्तर की ओर बलाथ में कपिल मुनि का मंदिर आज भी है जहां अवलोकितेश्वर की पाषाण-मूर्ति की पूजा की जाती है। हो सकता है यह मंदिर तब इन संघारमों में एक रहा हो। बाकी कहां हैं ? आज कहा नहीं जा सकता। मनाली इस प्रकार का दूसरा स्थल रहा होगा जो कभी बौद्ध केन्द्र था। कुछ वर्षों पहले तक वहां ल्हासा से बौद्ध भिक्षु किसी नष्ट हुए विहार की खोज में आते रहे। उनके अनुसार उस विहार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ एवं सामग्री थी। उनके पास उस विहार का नक्शा होता था।

कुलूत एकराज

कुलूत संभवतः काफी पहले से एकराज जनपद चला आया है, लेकिन मलाणा और निरमंड गणजनपद रहे हैं। इससे यह जाहिर है कि एकराज और देवराज परम्परा में इतना ज्यादा टकराव नहीं आया कि एक-दूसरे को समाप्त कर ले। जैसा हमने देखा देवराज परम्परा बलवती थी, इसी कारण जगतसिंह ने अपने आपको रघुनाथ का कारिन्दा ही माना और राज देवता के अपर्ण कर दिया।

कुलूत की अब तक 12 मुद्राएं मिली हैं, जिनमें से 11 तक्षशिला से प्राप्त हुई हैं। तक्षशिला बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। वहां का विख्यात विश्वविद्यालय संभवतः अपने काल में संसार का सबसे बड़ा था। वहां पर महाकौशल, बंग, कलिंग से लेकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। बौद्ध ग्रंथ मिलिन्द पान्ह में चित्रित ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के समाज के चित्र से मालूम पड़ता है कि माता-पिता वहां अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा के लिए गुरुओं को एक हजार मुद्रायें देते थे। भगवान बुद्ध का समकालीन कौशल महाराज प्रसेनदी तक्षशिला का स्नातक था। उसके सहपाठी लिच्छवी संघ के महालि और मल्ल राजकुमार थे। कुल्लू और तक्षशिला का संबंध इस तरह का भी हो सकता है कि कुलूत के बच्चे वहां

पढ़ने गए हों और अपनी मुद्रायें भी साथ ले गए हों । यह भी संभव है कि उस काल में कुलूत और तक्षशिला के बीच काफी घनिष्ठ व्यापारिक संबंध रहा हो । कुल्लू से जड़ी-बूटी, सोना, चांदी, तांबा व पशमीना और ऊन तक्षशिला जाती रही हो । तक्षशिला अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यापार केन्द्र भी था । दूसरे वह मध्य एशिया के राजमार्ग पर स्थिति था, अतः भारत और मध्य एशिया का जो भी व्यापार था वह तक्षशिला से होकर ही होता था । इन मुद्राओं में 'वीरयसस्य राजन् कुलूतस्य' अंकित है। राजा वीरयस के इलावा, एक दूसरे राजा विजयामृत की भी मुद्रा मिली है । इस मुद्रा पर चैत्यव स्वास्तिक अंकित है और ब्राह्मी में त्रिरत्नकमल । लगता है कुलूत ईसा की पहली शताब्दी से पूर्व संघ से एकराज जनपद बन गया होगा ।

सुघ्न

युवान च्वांग के समय में सुघ्न भी बौद्धों का विशिष्ट केन्द्र था । यह थानेसर से 66 मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित था । इसका क्षेत्रफल 1000 वर्ग मील था और इसकी पूर्वी सीमा गंगा को छूती थी । यमुना इस प्रदेश के बीच में बहती थी । यहां पांच बड़े विहार थे, जिनमें 1,000 भिक्षु निवास करते थे। कनिंघम का विचार है कि सुघ्न प्रदेश सिरमौर और गढ़वाल की पहाड़ियों में गिरी और गंगा नदियों के बीच के इलाके को कहते हैं । इसकी राजधानी पांवटा में संभवतः सिरमौरी ताल ही थी । युवान च्वांग ने एक अनुश्रुति का जिकर किया है कि यहां महात्मा बुद्ध स्वयं पधारे थे और शास्त्रार्थ में एक विद्वान ब्राह्मण को हराया था जिसके फलस्वरूप सारा प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था । ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के व्यक्तित्व एवं उपदेश से यहां का शासक वर्ग प्रभावित हुआ हो, किन्तु उनके महापरिनिर्वाण के थोड़े दिनों बाद शैव बन गया हो और सौ दो-सौ वर्षों बाद बौद्ध धर्म के सुर्धन्य आचार्यों ने यहां अपने मत की पुनः स्थापना की हो ।

कांगड़ा, कुल्लू और सिरमौर के बौद्ध विहारों में महायान और हीनयान के प्रकांड विद्वान रहा करते थे। कांगड़ा के विहारों में बौद्ध धर्म की इन दोनों शाखाओं के पठन-पाठन की सुविधा थी, किन्तु कुल्लू के विहार मुख्यतः महायानियों के अधिकार में थे और सिरमौर के मठों में हीनयानियों का जोर था । सिरमौरी ताल के क्षेत्र में युवान च्वांग ने आचार्य जयगुप्त के पास शरद् ऋतु से लेकर वसन्त ऋतु तक के छः मास शास्त्रों के अध्ययन में बिताए थे । उस समय यहां हीनयानियों का प्रमुख केन्द्र था । यहां उनके मत के कुशल व्याख्याकार आचार्य रहा करते थे । देश-विदेश से इन गुरुओं के पास विद्वान, जिज्ञासु और भिक्षु अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए आया करते थे ।

आचार्य नरेन्द्र देव[1] का कहना है कि जिस समय (623 ई० पू०) भगवान बुद्ध का लोक में जन्म हुआ, उस समय देश में अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत में उथल-पुथल हो रही थी। लोगों में जिज्ञासा जग उठी थी। परलोक है या नहीं? मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व होता है या नहीं? कर्म है या नहीं? ब्राह्मण-श्रमण दोनों में ही विचार-चर्चा होती थी। श्रमण अवैदिक थे। वे वेद को प्रमाण नहीं मानते थे। वे यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप को महत्त्व नहीं देते थे। उनकी दृष्टि में या तो इनका फल बहुत कम है या ये निरर्थक और निष्प्रयोजन हैं। श्रमण आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के थे।

ब्राह्मण और श्रमण ये दोनों परम्पराएं चिरकाल से चली आती हैं। श्रमण सत्य की खोज के लिए किसी शास्ता के अधीन होते थे। उसके गण या संघ में प्रवेश करते थे। ब्राह्मण वैदिक धर्म के अनुसार मन्त्र, जप, दान, होम, मंगल, प्रायश्चित्त आदि अनुष्ठान का विधान करते थे। धर्म का यह रूप बाह्य था। स्वर्ग की कामना से या अन्य लौकिक भोग की कामना से ये विविध अनुष्ठान होते थे। यज्ञों में पशु-वध भी होता था। कर्मकांड प्रधान था। ब्राह्मण धर्म आस्तिक था। ब्राह्मण काल में ही पुरोहित मानव देवता हो गए थे। हिमाचल में आज भी भाट, पुरोहित का कुछ-कुछ वही स्वरूप है। वे चाहे निरक्षर हों, कर्मकांड से उनका दूर का भी रिश्ता न हो, फिर भी साधारण अनपढ़ जनता में वे पूज्य हैं, और ब्रह्महत्या जघन्यतम पाप माना गया है। राजा-राणाशाही युग में अनेक बार किसी भाट या पुरोहित द्वारा आत्महत्या की धमकी ने ही अन्यायी शासक को सीधे रास्ते पर लाया था और जहां कहीं उसने सचमुच आत्महत्या कर ही ली, राजा को जीवन-पर्यन्त अपने भोजन में कीड़े ही दीखते रहे। इस तरह की किंवदन्तियां प्रदेश में सर्वत्र हैं। इन्होंने भी पुरोहित को मानुषी देवता बनाए रखने में सहायता की है।

आचार्य की ही शब्दावली में दिनकर[2] ने कहा कि बौद्ध धर्म उन विचार-धाराओं का स्वाभाविक परिणाम था जो कर्मकांड, हिंसायुक्त यज्ञ के आडम्बर और पुरोहितवाद के विरुद्ध पहले से ही बहती चली आ रही थी, जिसकी आवाज हम गीता और उपनिषद में भी सुनते हैं। वेद और उपनिषद् पढ़ने का अधिकार शूद्रों को नहीं दिया गया था। न उन्हें यही अधिकार था कि द्विजों की तरह वे भी यज्ञ करके लोक और परलोक में सुख भोगने की योग्यता प्राप्त कर सकें। उस समय का समाज सचमुच बौद्धिक संकट का सामना कर रहा था। समाज के प्रायः सभी चिन्तक—ब्राह्मण और अन्य—यज्ञ के खिलाफ होते जा रहे थे।

1. बौद्ध-धर्म-दर्शन
2. संस्कृति के चार अध्याय।

साधारण गृहस्थ को भी यह भान हो चला था कि यज्ञ के विरोधी झूठ नहीं कहते हैं। ऐसी हालत में जनता कोई ऐसा धर्म चाह रही थी जो सुगम और सुबोध हो, जिसमें पशु-बलि की क्रूरता भी नहीं हो और व्यर्थ का आडम्बर भी नहीं, जो मनुष्य के अति-भोग से भी दूर रहे और तपस्या तथा यति-वृति की कठोरता से भी; जो मनुष्य के ध्यान को धर्म की ओर तो अवश्य ले जाए, किन्तु बीसों प्रकार की ऊहापोह में उसे उलझा न डाले। वस्तुतः बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का ही एक संशोधित रूप है और अपनी कुरीतियों से लड़ने के लिए ही हिन्दुत्व ने बौद्ध धर्म का रूप लिया है, यह बात इससे सिद्ध हो जाती है कि बुद्ध को हिन्दुओं का दसवां अवतार माना गया।

बौद्ध मार्ग

बुद्ध ने अपने नये धर्म की घोषणा संस्कृत को छोड़ कर पाली में की थी और दार्शनिक जंजाल से दूर रहते हुए उन्होंने लोगों को यह बतलाया कि मनुष्य दुखी है, दुख बिना कारण नहीं है अर्थात् उसका कारण है, इस दुख का निरोध संभव है और इस निरोध का रास्ता भी है। बुद्ध ने कहा कि चार आर्य सत्य हैं—दुख सत्य है, दुख समुदय आर्य सत्य है, दुख निरोध आर्य सत्य है और दुख निरोध-गामिनी प्रति-पद् आर्य सत्य है। यदि मनुष्य आठ प्रकार के आचरण करे, जिसे अष्टांगिक मार्ग कहते हैं, तो मनुष्य इन दुखों को दूर कर सकता है। हम यों कह सकते हैं कि बुद्ध की नजरों में हमारा जीवन दुखमय है, उसमें सुख की इच्छा करना ही दुख का कारण है, इसलिए उस इच्छा या तृष्णा के क्षय द्वारा दुख की निवृत्ति हो सकती है, और यह तृष्णा का क्षय, पवित्र तथा निर्दोष जीवन से प्राप्त किया जा सकता है। ये चारों बातें 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहलाती हैं। इनके तीसरे सिद्धान्त—इच्छा या तृष्णा का क्षय—के अनुसार उपलब्ध अवस्था को निर्वाण कहते हैं, और निर्वाण की उपलब्धि के लिए जो मार्ग है वह अष्टांगिक मार्ग है। वह एक ओर यदि योगमय जीवन के विरुद्ध है तो दूसरी ओर शरीर को व्यर्थ कष्ट पहुंचाने वाले तप आदि से भी बिल्कुल भिन्न है। ये आठ आचरण हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजी-विका, उचित व्यायाम अर्थात् उद्योग, ठीक स्मृति अर्थात् चित्तवृत्ति और पूर्ण समाधि।

बौद्ध धर्म में सदाचरण सबसे अधिक महत्त्व रखता है। अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, आत्मसंयम जैसी सदाचार की बातों की ओर बहुत ध्यान दिया गया। खेति (क्षमा), सील (शील), पज्जा (प्रज्ञा), मेत्ता (मैत्री), सच्च (सत्य),

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा।

विरीय (वीर्य) बोधिसत्व के आदर्श गुण माने गए। बुद्ध का यह उपदेश कि पवित्र से पवित्र जीवन बिताओ और नियमित रूप से ध्यान और समाधि करो, उनके जीवन काल में ही देश में फैल चुका था। यह धर्म का बड़ा व्यावहारिक रूप था। यह उन सभी लोगों को सुगम, सुबोध और सुन्दर लगा जो कर्मकांड से ऊबे हुए थे, जो यज्ञों में होने वाली पशु बलि से घृणा करते थे, उपनिषदों का ज्ञान जिन के पल्ले नहीं पड़ता था। लोगों ने बुद्ध के उपदेशों का स्वागत किया। अपने मत का प्रचार स्वयं बुद्ध ने जगह-जगह जाकर उपदेशों द्वारा किया, और जहां जरूरत महसूस हुई, जैसा सुघ्न के विहार के संबंध में हमने देखा, ब्राह्मण-श्रमणों से शास्त्रार्थ भी किया था। सुघ्न राजधानी में "अशोक द्वारा निर्मित स्तूप में बुद्ध के बाल और नाखून रखे गए थे। इस स्तूप के अगलबगल दो और स्तूप थे जिनमें सारिपुत्र और मौद्गल्यायन और अन्य अर्हतों के बाल और नख स्मृति चिह्न के तौर पर रखे गए थे।"[1]

बुद्ध ने ज्ञान और भक्ति को छोड़ कर कर्म पर बल दिया। वह कहते थे कि मनुष्य की मुक्ति ज्ञान के कथन से नहीं, बल्कि आचार और कर्त्तव्य पालन से होती है। उनका कहना था कि अपने जीवन को बनाने या बिगाड़ने का अधिकार तुम्हारे पास है और तुम्हें यह समझ कर काम करना चाहिए कि तुम्हारा सहायक कोई और नहीं हो सकता। अतः न कोई ईश्वर है, न देवता जो मनुष्य की सहायता कर सके।

बुद्ध और महावीर दोनों ने कोशिश की कि किसी तरह जनता अन्ध-विश्वासों से बचे, अदृश्य की भक्ति और प्रार्थना नहीं करे, मूर्तियों को नहीं पूजे और किसी परोक्ष सत्ता को अपना शासक मानकर कर्म में शिथिलता नहीं दिखलाए। लेकिन यह बात बहुत समय तक नहीं चल सकी। तत्त्व से तो हिन्दू-धर्म निराकारवादी है, किन्तु हिन्दू जनता बराबर साकारोपासना, मूर्ति पूजा, की ओर झुकती रही है। दिनकर[2] के शब्दों में "अनेक निराकार दर्शनों को जन्म देकर भी हम सदैव यह मानते रहे हैं कि हमारी आंखों के परे जो शक्ति है, उसे हम देख तो नहीं पा सकते, परन्तु उसका शासन सारी सृष्टि पर चल रहा है। यह हिन्दू धर्म की ही विशेषता नहीं है, मनुष्य मात्र का एक साधारण स्वभाव है। आदमी हर निराकार कल्पना को साकार बना देता है।"

बौद्ध धर्म तथा गूर

हिमाचल प्रदेश में लोग बुद्ध की इस बात का कि तुम्हारा कोई सहायक नहीं

---

1. हिस्ट्री आफ हिमाचल
2. संस्कृति के चार अध्याय

है, न ईश्वर और न कोई देवता, ज्यादा देर तक पालन नहीं कर सके। उनके प्रति-दिन के जीवन में किसी सहायक की जरूरत थी अतः सारे उपदेशों के बावजूद, सब कुछ समझ-बूझने पर भी वे देवता को नहीं छोड़ सके। न केवल देवता को, बल्कि उन्होंने गूर को भी सहायक बनाया, जिसे जब जी चाहा सामने हाजिर करवा लिया, सहायता के लिए, मार्ग-दर्शन के लिए, संरक्षण पाने के लिए। मजेदार बात यह कि इन गूरों ने बुद्ध के आर्य अष्टांगिक मार्ग के नियमों को इस खूबी से अपनाया कि इनका आचरण प्रायः सर्वदा पवित्र और शुद्ध रहा है। ब्राह्मण, पुरोहित, पुजारी, श्रमण भी, बहुधा जीवन के उच्च आदर्शों से नीचे फिसल गए, उनमें कई बार सद्‌गुण लुप्त हो गए, सदाचरण से वे विमुख हुए, लेकिन गूर वाचा, कर्मसा शुद्ध रहा, पवित्र रहा, सत्य मार्ग पर अविचलित रहा। वह गृहस्थ है, जीविका के लिए कृषि करता है, पशु पालता है। यदि बाहिर का है तो धणियों, भाटों, ब्राह्मणों, खशों, कनैतों, राठियों, राजपूतों की 'बेठ' भी कमाता है, किन्तु उसके व्यवहार में एक निर्लिप्तता-सी व्याप्त दीखती है। वह क्रुद्ध भी होता है। आधि-व्याधि, रोग-शोक उसे भी सताते हैं, वह दुख का भी मारा होता है, किन्तु उसके मन में एक अनूठी शांति विराजती है, मानो वह दुख का कारण जान गया हो और इच्छा और तृष्णा का क्षय करने में सफल हो चुका हो।

गूर की उपस्थिति में वे हर पल के सहायक को कैसे छोड़ सकते थे? पिंडी की पूजा वे वेदों के निषेध के बावजूद करते आ रहे थे। वेदों ने उन्हें 'शिश्ने देवा' कहा, उनके ग्राम देवताओं की पूजा वर्जित की, लेकिन वे साकारोपासना, पिंडी-पूजा करते चले गए। इस बीच में और भी मूर्तियां बनीं, और देवी-देवताओं ने भी आकार धारण करना शुरू किया। मुखोट एवं मोहरे बने। मूर्ति-पूजा पाणिनि के समय (500-450 ई० पू०) में आरंभ हो गई थी।

मूर्तिकला

हिमाचल प्रदेश में लगता है मूर्ति एवं मुखोट बनाने का काम एक सुनियोजित लाभदायक व्यवसाय के रूप में स्थापित हो चुका था। मूर्तिकार, शिल्पकार, भवन-निर्माता सभी यहीं के निवासी थे। हर जनपद में उनकी अपनी बस्ती हुआ करती थी। यह परिपाटी आधुनिक काल तक चली आती रही है। चम्बा का सरना कारीगर, जिसकी मृत्यु कुछ एक वर्ष पहले हुई, उसी तरह की अत्युत्तम कलाकृति घड़ता रहा जैसी हजारों साल पहले ब्रह्मपुर के शिल्पी किया करते थे। चम्बा में ही आज भी प्रकाशचन्द बेमिसाल मूर्तियों का सृजन कर रहा है। हाल ही में उसने तीन क्विंटल की पार्वती-नन्दी सहित चतुर्मुखी शिव मूर्ति बनाई है। कांगडा के लदवाडा गांव का वृद्ध बैन्टूराम धातु मूर्तियां बनाने में निपुण है।[1] शिव तीर्थ

1 किशोरीलाल वैद्य—कल्चरल हैरिटेज आफ हिमालयाज

बैजनाथ के वैद्यनाथ मंदिर के अभिलेख से मालूम होता है कि मंदिर का निर्माण कांगड़ा के दो शिल्पी नयका और ठोड़ुक ने किया था। रामू नामक शिल्पीराज ने मंदिर की परियोजना तैयार की थी। इसी प्रकार चम्बा की विश्वविख्यात मूर्तियों का शिल्पी गूगा नाम का व्यक्ति था। इन मूर्तिकारों की एक लम्बी अविच्छिन्न परम्परा रही। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि देवी-देवताओं की निरन्तर बढ़ती संख्या और उनके रथों को सजाने के लिए अधिकाधिक मोहरों की मांग बराबर बनी रही। चंबा, कांगड़ा, किन्नौर, सुकेत और मंडी का इलाका अच्छे मूर्तिकारों के लिए प्रख्यात था। सुकेत का चराग गांव ठठारों का गढ़ रहा और परम्परा से ये ठठार ही मूर्तिकार थे। हाटकोटी दुर्गा और खेगसू खसुम्भा की अप्रतिम मूर्तियां भी स्थानीय शिल्पी के हाथ का ही कमाल हैं, किन्तु अभागे मूर्तिकार को इसका इनाम यह मिला कि उसके हाथ ही काट डाले गए, ताकि वह उस जोड़ की कोई दूसरी मूर्ति न बना सके।

स्वयं बौद्ध और जैन भी बहुत समय तक साकार उपासना को दूर नहीं रख सके। उन्होंने भी मूर्तियां बनानी शुरू कीं। ईसा की पहली शताब्दी में श्वेताम्बरों और दिगाम्बरों में जो फूट पड़ी थी, उसका एक प्रबल कारण यह भी था कि जैन मूर्तियों की पोशाक कैसी हो। उधर कनिष्क के समय में बुद्ध की प्रतिमा भी बन गई थी और उसकी पूजा में भी गीत-नाद, धूप-दीप आदि बातें आ गईं। सभी चैत्य मंदिर हो गए, और उनमें रहने वाले भिक्षुओं ने पुरोहितों का स्थान ले लिया। जनता में अष्टांगिक मार्ग पर चलने का उत्साह धीरे-धीरे कम होता गया। वह इस बात से निराश होने लगी कि बुद्ध के मार्ग में भी निर्वाण या मुक्ति की आशा केवल संन्यासी ही कर सकते हैं, साधारण गृहस्थ नहीं। अत: ठीक पहली सदी (कनिष्क के राज्यकाल) में ही बौद्ध धर्म की महायान शाखा बढ़कर बड़ी हो गई।

महायान, हीनयान

महायान पुराने मूल बौद्ध धर्म का एक विकसित रूप था और वह अपने प्रतिद्वन्द्वी दल व सन्यास-मार्ग-प्रधान हीनयान से कई बातों में भिन्न था। हीनयान का साधक जहां केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए यत्नशील है, वहां महायान अपने को सभी प्राणियों के उद्धार का इच्छुक मानता है और इसी कारण उसका परम आदर्श अर्हत की जगह बोधिसत्व बन गया। बोधिसत्व हो जाने का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति को बोधि की उपलब्धि हो जाना था जिसमें शून्यता और करुणा का सामंजस्य रहा करता है। इसी कारण हीनयान के अनुयायी जहां अधिकतर नैतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ही हो पाते थे, वहां महायान में सभी वर्ग, मत तथा विचार के लोगों का प्रवेश होने लगा। सद्धर्म पुंडरीक नामक महायान ग्रन्थ के अनुसार बुद्ध सर्वशक्तिमान है। माया उसके अधीन हैं। माया का प्रयोग वह लीला के लिए

करते हैं और विष्णु की तरह धर्म-रक्षा के लिए अवतार भी लेते हैं। कनिष्क के दरबार में रहने वाला महाकवि अश्वघोष महायान का प्रथम आचार्य माना-जाता है। दूसरा प्रमुख दार्शनिक ब्राह्मण से बौद्ध बना आचार्य नागार्जुन है, जिसने कहा कि हर चीज शून्य है। आम लोग शून्य का अर्थ खाली या रिक्त करते हैं, जिसमें कोई चीज नहीं रहती, लेकिन दर्शन में यह शब्द उस अवस्था का संकेत करता है, जिसमें से सारी चीजें निकली हैं।

महायान की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने पाली को छोड़ संस्कृत को अपनाया और हिन्दू विचारों के प्रभाव में आकर उनके भक्तिवाद तथा मन्त्रोपचार की पद्धतियों का भी पूर्ण समर्थक बन गया और कई बार हिन्दू और बौद्ध मन्दिरों में प्रतिमा को छोड़ अन्य भेद करना कठिन हो गया। उस समय के प्रचलित तंत्रवाद ने भी इसे भिन्न-भिन्न गुप्त साधनाओं की ओर प्रेरित किया जिससे गुह्य समाजों की एक परम्परा चल पड़ी।

छठा अध्याय

साम्राज्य का अंग

चौथी-पांचवीं शताब्दी तक कुछ एक अगम्य स्थानों में स्थित देवराज जनपदों को छोड़, बाकी सब संघ जनपद समाप्त हो गए थे। एकराज जनपद भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख पाए थे। इन जनपदों का अंत करने में समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त का बहुत बड़ा हाथ है। अपने राज्य-प्रसार के लिए समुद्रगुप्त ने अनेक लड़ाइयां लड़ीं और उत्तर भारत के जनपदों को हराकर अपने राज्य में शामिल कर उसे साम्राज्य बना लिया। सीमान्त जनपदों को उसने साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनाकर अपना आधिपत्य स्वीकार करने पर बाध्य किया।

इलाहाबाद प्रशस्ति में सम्राट् के इन कारनामों का विवरण उपलब्ध है। इस प्रशस्ति में उन राज्यों व जनपदों की सूची है जिन्हें समुद्रगुप्त ने सीधे अपने शासनाधीन लिया। साथ में उनका भी उल्लेख है जिन्होंने उसका आधिपत्य स्वीकार किया। दूसरे वर्ग के राज्यों, जनपदों में पश्चिमोत्तरी भारत के कर्तृपुर, अर्जुनेय, यौधेय और मद्रक शामिल हैं। मद्रक त्रिगर्तों का पश्चिमी पड़ोसी था। कुनिन्द और औदुम्बर संघ जनपद पहले ही समाप्त हो चुके थे। त्रिगर्त, कुलूत आदि राज्यों ने उसका प्रभुत्व मानकर अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखा। लेकिन शायद यह स्थिति ज्यादा दिनों नहीं चली और पहला मौका मिलते ही इन्होंने इस स्थिति के प्रति विद्रोह कर लिया। इसका संकेत हर्षचरित और देवीचन्द्रगुप्तम् में मिलता है, कि किस प्रकार एक शक राजा ने समुद्रगुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी रामगुप्त को न केवल परास्त किया, बल्कि उसे मजबूर किया कि वह अपनी पत्नी महारानी ध्रुवस्वामिनी (ध्रुवदेवी) को उसके हवाले कर दे। उस लज्जाजनक स्थिति से रामगुप्त को छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने उबारा। शायद इसी पराजय के कारण रामगुप्त को सिंहासन से हटा दिया गया या हट जाना पड़ा और राजसत्ता चन्द्रगुप्त ने संभाली। इतिहासकारों का एक बड़ा वर्ग यह मानता है कि यह शक राज कांगड़ापति था। यह भी कहा जाता है कि रामगुप्त को पराजित करने-

वाला यह राजा शिवालिकक्षेत्रीय था। इन दोनों संभावनाओं से वह हिमाचल का निवासी तो लगता ही है।

सीमान्त व्यवस्था

चन्द्रगुप्त ने भी समुद्रगुप्त की सीमान्त नीति का अनुसरण किया। जिन राज्यों को शस्त्र से जीता, उन्हें अपने साम्राज्य में अन्तर्भुक्त किया, जिन राजाओं ने आधिपत्य स्वीकार किया, उन्हें तथा उनके राज्यों को पूर्ववत रहने दिया। जहां तक हिमाचल का प्रश्न है, रामगुप्त की हार का बदला लेने के लिए, तथा यहां का सामरिक महत्त्व देखते हुए उसने समूचे क्षेत्र को अपने प्रभुत्व में ले लिया और प्रबन्ध करने के लिए सामन्त नियुक्त कर लिए। रावी और यमुना के बीच के क्षेत्र में नियुक्त इस सामन्त का हैडक्वार्टर कहां था, यह कहना कठिन है। निरमंड के ताम्रपत्र से भी इसकी कोई जानकारी नहीं हो सकती। ताम्रपत्र में केवल महा-सामन्तों की वंशावली दी गई है, वे कहां के थे, कौन थे, कोई उल्लेख नहीं। केवल परम्परा यह मानती है कि ताम्रपत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने दिया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ताम्रपत्र का दानकर्ता महाराजा महासामन्त समुद्रसेन गुप्तों का सामन्त था।

वर्मन

इसी ताम्रपत्र में किसी महाराजा सर्ववर्मन का भी उल्लेख है। वह मह सामंत नहीं था। महाराजा सर्ववर्मन ने शिव का मंदिर बनाया था और उसकी देख रेख के लिए अग्राहार दिया था। यह वर्मन कौन था? कहां का था? उसका कौन-- राज्य था? कुछ मालूम नहीं। एक बात जो बार-बार सामने आती है वह है इस पार्वतीय क्षेत्र में वर्मनों का होना। मौर्यों के आरंभिक दिनों में ही कुलूत के एक चित्रवर्मा राजा का जिकर आता है कि उसने अन्य चार राजाओं के साथ मिलकर चन्द्रगुप्त मौर्य का विरोध किया था। संभवत: इस विरोध का कारण चन्द्रगुप्त के वे प्रयत्न रहे होंगे जो उसने शिवालिक और हिमालय के बीच के इलाके को अपने अधिकार में लेने के लिए किए थे।

जौनसार बावर के लखमंडल मंदिर में प्राप्त पांचवीं-छठी शताब्दी के दो अभिलेखों में भी वर्मन राजाओं के नाम दिए हैं। ये राजा हैं सेनवर्मन, दत्तवर्मन, प्रतीपवर्मन, ईश्वरवर्मन, जयवर्मन, यज्ञवर्मन, अचलवर्मन और भास्करवर्मन। जौनसार बावर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक सिरमौर राज्य का ही भाग रहा है। मियां गोवर्धनसिंह[1] का कहना है कि संभवत: सिरमौर और जौनसार

1. हिस्ट्री आफ हिमाचल

बाबर के इस नये राज्य की स्थापना सन् 250 के आसपास हो गई थी।

पश्चिम की ओर रावी के ऊपरी क्षेत्र में छठी शताब्दी के मध्य में एक और वर्मन वंश पैदा हुआ। इस वंश का प्रथम पुरुष विख्यात मेरुवर्मन था जिसने ब्रह्मपुर (भ्रमौर) राज्य की नींव डाली। इस प्रकार ईसा से तीन-चार शताब्दी पहले से छठी शताब्दी तक प्रदेश के किसी-न-किसी हिस्से में वर्मनों का शासन रहा। वह वर्मन कौन थे? यवन तो हो नहीं सकते, क्योंकि यवनों ने पूरी तरह भारतीय नाम तब तक स्वीकार नहीं किए थे। जिन-जिन यवन राजाओं का नाम आता है उनका ग्रीकपन साफ झलकता है। संभावना यह है कि वर्मन शक कुषाण होंगे, यद्यपि मौर्य काल तक शक विजेताओं के रूप में भारत में नहीं पहुंचे थे। किंतु इस लम्बी अवधि में ये लोग भारतीय समाज में पूरी तरह घुलमिल गए थे और हर प्रकार से हिन्दू बन गए थे। इन्हें विदेशी कभी नहीं समझा गया, अतः इनका शासन भी स्वदेशी माना गया और लोगों में उसी रूप में स्वीकार हुआ, क्योंकि प्रजा में भी तो शक खून अच्छी-खासी मात्रा में आ चुका था।

गुप्तों का सामन्तों द्वारा यहां का शासन इन लोगों के लिए नया अनुभव रहा। पहली बार ये लोग किसी दूर के शासक के अधीन हुए। उस समय तक इन छोटे-छोटे जनपदों, खूंदों का क्षेत्रफल सीमित था। राजा या नेता जाने-पहचाने देखेभाले व्यक्ति होते थे। लेकिन गुप्त साम्राज्य के साथ ये बातें बदल गईं। राजा न जाने कहां रहता है। मगध और पाटलिपुत्र उनके लिए केवल नाम थे। साधारण जनता को शायद ये नाम भी मालूम नहीं थे। एक तो राजा कहीं बाहर का, दूसरा उसका प्रतिनिधि, महासामन्त भी परदेसी। वह भी कई बार इन लोगों के सम्पर्क में आता ही नहीं था। उनके अपने राजा उस बड़े राजा के आज्ञाकारी दास से बन गए जिन्हें महासामन्त की चाकरी भरनी पड़ती थी। उनकी महत्ता कम हो गई, और बिना सम्राट् या महासामन्त की आज्ञा के वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं थे।

इसका एक परिणाम आगे चलकर यह हुआ कि जब देश के मैदानी भागों से राजा या राजकुमार मुसलमानों के डर से या उनसे मार खाकर यहां भाग आए, तो लोगों ने उन्हें स्वीकार करने में आना-कानी नहीं की, क्योंकि वे एक प्रकार से विदेशी राज के अभ्यस्त हो चुके थे। उसका दूसरा नतीजा यह हुआ कि आज तक ये लोग अपने जनपद या राज के चलाने में साझेदार थे, किसी-न-किसी रूप में उनके प्रतिनिधि राजकार्य में भाग लेते थे, किंतु साम्राज्य का हिस्सा बन जाने से यह रिश्ता टूट गया। छोटे से बड़ा, खून्द से जनपद, जनपद से महाजनपद, महाजनपद से बड़ा राज्य और उससे साम्राज्य बनने की प्रक्रिया से जहां भौतिक उन्नति के मार्ग प्रशस्त हुए और बड़ी इकाई का हिस्सा होने के नाते विकास के विविध आयाम सुलभ हो गए, वहां जब यह केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ गई, तो

अनिश्चितता का सा वातावरण भी पैदा हो गया। उसका सामना करने के लिए 'पहले अपने घर को सम्हालो' वाला भाव जाग उठा और फिर दोबारा छोटी-छोटी इकाइयां बनीं। यही इकाइयां राहणू और ठकुराइयां कहलाईं।

राणा व ठाकुर

ठकुराइयों के शासक ठाकुर बने और राहणुओं के राणा। राणा शब्द का व्यवहार हमें सबसे पहले औदुम्बर जनपद के सिक्कों में हुआ मिलता है जहां गण राजाओं को महादेव राणा से संबोधित किया गया है। शिवदास, रुद्रदास और धरघोष तो केवल राणा ही हैं। भागवत महादेव ने राजा राणा की उपाधि ली। इस उपाधि में महत्त्व राणा का है या राजा का, या इसका तात्पर्य 'राणाओं' के 'राजा' हैं, ठीक तरह नहीं कहा जा सकता। वैसे तो बीसवीं सदी तक भी राजा राणा की उपाधि प्रयुक्त होती आई है। जुब्बल की ठकुराई का शासक राजा राणा कहलाता था। कुलूत के राजा वीरयस की लगभग पहली शती की मुद्रिका पर भी खरोष्ठी लिपि में राणा शब्द लिखा हुआ है। दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में संस्कृत में 'वीरयसराजन कुलूतस्य' अथवा 'राजन, कुलूतस्य वीरायसिस्य' अंकित है।

एक विशेष बात यह है कि राणाओं का उल्लेख केवल उन्हीं प्रदेशों में है जो कभी खशों के गढ़ थे और शक-कुषाणों के राज्यों के भाग थे। जैसा हम देख चुके हैं, शक-कुषाण हिमाचल प्रदेश के भीतरी भागों तक गए थे। इनका शासन 'क्षत्रप' या मंडलेश्वर की पद्धति पर आधारित था। शक-कुषाण नेता व सरदार मंडल का शासक नियुक्त किया जाता था। मंडी में सलानू के शिलालेख का चंडहस्तिन कोई शक-कुषाण मंडलेश्वर ही होगा जिसने स्थानीय शासक रज्जिलबल को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया था। प्रदेश का काफी हिस्सा इन मंडलेश्वरों के अधिकार में रहा। शक सत्ता के ह्रास पर ये मंडलेश्वर पुरातनकाल से चले आए खूंदों और जनपद प्रतिनिधियों में मिल गए और इस प्रदेश के शासकों का वह वर्ग दे गए, जिन्हें राणा कहा जाता है।

परम्पराओं और लोकवार्ता से पता चलता है कि राणाओं को सहज में ही अपने राहणु नहीं मिल गए, उन्हें अर्जित करने और बनाए रखने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा। ठाकुरों के साथ सहस्रों वर्षों तक यह खींचातानी चली। ठाकुरों को ठकुराइयों से वंचित कर ही राणा लोग अपना राहणु बना पाए होंगे। लेकिन सारे प्रदेश में वे ठाकुरों को समाप्त नहीं कर सके और वर्तमान हिमाचल बनने तक यमुना-सतलुज का भाग बारह ठकुराइयों और अठारह ठकुराइयों का इलाका कहलाता था। ये ठकुराइयां ही रियासतें कहलाईं। एक बार चम्बा में सौ के ऊपर ठकुराइयां थीं। वर्तमान शिमला और सोलन जिलों की ये ठकुराइयां थीं

क्योंथल, बघाट, कुठार, कुणिहार, भज्जी, धामी मेहलोग, कोटी, मंगल, बेजा, भरोली, बाघल, जुब्बल, सारी, रावींगढ़, बलसन, रतेश, घूंड, मधान, ढ्योग, कुम्हारसेन, खनेटी, देलठ, करांगड़ा, कोटरवाई-कोटगढ़, दरकोटी, थरोच, ढाढी, शांगरी और भरौली। इनमें से क्योंथल जैसी बड़ी ठकुराइयां भी थीं लेकिन रतेश और ढाढी जैसी छोटी-छोटी भी। जब इन ठकुराइयों का हिमाचल में विलय हुआ, उस समय रतेश का क्षेत्रफल दो वर्गमील था और ढाढी की जनसंख्या केवल 242 थी। अर्थात् ये ठकुराइयां केवल ग्राम ही थे, मलाणा और निरमंड देवराजों से भी बहुत छोटे। "उन्नीसवीं शताब्दी में डोडराक्वार, पुंडर और नावर भी पृथक् ठकुराइयां थीं। बाद में नावर और डोडराक्वार बुशैहर राज्य में समा गईं। डोडराक्वार कभी गढ़वाल के अधिकार क्षेत्र में था और इसे गढ़वाल राजा ने बुशैहर के राजा को ब्याह में दिया था। पुंडर परगना जुब्बल का भाग था जिसने विद्रोह कर अपनी स्वतंत्र ठकुराई बना डाली, लेकिन बाद में इसे क्योंथल में मिला दिया गया था।"[1] लाहुल में ठाकुरों का उल्लेख है। स्पिति लम्बे समय तक परगना ही कहलाता था।

बड़े राज्य या साम्राज्य का नागरिक बनने का एक लाभ अवश्य हुआ। जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदला, समस्याओं को देखने-समझने की अधिक सुविधाएं मिलीं। समूचे देश में क्या हो रहा था, क्यों हो रहा था, उनके पीछे कौन-सी शक्तियां काम कर रही थीं और उनका प्रेरणा-स्रोत क्या था—यह जानने का सुभीता हो गया था। सामन्तों और महासामन्तों के आने से नई स्फूर्ति मिली और भौतिक समृद्धि के साथ-साथ कलात्मक अभिव्यक्ति के नये प्रयत्नों का सूत्रपात हुआ। पुराने मन्दिरों और धर्म-स्थानों को नई-नई जागीरें मुआफियां मिलीं। परम्परा से चले आ रहे अग्राहारों की वृद्धि की गई। यह निरमंड के ताम्रपत्र से सिद्ध हो जाता है जहां प्राचीनकाल से चले आ रहे आथर्वणो के अग्राहार को सर्ववर्मन ने बढ़ाया और बाद में उस परिवर्द्धित अग्राहार में समुद्रसेन ने और जमीन, जायदाद, आबादी और कृषि भूमि, मकान और खल्यान जोड़कर उसे पूर्ण किया। इस प्रकार के अग्राहारों के मिलने से धर्म-कर्म में नई ताजगी आई, साधु-संन्यासी, श्रमण-ब्राह्मण, नाथ-सिद्ध, जोगी-बैरागी के रहने-ठहरने, खाने-पीने की समुचित व्यवस्था हो गई।

मंदिर व मूर्तियां

देश के अन्य भागों में होते परिवर्तनों की देखादेखी यहां भी बड़े-बड़े मंदिर और बड़ी-बड़ी मूर्तियां बनने लगीं। भ्रमौर राज्य के आरम्भिक दिनों में बनाई

---

1. हिस्ट्री आफ हिमाचल प्रदेश

गई अनुपम पाषाण एवं धातु प्रतिमाएं आज भी अपनी कलात्मकता के लिए बेजोड़ हैं। उत्तरी भारत में जिस युग को कला के स्मारकों के क्षेत्र में अंधेरा युग कहा जाता रहा है, उस युग के सैंकड़ों स्मारक और अवशेष इस प्रदेश में मौजूद हैं और भारतीय कलात्मक इतिहास की टूटी, बिखरी कड़ियों को मिलाते हैं। जब विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से उत्तरी भारत में मन्दिर और मूर्तियां, विहार और मठ नष्ट-भ्रष्ट हो रहे थे, कला के पनपने के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव हो गया था, तब हिमाचल प्रदेश ने न केवल देश के समृद्ध भण्डार के अनूठे रत्नों को विध्वंसकारियों से बचाए रखा, बल्कि अपने स्वच्छ, स्वच्छन्द, उन्मुक्त, शान्त तथा अनालोडित वातावरण में मूर्तिकला व वास्तुकला की विविध शैलियों को पनपने, पल्लवित एवं पुष्पित होने का सुअवसर दिया था। यही कारण है कि हिमाचल के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, उत्तर से दक्षिणी भाग तक, पूर्व से पश्चिम तक स्थान-स्थान पर गुप्तकालीन, गुप्तोत्तर कालीन, कुषाण, मौखरी-प्रतिहार, काश्मीर तथा स्थानीय त्रिगर्त कला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

यही नहीं, भारत से बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के जावा, कम्बोडिया और बाली में भारतीय कला के जो महान स्मारक मिलते हैं, उनकी शैली का प्रतिरूप हमें हिमाचल में उपलब्ध होता है। कतिपय कला-समीक्षकों का तो यहां तक कहना है कि कला के विकास और संरक्षण में हिमाचल के मन्दिरों का वही स्थान है, जो अजन्ता, अलोडा और बाघ का है। कला के विकास और प्रसार के लिए यहां सभी साधनों, सभी सामग्री का उपयोग किया गया। काष्ठ, पाषाण, अष्टधातु, पंचधातु, कांसा, सोना, चांदी, पीतल सभी का इस्तेमाल किया गया है। इतना ही नहीं, कागज के संग-संग ऊन, सूत और कपड़े तक का प्रयोग किया गया है।

स्थापत्य एवं मूर्ति कला का स्वर्णकाल

वास्तु और मूर्तिकला के क्षेत्र में सातवीं और आठवीं शताब्दियां हिमाचल प्रदेश का स्वर्णकाल कही जा सकती हैं, यद्यपि मोहरे और मुखोट आज तक बनते आ रहे हैं। भ्रमौर, छत्राड़ी और मृकुला की अधिष्ठात्री मूर्तियों के इलावा सुलतानपुर कुल्लू में विष्णुमूर्ति, बजौरा में विष्णु, महिषासुरमर्दिनी और गणेश की मूर्तियां, जगतसुख की महिषासुरमर्दिनी, चंडी, वज्रवाराही; हरिपुर की दुर्गा और भ्रमौर के नृसिंह का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। आठवीं और नवीं शताब्दियों में त्रिमूर्ति विष्णु का जोर रहा। इसी काल में सूर्य की उपासना शनैः-शनैः विष्णु-पूजा में परिवर्तित हो गई थी। फलस्वरूप सूर्य ने विष्णु का रूप लिया जिसके नृसिंह, बाराह और सूर्य ये तीन मुख हैं। धातु-मूर्तियों में निरमंड के परशुराम, कोठी की मुंजनीदेवी की मूर्ति और फतेहपुर की कांसे की बुद्ध प्रतिमा

का विशेष स्थान है। राजा हेमप्रकाश की रानी मुंजनीदेवी की लगभग 38 सेंटी-मीटर लम्बी अष्टधातु की प्रतिमा नवीं, दसवीं सदी की है। मूर्ति अत्यन्त सजीव है, नाक नुकीली और चेहरा भरा हुआ। सिर पर त्रिकोण मुकुट है, कान में वालियां और गले में मोतियों की माला और हार हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में डुंगरी में देवी हिडिम्बा के मोहरे की अपेक्षा यह प्रतिमा अधिक कलात्मक है। मुंजनीदेवी और कुछ मूर्तियां गांधार और गुप्त शैलियों के मिश्रण से बनी हैं। गुमा में प्राप्त सूर्य-मूर्ति कुषाणकाल की मानी जाती है। इसी काल की मूर्ति बजौरा मन्दिर में भी है।

अष्टधातु की मूर्तियों में सबसे विलक्षण स्वच्छन्द भैरवी है, जो कांगड़ा से प्राप्त हुई है और अब दिल्ली में राष्ट्रीय संग्रहालय में है। 12वीं शताब्दी की इस मूर्ति की पीठिका पर पांच पंक्तियों का शारदा लिपि में एक अभिलेख खुदा है जिसमें किसी नरनायक राजा का नाम है। पंचानन, दसवाहु स्वच्छन्द भैरवी एक शक्ति-विभोर चतुरानन पुरुष पर सुखासन में बैठी है। भैरवी के चार मुख चार दिशाओं में हैं, पांचवां मुख उनके ऊपर है। दक्षिण का चौथा हाथ अभय मुद्रा में है, और वामहस्त वरद मुद्रा में है। अन्य आठ हाथों में खड्ग, पद्म, त्रिशूल, चक्र, कपाल, अंकुश, पाश, पुस्तक और अमृत घट हैं। भैरवी के दायें, वायें नृत्य मुद्रा में गणेश और शिव हैं।

किन्नौर में अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक स्थान कोठी में देवी के मंदिर के पास ही दश-भुज भैरव की लगभग एक मीटर लम्बी मूर्ति है। भैरव के हाथों में स्वच्छन्द भैरवी के समान खड्ग, शूल, धनुष, चक्र आदि हैं। दाहिनी ओर की भुजा वरद हस्त मुद्रा में है। कोठी देवी के मंदिर में हर गौरी व सरस्वती की चार लकड़ी और 17 पत्थर की मूर्तियां हैं। अनुमान है कि ये सभी मूर्तियां दसवीं शताब्दी की हैं।[1] लाहुल में त्रिलोकीनाथ के मंदिर की पहली मूर्ति आठवीं-नवीं शताब्दी की बनी है।

पाषाण मूर्तियों का सुव्यवस्थित क्रम हमें 12वीं शताब्दी तक मिलता है। अम्बिका मंदिर के सामने प्रदक्षिणा पथ में विशालकाय पाषाण सिंह और सिंहनी गर्भ गृह की ओर मुख किए खड़ी हैं। उनकी मुखाकृति से यों लगता है कि अंबिका का यह वाहन और उसकी सहचरी शुंभ निशुंभ पर आक्रमण करने ही वाले हैं।

हिमाचल मन्दिरों का प्रदेश है। भरमौर शिव भूमि है, मंडी शिव नगरी है, अतः शिव मन्दिरों का बाहुल्य स्वाभाविक है। चम्बा में एक ही जगह विष्णु और शिव के मंदिरों की पंक्ति है। चौरासी स्थान पर नाम के अनुरूप चौरासी मन्दिर हैं। हाटकोटी और मंडी में ममेल और काव पुरातन मन्दिरों के लिए उसी तरह विख्यात हैं जैसे निरथ, रामपुर बुशैहिर (मानी फानी का बौद्ध मन्दिर)

1, राहुल सांकृत्यायन, किन्नर प्रदेश

जुब्बल, नाहन, रेणुका, पुराना विलासपुर, नग्गर और जगतसुख । कांगड़ा, बैज-नाथ, ज्वालामुखी और टीरा सुजानपुर मंदिरों के कारण प्रसिद्ध हैं। कांगडा के मन्दिरों की ख्याति भारत से बाहर के देशों तक फैली थी और उनकी तुलना सोमनाथ के मन्दिर से की जाती थी। यही कारण है कि ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने अपनी लूटपाट में अम्बिका वज्रेश्वरीदेवी को भी सम्मिलित किया था। पुरानी राजधानियों, तीर्थों तथा सांस्कृतिक केन्द्रों में मन्दिरों की भर-मार है। निर्माण सामग्री के आधार पर इन मन्दिरों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—पाषाण, काष्ठ और मिश्रित। गुफा मन्दिर अलग श्रेणी में हैं। प्रमुख गुफा मन्दिर मसरूर, त्रिकोकपुर और वायल का देऊढांक हैं।

मसरूर

हरिपुर से आठ मील तथा कांगड़ा से बैजनाथ की ओर बारह मील की दूरी पर स्थित मसरूर की गुफा उत्तरी भारत के गुफा मन्दिरों में सर्वोत्कृष्ट है। 160 फुट लम्बी और 105 फुट चौड़ी बलुआर चट्टानों को काटकर बनाए गए शिखर शैली के ये 15 मन्दिर महाबलीपुरम और अलोड़ा के विश्वविख्यात मन्दिरों की तरह भव्य हैं। ये मंदिर शिलाखंडों पर अंकित मूर्तियों से भरे पड़े हैं। सभी मूर्तियों के अंकन में विवरण का विशेष ध्यान रखा गया है। गन्धर्व और मत्स्य अत्यन्त सजीव हैं। वस्तुत: मसरूर के गन्धर्व अलोडा के विख्यात गन्धर्वों से भी अधिक सन्तुलित हैं। सर्वोत्तम मंदिर ठाकुरद्वारा है, जिसके मुख्य द्वार के ऊपर शिव की सुन्दर मूर्ति है और गर्भगृह में राम, सीता और लक्ष्मण की मूर्तियां हैं। इन मंदिरों का निमार्ण अनुमानत: आठवीं शताब्दी में हुआ है। ठाकुरद्वारे की निर्माण-योजना जावा और खमेर के प्रख्यात मंदिरों जैसी है।

पाषाण मन्दिर

पाषाण मंदिरों का निर्माण मुख्यत: पांचवीं से बारहवीं शताब्दी तक हुआ है और उस समय का शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्राम या नगर ऐसा हो, जहां इस प्रकार के मन्दिर नहीं हैं। ये मन्दिर सामान्यत: शिव, विष्णु और सूर्य के हैं और इनके अंतर्गत हम शिमला के निरथ, चम्बा के गुम के सूर्य मन्दिर, बजौरा, बैज-नाथ, मणि महेश, निरमंड, नग्गर, जगत सुख, मंडी और चम्बा के शिव मन्दिरों की गिनती कर सकते हैं। नग्गर में शिवलिंग के स्थान पर उमाशंकर की लग-भग एक मीटर ऊंची मूर्ति है। 12वीं शताब्दी के बैजनाथ के बैद्यनाथ मन्दिर की गर्भगृह में तो लिंग है, किन्तु मंडप की पूर्वी भीति में बूटधारी सूर्य की मूर्ति है। यहां भी स्वच्छन्द भैरवी के मन्दिर के नर्तक गणेश के समान नृत्यरत गणपति है और वहु भुजा नटराज शिव की विशाल पाषाण मूर्ति है। इस मन्दिर की मूर्तियों

और स्थापत्य में अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है।

यही विशेषता कुल्लू में बजौरा के विश्वेश्वर मंदिर की मूर्तियों में भी है। यहां शैव, शाक्त और वैष्णव, तीनों सम्प्रदायों की प्रतिमाएं हैं। भवन आकार में बड़ा नहीं है किन्तु उस पर अंकित और उसकी भीतर रखी गई विष्णु, महिषासुरमर्दिनी और गणेश जैसी मूर्तियां कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। विष्णु में सौम्यता है और महिषासुरमर्दिनी में गतिशीलता। खजराहो के मन्दिर की तरह का चित्रण कुल्लू में दुशाल गांव के शिव मन्दिर में दीखता है। प्रवेश-द्वार पर मैथुन युगल है

काष्ठ मन्दिर

काष्ठ मन्दिरों में सर्वप्रथम स्थान लाहुल की मृकुला देवी के मन्दिर का है। भरमौर के लक्षणादेवी और छत्राड़ी के शक्ति देवी के मन्दिर भी इसी श्रेणी के हैं। इनके अतिरिक्त मिन्थल, मनाली, पराशर, करसोग, सराहन, साराहां, मूरंग और किल्वा में भी सुन्दर प्राचीन मन्दिर हैं, परन्तु कई स्थानों पर पुराने भवन ढह गए हैं।

मृकुला

जहां तक मृकुला, भरमौर और छत्राड़ी के मन्दिरों का सम्बन्ध है, वे गुप्तोत्तर शैली को समझने की केवल मात्र कुंजी हैं। मृकुला संभवत: प्रदेश का सबसे अधिक कलात्मक मंदिर है। चन्द्रभगा और मियर नाले के संगम की धार के ढलान पर स्थित लकड़ी की नुकीली छत वाला यह मंदिर दूर से देखने पर सामान्य घर सा लगता है, परन्तु ज्यों ही इसके निकट पहुंच कर देखते हैं तो प्रवेश-द्वार पर खुदी मूर्तियों की बहुलता, प्रतीकात्मकता और सजीवता तुरन्त प्रभावित कर देती हैं। भीतर प्रविष्ट होने पर जो दृश्य सामने आता है, देखने वाला किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो कुछ क्षणों के लिए स्तंभित हो जाता है। उसके सम्मुख चारों ओर, छत पर, दीवारों पर, खिड़कियों में, मंडप और मंडप के स्तंभ पर, जगमोहन और गर्भ-गृह के द्वार पर समूची भारतीय संस्कृति का मूर्तरूप सामने आता है। देवदारु के शहतीरों और तख्तों पर खुदी सीमान्त लाहुल की ये मूर्तियां इतनी सजीव और सशक्त हैं मानो वे अपनी कथा आप कह रही हों। एक ओर महाभारत का दृश्य है तो दूसरी ओर रामायण-प्रसंग खुदा है। तीसरी ओर बौद्ध इतिहास है और चौथी ओर पौराणिक गाथायें चित्रित हैं। स्तंभ दुर्गों का अभिप्राय व्यक्त करते हैं। एक स्तंभ में महारथी अर्जुन कपिध्वज वाले अपने रथ में खड़े हैं, पीछे विष्णु (कृष्ण) हैं और सामने एक अन्य रथ पर परमवीर कर्ण हैं। दोनों ने तीर साध रखे हैं। अन्यत्र गोहरण का दृश्य चित्रित हैं, जिसमें संभवत: त्रिगर्त राजा

सुशमर्ण को पांडव बन्धुओं से युद्ध करते दिखाया गया है।

द्रौपदी स्वयम्वर का चित्रण अत्यन्त सजीव है। भिन्न-भिन्न दृश्यों में पहले राजा द्रुपद राजसिंहासन पर बैठे मंत्रणा करते दीखते हैं। द्रौपदी धीरे-धीरे प्रवेश करती है। फिर एक व्यक्ति हल्के से उसके बाजू को छू उसे पंडाल की ओर ले जाता है। अर्जुन अपना तीर साध रहा है। पूरी तन्मयता से वह बाण चलाता है, मछली पर निशाना लगाता है। इसी क्रम के एक दृश्य में राज्याभिषेक चित्रित है।

पश्चिमी भीति पर रामायण के सुन्दर कांड और युद्ध कांड की कथाओं को अंकित किया गया है। सीता का हरण हो गया है। उसकी खोज हो रही है। राम और लक्ष्मण हनुमान को लंका भेज रहे हैं। दूसरे दृश्य में लंका से लौट कर हनुमान राम को सूचना देते हैं। तीसरे दृश्य में हनुमान महेन्द्र पर्वत पर से छलांग लगा समुद्र को पार कर लंका पहुंच रहे हैं। समुद्र की प्रतीक दो मछलियां हैं। उसके बाद हनुमान अशोक वाटिका में दुखियारी सीता के दर्शन करते हैं। उनसे वार्तालाप कर संभवतः राम का सन्देश और उनकी मुद्रा दे रहे हैं। उसके पश्चात् हनुमान द्वारा लंका-दहन और हनुमान-दशशीश रावण सम्वाद दिखाए गए हैं। प्रत्येक घटना की अभिव्यक्ति के लिए अनेक मूर्तियों और प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। यही नहीं, दशावतार संबंधी आख्यान, वामन द्वारा राजा बलि से पृथ्वी लेकर उसे पाताल में डालना, समुद्र-मंथन, असुर-पराजय आदि गाथाओं को बड़े रोचक ढंग से खुदवाया गया है।

मूर्तियों के एक अन्य क्रम में माराधर्षण प्रसंग है। भगवान बुद्ध वज्रासन में भूमि-स्पर्श मुद्रा में बैठ कर मृत्यु और माया पर अपनी विजय घोषित कर रहे हैं। इस मन्दिर के मूर्तिकार वैष्णव और शैव विषयों तथा रामायण और महाभारत पर अलम् नहीं कर गए, उन्होंने उसी लगन से, श्रद्धा से नटराज शिव, गौरी और उस परिवार के अन्य सदस्यों को भी मूर्त किया है गन्धर्वों द्वारा शिव-लिंग की पूजा का दृश्य तथा यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों के नृत्य का दृश्य चिर-स्मरणीय है।

कलाप्रेमी मेरूवर्मन

ऐसा माना जाता है कि इस मंदिर का निर्माण सातवीं शताब्दी के अन्त या आठवीं शताब्दी के आरंभ में चम्बा के राजा मेरूवर्मन ने कराया था। छत्राढी का शक्तिदेवी मन्दिर और भ्रमौर के लक्षणा देवी तथा अन्य प्रमुख मन्दिर भी इसी राजा ने बनवाये थे। एक प्रकार से मेरूवर्मन हिमाचल का महानतम कला-प्रिय शासक कहा जा सकता है जिसने प्रदेश को वह खजाना दिया, जिसके प्रत्येक रत्न को देखते हुए जीवन बीत सकता है।

मृकुला की बौद्ध मूर्तियों जैसी काष्ठ मूर्तियां स्पिति के तावो मठ में भी हैं। वहां दो बड़े-बड़े चौखटों पर जातक प्रसंग खुदे हैं।

गद्दियों का क्षेत्र भ्रमौर सकारण मंदिरों के लिए मशहूर है। निरमंड के ध्वस्त कपालेश्वर मन्दिर तथा चंडी मन्दिर के प्रांगण के शिवालय और नग्गर के मुरलीधर मन्दिर के आधार को छोड़, जो सातवीं शताब्दी से पहले के हैं, भ्रमौर के मन्दिर ही इस प्रदेश में प्राचीनतम हैं। सातवीं शताब्दी के लक्षणा मन्दिर में गर्भगृह में देवी की एक मीटर ऊंची अष्ट धातु की चतुर्भुजा मूर्ति है। देवी का दाहिना पैर महिषासुर के सिर पर दिखाया गया है। बायें हाथ में त्रिशूल है। अन्य दो हाथों में देवी खड्ग और घंटा धारण किए है। चम्बा से चालीस किलोमीटर उत्तर-पूर्व में छत्राढी के शक्तिदेवी मंदिर में, जिसे देवदारु के तने पर बना हुआ कहा जाता है, पंक्ति के बाद पंक्ति पर कहीं नवग्रह अंकित हैं तो कहीं षट्-मुख कार्तिकेय, ऐरावत के साथ वज्रधारी इन्द्र और चतुर्भुज ब्रह्मा। ब्रह्मा के हाथ में कुंभ, माला और वेद हैं। एक ओर त्रिमूर्ति विष्णु, महिषासुरमर्दिनी दुर्गा, गंगा और यमुना चित्रित हैं।

मिश्रित मंदिर

प्रदेश में मिश्रित मंदिर ही सर्वाधिक है। इस तरह के मंदिरों के अच्छे नमूने हैं हाटकोटी का महिषासुरमर्दिनी-पार्वती, निरमंड में देवी अम्बिका, रेणुका में रेणुका माई और परशुराम मंदिर और मंडी का तारणा देवी मंदिर। हाटकोटी की अष्टभुजा महिषासुरमर्दिनी पांच फुट लम्बी है और सोने की बनी है। कहा जाता है कि शंकराचार्य ने स्वयं यहां इस मूर्ति की स्थापना की थी। स्वर्ण मूर्ति के पार्श्व में पाषाण महिषासुरमर्दिनी भी है। यही पुरानी मूर्ति मानी जाती है। हाटकोटी में ही एक शिवालय की भीति में एक गणेश-मूर्ति है। गणेश बैठे हैं और उनके सिर पर दो सिंहमुख बने हैं। ये मूर्तियां छठी से नवीं सदी के बीच की हैं। इसी तीर्थ पर उड़ीसा के भुवनेश्वर लिंगराज और मुक्तेश्वर मंदिरों की शैली के अनेक मंदिर हैं, जिन में एक 'पांजो पांडू के घोड़ू' भी हैं।[1] यह हम कह ही चुके हैं, हाटकोटी सारस्वत-सैन्धवों की बस्ती है।

इन सभी बड़े मन्दिरों के निर्माण, मूर्ति स्थापन, काष्ठ एवं पाषाण चित्रण के लिए अपार धन राशि दरकार थी। यह छोटे-छोटे जनपदों में संभव नहीं था, अतः बड़े राज्य बनने और साम्राज्य के अन्तर्गत आने से इस काम के लिए समुचित धन उपलब्ध हो सका। साथ ही साम्राज्य के किसी भी भाग से वास्तुकार मूर्तिकार आ सकते थे, या स्थानीय लोग भी बाहर जाकर कला-कौशल

---

1. मियां गोवर्धन सिंह

प्राप्त कर सकते थे। इन मंदिरों की देख-रेख तथा देवताओं की पूजा-अर्चना के लिए अग्राहार व मुआफियां दी गईं। मुआफियां सदा भूमि की होती थीं, जिस की उपज और मालिए (कर) से खर्च निकल जाता और पुजारियों तथा मंदिर के अन्य कर्मचारियों के निर्वाह का भी जुगाड़ हो जाता। इस मात्रा में भूमि बड़ा राज्य ही दे पाता था।

एक ओर निर्माण का यह वृहद आयोजन हो रहा था—स्थान-स्थान पर नये मंदिर निर्मित हो रहे थे, मूर्तियां, काष्ठ, पाषाण और धातु की निर्मित हो रही थीं, उनके लिए पृथक शास्त्र बन रहे थे और तदनुरूप ही भवन बन रहे थे, मूर्तियों के प्रतीक निश्चित हो रहे थे, दूसरी ओर बौद्धों में हीनयान और महायान अनेक उपयानों में बंट कर दर्शन की गूढ़ता में उलझते जा रहे थे। मूर्तियों के प्रतीकों ने शैवों और शाक्तों में शक्तिपूजा मंत्र-तंत्र की परिधि में समेट ली। एक नया आचार जन्मा, जिसे मंत्राचार-तन्त्राचार कहा जाने लगा। यह तंत्र एक नया शास्त्र, नई जीवन-पद्धति बन गया। इसमें बुद्ध का सर्वशक्तिमान देवता बनना, अवतार लेना, उसकी मूर्तियां बनना और बौद्धों की हिन्दू देवी-देवताओं की तरह ही धार्मिक कर्मकांड, पूजित-देव गणों की सृष्टि ने आग में घी का काम किया। एक ने दूसरे को प्रभावित किया, दूसरे को प्रेरित किया। नतीजा यह कि समाज में एक अजीब-सा चिन्तन व्याप्त हो गया।

आध्यात्मिक पतन

पांचवीं शताब्दी के बाद से लेकर प्रायः ग्यारहवीं-बारहवीं सदी तक का समय उत्तर भारत के आध्यात्मिक पतन का समय था। इस काल में एक ओर जहां गौड़पद, कुमारिल, शंकर, चंद्रकीर्ति और वाचस्पति मिश्र जैसे चिन्तक उत्पन्न हुए, वहां दूसरी ओर समाज में चमत्कारों का आश्रय लेकर जनता को चमत्कृत करने और ठगने वाले साधुओं की भी संख्या बेशुमार हो गई और दार्शनिक चिन्तन तो कुछ मुट्ठी-भर लोगों तक सीमित रह गया, किन्तु पाखंडी साधुओं की संख्या में वृद्धि होने के कारण जनता चिन्तन की शक्ति खो बैठी और सारा समाज अन्ध-विश्वासों का दास हो गया।

हिन्दू तन्त्र शास्त्र

हिन्दू तन्त्र शास्त्र शिव-प्रणीत माना जाता है। यह तीन भागों में विभक्त है—आगम, यामल और मुख्य तंत्र। इस शास्त्र का सिद्धांत है कि कलियुग में वैदिक मंत्रों, जपों, तपों, यज्ञ आदि का कोई फल नहीं होगा। फल केवल मंत्र से ही प्राप्त हो सकता है। और मंत्र भी प्रायः एकाक्षरी और एकदम निर्थक जैसे ह्रीं, क्रीं, श्रीं, स्थीं, शूं, क्रूं आदि। इन्हीं शाक्त तांत्रिकों की देखादेखी, बौद्धों ने

वज्रयान नाम का एक अन्य उपयान आरंभ किया।

बुद्धचर्या के लेखक के अनुसार गुप्त काल के आरंभिक काल में हर्षवर्धन के समय तक बौद्ध साधुओं ने मंजुश्रीमूलकल्प, गुह्य समाज और चक्रसंवर आदि कितने ही तंत्रों की सृष्टि कर ली। मंजुश्रीमूलकल्प ने तंत्रों के लिए रास्ता खोल दिया। गुह्य समाज ने अपने भैरव चक्र की शराब, स्त्री-संभोग तथा मंत्रोच्चारण से उसे और भी आसान कर दिया।"[1] उधर तांत्रिकों ने भी पंचमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन और चक्र पूजा पर जोर दिया। लोग कहने लगे कि यह ठीक है कि सबसे उत्तम वेदाचार है, लेकिन वेदाचार से वैष्णवाचार महत् है। वैष्णवाचार से शैवाचार श्रेष्ठ है, शैवाचार से दक्षिणाचार उत्कृष्ट है। दक्षिणाचार से वामाचार, वामाचार से सिद्धान्ताचार और सिद्धान्ताचार की अपेक्षा कौलाचार उत्तम है। कुलार्णव तंत्र के अनुसार कौलाचार के बाद और कोई नहीं।

वज्रयान-तंत्रयान-सहजयान

आठवीं शताब्दी में एक प्रकार से सभी बौद्ध सम्प्रदाय भी वज्रयान महायान के अनुयायी हो गए। इन पांच शताब्दियों में सारी भारतीय जनता इन लोगों के चक्कर में पड़कर कामव्यसनी, शराबी और मूढ़ विश्वासी बन गई थी। वज्रयान की साधना में मंत्र का प्राधान्य रहता है। इसी कारण कभी-कभी वज्रयान को मंत्रयान भी कहते हैं। वज्रयानियों ने महायान की शून्यता तथा करुणा को क्रमशः प्रज्ञा और उपाय का नाम दिया, जिनके मिलन से 'युगनद्ध' की स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्येक साधना का लक्ष्य यही 'युगनद्ध' ठहराया गया। प्रज्ञा निष्क्रिय ज्ञान मात्र है, वह स्त्री रूपा है। उपाय एक सक्रिय तत्त्व है, वह पुरुषवत् है। दोनों का अन्तिम मिलन शक्ति तथा शिव के मिलन के समान परम आवश्यक है। इन दोनों के पारस्परिक मिलन की ही अन्तिम दशा 'समरस' या 'महासुख' के नाम से जानी जाती है। हम यों कह सकते हैं कि शून्य से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। इस शून्य का बोध ही प्रज्ञा है। इसकी प्राप्ति बोधि है, अर्थात् यदि प्रज्ञा अथवा शून्यता नारी तत्त्व, जिससे सब उत्पन्न होता है और जिसमें सब कुछ समा जाता है, जब दया और प्रेम के पुरुष सिद्धान्त से मिल जाता है, तब बुद्ध प्रज्ञा के साथ एकाकार हो जाता है। जैसा कि पति-पत्नी आलिंगन में। यही स्थिति 'महासुख' है।

बौद्धिसत्व और करुणा के पुरुष-नारी संयोग को चार मुद्राओं में विभक्त किया गया है, शरीर और आचरण संबंधी कर्ममुद्रा, भावना और आवेग संबंधी ज्ञानमुद्रा, अमूर्त और सार्वभौम महामुद्रा तथा परात्पर अथवा निरपेक्ष समय

---

1. संस्कृति के चार अध्याय

या फलमुद्रा । आद्य नारी अथवा मानव प्रकृति में निहित अदम्य नारीत्व भावना ही मुद्रा है क्योंकि वह विशुद्ध चेतना या शून्य की सच्ची मुद्रा है । मुद्रा का अर्थ सुख भी है (मुदम् तथा रतिम्) जो संबंध और अनुभूति के प्रत्येक स्तर पर पैदा होता रहता है जब तक शून्यता तक नहीं पहुंच जाते । ज्ञानी लोगों के लिए वह महासुख एकरूपा, प्रज्ञा और शून्यता तीनों है । अदयवज्र ने अपनी सेकोदेष्टिका में लिखा है कि मुद्रा शरद् ऋतु के मध्याह्न के निर्मल आकाश की तरह चमकती है । वह सभी सफलताओं की सहायिका है । वह संसार और निर्वाण का तादात्म्य है ।

मुद्रा की यह तात्विक व्याख्या है । व्यवहार में वज्रयानियों ने अपनी साधना को एक विशेष रूप दे डाला था, जिसे ठीक ही हेय समझा जाता है । इसके अनुसार साधक के लिए एक महामुद्रा के सम्पर्क में भी रहना परमावश्यक समझा जाने लगा । अखाड़ों में साधु लोग चेलियां रखने लगे । वज्रयानअनुयायी साधक नीच जाति की किसी सुन्दर स्त्री को अपने लिए चुन लिया करता था और अपने गुरु के निकट जाकर उसके आदेशानुसार उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था । तब से उसकी प्रत्येक साधना उस महामुद्रा के सहवास में रहकर ही चला करती थी और दोनों की मनोवृत्तियों में पूरी साम्यावस्था लाने के यत्न भी होते रहते थे । तदनुसार कामोपभोग से सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती । वज्रयानियों ने यह कहना आरंभ कर दिया था कि "स्त्रीन्द्रिय वास्तव में पद्मस्वरूप है और पुंसेन्द्रिय उसी प्रकार वज्र का प्रतीक है ।" प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि में कहा गया है कि साधक को सभी स्त्रियों का भोग करना चाहिए, ताकि महामुद्रा का अनुभव हो सके । लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि हर एक वज्रयानी साधक व्यभिचारी नहीं था ।

जैसा हम कह चुके हैं, वज्रयान के सफल साधक सिद्ध कहलाते थे, जिनमें चौरासी सिद्ध अधिक प्रसिद्ध हैं । इनमें से कुछ ऐसे भी थे जिन्हें इस साधना के वास्तविक रहस्य से परिचय था । इस सच्चे स्वरूप का नाम वे 'सहज' बतलाते थे । और उसके द्वारा 'सहज सिद्धि' प्राप्त करना संभव समझते थे । उनका कहना था कि 'हमारी साधना ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो सके, क्योंकि चित्त रत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि का होना किसी प्रकार भी संभव नहीं । बौद्धों की साधना अपने मूल पर्वतक के समय सदाचरण की साधना से शुरू हुई थी, किन्तु उसमें समयानुसार भक्ति, ज्ञान और तन्त्रोपचार की पद्धतियों का क्रमशः प्रवेश होता गया । अर्थात् हीनयान से महायान, महायान से मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान और वज्रयान से सहजयान । इस प्रक्रिया से बौद्ध धर्म परिवर्तित होता रहा ।

हिमाचल प्रदेश में ये सभी परिवर्तन देखे गए । आठवीं शताब्दी में जब

कोरियाई यात्री हयीचो जालन्धर-त्रिगर्त आया, तब तक इस क्षेत्र में महायान और हीनयान, दोनों फलफूल रहे थे और उनके अनुयायियों के अनेक विहार थे। लेकिन देश के दूसरे भागों की तरह यहां भी इस धर्म का स्वरूप विकृत होना आरंभ हो गया था और कालान्तर में उसका वज्रयानी स्वरूप नाथों, कापालिकों, तांत्रिकों और वाममार्गियों की सम्पत्ति बन गया। नवीं-दसवीं शताब्दियों में हिमालय की तराई का पूर्व से लेकर पश्चिम तक का सारा भूभाग तांत्रिक मत का क्रीड़ास्थल रहा। हिन्दू और बौद्ध तांत्रिकों का सारे क्षेत्र में जाल-सा फैल गया। तन्त्रराज में लिखा है कि गौड़, केरल और काश्मीर तब शाक्तों के गढ़ थे। हिमाचल में प्राय: सभी चंडी, दुर्गा, भगवती, वज्रेश्वरी, भीमाकाली, उखादेवी, चंडिका आदि के मंदिर इन तांत्रिकों की साधना के अड्डे बन गए। पालमपुर के चौमुंडा देवी के मंदिर में शव साधना होती रही। कुछ ही वर्ष हुए जब वहां के प्रसिद्ध तांत्रिक कामशंकर का देहान्त हुआ। ज्वालामुखी के ऊपर नागार्जुन का साधना आश्रम रहा है। हरिपुर गुलेर भी कभी तन्त्राचार के गढ़ थे। निरमंड में गाखू पंडित प्रसिद्ध कर्मकांडी तांत्रिक रहा, जिसके प्रति यह किम्वदंती है कि वह रात्रि में साधनारत होकर व्याघ्ररूप धारण किया करता था। देव मंदिरों में मदिरा, मांस आम हो गया। बलि प्राय: नित्य नियम में शामिल हो गई। राजा लोग जहां राज-रक्षा के लिए थोड़ी-बहुत सेना रखते थे, वहां किसी तांत्रिक या सिद्धाचार्य तथा उसके सैकड़ों अनुयायियों की पलटन भी रखा करते थे। युद्ध तक इन सिद्धों, गोसाइयों की सलाह से होते थे।

आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के पांच सौ वर्षों में धर्म के क्षेत्र में एक अजीब तरह की घुटन और मूढ़ विश्वासता व्याप्त थी। वाममार्गी साधु, कापालिक और वज्रयानी सिद्ध, ये समाज में पूजित भी होते थे, और गृहस्थ उनसे डरते भी थे, क्योंकि लोगों ने देखा कि कई साधु गृहस्थ की बहू-बेटियों को मंत्र से मोह कर या जबरदस्ती बल से चुरा कर ले जाते और उन्हें अपनी मुद्रा बना कर उनका जीवन बरबाद कर देते थे। सारा प्रदेश एक तरह से घूमते साधुओं, संन्यासियों, जोगियों, नाथों और सिद्धों से भर गया।

नाथ

हर अन्धकार में प्रकाश-किरण भी होती है। जहां ये लोग समाज को दूषित कर रहे थे, वहां उनमें से ही कुछ धार्मिक जीवन में सुधार लाने का भीष्म प्रयत्न भी कर रहे थे। इसमें कुछ नाथों और सिद्धों ने बड़ा काम किया। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में नाथ सम्प्रदाय जनता में बड़ा प्रिय रहा। प्रदेश के जीवन पर इन नाथों ने बहुत गहरा प्रभाव डाला है। चम्बा नगर के संस्थापक राजा साहिलवर्मा का गुरु चरपतिनाथ या चरपटनाथ था। इसने जब भी मौका मिला

इन भोगी योगियों की भर्त्सना की। उसका एक बहुचर्चित कथन इस प्रकार है :

> मांगी भिक्षा भरि-भरि खांहि
> नाथ कहावैं मरि-मरि जांहि
> बाकर कूकर कींगुर हाथी
> बाली भोली तरुणी साथी
> दिन करि भिच्छा रात्यू भोग
> चरपट कहे बिगोवै जोग।"[1]

चरपटनाथ राजा के साथ उसके युद्धों में भी, साथ जाता और राज्य के अन्य महत्त्वपूर्ण काम भी उसकी सलाह से होते थे। उसी के सुझाव पर राजा ने अपनी राजधानी चम्बा बसाई, अपने नाथ गुरु के सम्मान में राजा ने 'चकली' नाम की मुद्रा चलाई। तांबे की इस मुद्रा पर फटा हुआ कान अंकित है। हचीसन[2] का कहना है कि 'चकली' चंबा की विशेष मुद्रा थी।

नाथों के सुप्रसिद्ध गुरु गोरखनाथ ने भी अपने अनुयायियों, कापालिकों, वज्रयानियों और वाममार्गियों की अनैतिकताओं के विरुद्ध आवाज उठाई। आरंभ में नाथ नौ थे और बौद्धों के चौरासी सिद्धों में उनकी गिनती की जाती थी। स्वयं गुरु गोरखनाथ को शिव का अवतार माना जाता है। साधुओं में प्रचलित एक आख्यान के मुताबिक शिव ने 12 पन्थ चलाए और गुरु गोरखनाथ ने भी 12 ही पन्थ चलाए। इन दोनों प्रकार के पन्थों में परस्पर तनाव बढ़ गया, जिसे देख गोरखनाथ ने छः शिव के तथा छः अपने पन्थ तोड़ डाले और शेष 12 पन्थों को प्रतिष्ठित किया। आज की बारहपंथी शाखा का चलन तब से ही हुआ। नाथपंथ के मूल प्रवर्तक आदिनाथ की दो शिष्य परम्पराएं मानी जाती हैं—एक मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) और गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) की तथा दूसरी जालन्धरनाथ और कृष्णपाद (कानिपा) की।

सिरमौर और क्योंथल में अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक राजदरबार के साथ योगियों का संबंध बताया जाता है। क्योंथल में एक हनुमानी गोसाईं का उल्लेख आता है जिसने राजा को यह आश्वासन दिया था कि वह उसके शत्रु की सेना के आगे सवा मन धूप जलाकर धुएं की एक दीवार खड़ी कर देगा। इस तरह के तांत्रिकों की सलाह का जो नतीजा होना था वही हुआ और राजा हार गया।

कुल्लू में कृष्ण दास पयहारी को वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए नाथों और सिद्धों से घोर संघर्ष करना पड़ा था। सिरमौर, बिलासपुर, कांगड़ा व चम्बा की तरह ही कुल्लू चिरकाल तक नाथों और सिद्धों का अड्डा

---

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य
2. हिस्ट्री ग्राफ पंजाब हिल स्टेट्स

रहा है। यह इस कारण संभव हुआ कि यहां पहले से ही नगर के स्थान पर महायानी बौद्धों का जोर था। महायान वज्रयान बन गया, जिसे अपने दल में ही समा लेने में इन नाथों और सिद्धों को आसानी रही। परम्परा यह मानती है कि सुलतानपुर का अखाड़ा बाजार मूलत: नाथ बैरागियों ने ही बनाया था। मंडी में 'डूगे नाड़े रा सिद्ध', हमीरपुर में बाबा देउट सिद्ध, जोगिन्दरनगर में बाबा बालकनाथ का स्थान, सुजानपुर के निकट बालकनाथ का मन्दिर और कांगड़ा में बालकनाथ का टीला, इन नाथों के केन्द्र रहे हैं। इनके अतिरिक्त प्रदेश में अन्य स्थानों पर सिद्धों और नाथों की मढ़ियां, उनके मन्दिर और राजा भरथरी तथा गोपीचन्द एवं रानी पिंगला और बिरमा के अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान, बिशु, विरशू, निरशू, करयाला आदि लोकनाट्यों में नाथों और सिद्धों के चमत्कारों का उल्लेख इनके व्यापक प्रभाव के प्रमाण हैं।

लोक गाथाओं में गुरु गोरखनाथ को सृष्टि का कर्ता तक माना जाता है जिसकी इच्छा से शिव उत्पन्न हुआ। शिमला और सिरमौर जिलों में लोकप्रिय लोकगाथा बरलाज का आरंभिक पद यों है :

पहला नांव नारायणा रा, जुणिये धरती पुआणी,
जल थल होई पिरथवीं देवी मनसा राखी जगाली,
माणू न होले क्वें रिखी एकेई नारायण राजा होला,
सिद्ध गुरु री झोली का ढाई दाणा शेरयो रा झाड़ा।

अर्थात् पहले नारायण का नाम लो जिसने धरती उपजाई, जलथल हुई पृथ्वी की रक्षा मनसा देवी ने की, तब न कोई मनुष्य था, न ऋषि, अकेला नारायण राजा था, तभी सिद्ध गुरु की झोली से अढ़ाई दाने सरसों के गिरे और सृष्टि का आरंभ हुआ। गद्दियों की शिव ऐंचली में भी कहा गया है कि जब कुछ भी नहीं था, न पृथ्वी थी, न चांद, न सूरज, न पवन, न पानी, तब केवल गुरु था। उसने धूप जलाया, धूनी रमाई और मनसा को उत्पन्न किया। दक्षिण देश से आए इस सिद्ध की एक 'अलख' से शिव उपस्थित हो गया।

नाथ जोगी सीप का कड़ा और कारुद्र (छोटी कृपाण) धारण करते हैं। उनका मन्त्र है "ओम् आहे महरा, गुरु परमा सिद्धिह।" पौष मास के दूसरे पखवाड़े में प्रदेश के कई भागों में आज भी रात्रि के पहले पहर ये जोगी द्वार-द्वार पर जाकर राजा गोपीचन्द और भरथरी के विरद गाते मिलते हैं।

वैष्णव मत

चमत्कार दिखाकर अपना प्रभाव जमाने का काम न केवल बौद्धों, शैवों, शाक्तों, नाथों और सिद्धों को करना पड़ा, वैष्णव साधुओं ने भी वही रीति अपनाई। डमटाल धाम (जो मुकेरियां से पठानकोट जाते हुए पठानकोट से पांच

किलोमीटर दूर है, और सांस्कृतिक रूप से हिमाचल का ही भाग है) की स्थापना की कथा भी इसी श्रेणी की है। कहते हैं यहां कभी बड़ा घना जंगल था। बाबा शामदास नामक महात्मा ने इसे एकान्त साधना के लिए चुना। एक बार इस महात्मा ने ग्वालों से दूध मांगा। ग्वालों ने विनोद में दूध न देने वाली एक गाय महात्मा के सम्मुख कर दी। महात्मा ने गाय की पीठ पर थपकी दी और उसने दूध देना शुरू कर दिया। इस चमत्कार का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने आकर फरियाद की कि यहां पानी का कष्ट है। बाबा शामदास ने भूमि में अपना चिमटा गाड़ा। वहां से ठंडे पानी की धारा निकल आई, जिससे एक तालाब बन गया। इस तालाब का नाम धर्मताल रखा गया, जो बिगड़कर धमताल और डमटाल बन गया। बाबा ने इस स्थान पर पांच मुख वाले हनुमान की एक मूर्ति बनवाई और मंदिर का भवन बनवाया। मंदिर के पास एक गुफा है जिसमें दो सुरंगें हैं। एक सुरंग प्रसिद्ध वैष्णव स्थान पंडोरी जाती है, दूसरी के संबंध में माना जाता है कि वह हरिद्वार जाती है। इस मार्ग से नारायण नाम का योगी हर रोज अपने गुरु की पूजा के लिए गंगाजल लाया करता था।

जिस प्रकार मलाणा के जमलू और ज्वालामुखी के मंदिरों के साथ अकबर की कथा जुड़ी है, उसी तरह उसके पुत्र जहांगीर की कथा डमटाल धाम से संबंधित है। इस स्थान को शिकार के लिए उपयुक्त जानकर जहांगीर यहां आया करता था। एक बार उसने बैरागी भगवान जी के चमत्कारों के विषय में सुना और उनसे मिलने गया। बैरागी मिलना नहीं चाहता था। वह चमत्कार द्वारा भूमि में से ही पंडोरी पहुंच गया। दूसरी बार जहांगीर की भेंट भगवान् जी के शिष्य नारायण से पंडोरी में हुई। नारायण तपस्या में लीन था, उसने जहांगीर की बात का उत्तर नहीं दिया। क्रुद्ध सम्राट् उसे लाहौर ले गया जहां उसे भीषण कालकूट जहर के सात प्याले पिलाए गए। इस जहर की सुगन्ध मात्र से हाथी मर सकता है, लेकिन नारायण का बाल भी बांका नहीं हुआ।

वैसे इस भूखंड में वैष्णव धर्म का प्रवेश ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में हो चुका था। गुप्त काल में इसके कई संकेत मिलते हैं। भ्रमौर में छठी शताब्दी में नरसिंह के मन्दिर की स्थापना हो चुकी थी। वहां के एक तत्कालीन राजा का नाम विष्णु वर्मा था। आठवीं शताब्दी में जब 'कीरों' ने भ्रमौर के प्राचीन राज्य को परास्त किया तो वहां का शासक वैष्णव आधार लिए लक्ष्मी वर्मन नाम का था। सूर्य और कार्तिकेय की पूजा बहुत पहले प्रचलित हो गई थी। दसवीं शताब्दी तक आते-आते सूर्य-पूजा सूर्य नारायण या लक्ष्मी नारायण की पूजा में परिवर्तित हो गई थी। विशुद्ध वैष्णव भक्ति के प्रसार में काश्मीर के ललितादित्य ने भी बहुत काम किया। त्रिगर्त पर जब उसका अधिकार हुआ, उसने देश के मैदानी भागों से विद्वान तथा दूसरे लोग यहां लाकर बसाए। अन्यत्र तब तक वैष्णव धर्म

काफी फैल चुका था इसलिए ललितादित्य जिन लोगों को यहां लाया, ज्यादातर वे वैष्णव धर्म का पालन करने वाले थे।

वैष्णव धर्म को भी शैव धर्म की तरह आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अवैदिक माना है।[1] उनका कहना है कि "जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था, उसने ही विष्णु के वक्षस्थल पर भी लात मारी थी। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ।" डा० सुनीति कुमार चैटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्य वाचक देवता विष्णु द्रविड़ों के एक आकाशदेव से मिल गए, जिसका रंग आकाश की तरह नीला या श्याम था। डा० भण्डारकर के अनुसार प्राचीनकाल में वैष्णव धर्म मुख्यत: तीन तत्त्वों के योग से उत्पन्न हुआ था। पहला तत्त्व विष्णुनाम, जिसका वेद में उल्लेख सूर्य के अर्थ में मिलता है, दूसरा तत्त्व नारायण धर्म का है जिसका विवरण महाभारत के शांति पर्व में नारायणी उपाख्यान में है और तीसरा तत्त्व वासुदेव मत का है। इन तीन तत्त्वों ने एक होकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया। उनकी राय में कृष्ण के ग्वाल रूप की कल्पना और राधा के साथ उनके प्रेम की कथा बाद में आयी और ये कथाएं शायद, आर्येतर जातियों में प्रचलित थीं।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने 'बदरीनाथ' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि बहुत प्राचीनकाल में नर और ऋषि नारायण बदरीनाथ में रहते थे। नारद उनकी सेवा करते थे। नारद ने यहीं पंचरात्र मार्ग चलाया था, जिसके आराध्य देव नारायण ऋषि थे। यही मार्ग विकसित होकर वैष्णव धर्म हुआ, जिसमें वासुदेव, संकर्षण, लक्ष्मी और नारायण, राम और सीता तथा कृष्ण और राधा की पूजा की जाती है। पुराणों में यह भी कथा आई है कि जब सहस्रकवच नामक दैत्य देवों को बहुत त्रास देने लगा तो उसका वध करने के लिए स्वयं विष्णु ने ही नारायण और नर के रूप में अवतार लिया। द्वापर युग में नारायण तो कृष्ण हुए और नर अर्जुन।

कृष्ण-पूजा

विद्वानों के एक वर्ग का कहना है कि द्वारकापुरी का कृष्ण-मन्दिर प्राचीनकाल में सूर्य-मन्दिर था। और जब सूर्य विष्णु बन गए और विष्णु कृष्ण, तो मंदिर भी कृष्ण के नाम के साथ जुड़ गया। संभवत: हिमाचल में निरथ का अत्यन्त प्राचीन मंदिर आरंभ से ही सूर्य का रहा हो और उसमें बूटधारी सूर्य-मूर्ति बहुत काल बाद शक कुषाण काल में स्थापित की गई हो। इस मंदिर में विष्णु की मूर्ति भी प्रांगण में रखी पड़ी है।

---

1. संस्कृति के चार अध्याय

कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं, और वे अवतार के रूप में पूजित भी बहुत दिनों से होते आ रहे हैं। उनका संबंध फसल और गाय से था। प्राचीन ग्रन्थों में उनके साथ जो प्रेम की कथाएं नहीं मिलतीं, उनसे यह साबित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नहीं, बल्कि देश और धर्म के बड़े नेता थे। अवश्य ही गोपाल लीला, रास और चीरहरण की कथाएं तथा उनका रसिक रूप बाद के भ्रान्त कवियों और आचार-च्युत भक्तों की कल्पनाएं हैं। दिनकर[1] के अनुसार इन लोगों ने कल्पनाओं को जबरदस्ती कृष्णचरित में ठूंस दिया।

प्राचीन भारतीय साहित्य और शिल्प में श्री कृष्ण की श्रृंगार लीलाओं का प्रमाण नहीं मिलता। हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] का कहना है कि कृष्ण अवतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वह यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंस के शत्रु हैं। दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपी-जन-वल्लभ हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है, पर, दूसरा रूप अपेक्षाकृत नया है। धीरे-धीरे यह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया। महाभारत सभापर्व में द्रौपदी ने चीरहरण के समय भगवान् को जिन नामों से पुकारा, उनमें "गोविन्द द्वारका वासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय" भी है। द्विवेदी जी आगे कहते हैं कि मूर्ति शिल्प में भी आरंभ में श्रृंगार लीलाओं का उतना प्राधान्य नहीं दीखता। कहा जाता है कि ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी से पहले की कोई भी मूर्ति या उत्कीर्ण भीतिचित्र कृष्ण चरित्र से संबंधित नहीं मिला है। शिल्प और साहित्य दोनों की गवाही से यही पता चलता है कि आरंभ में श्री कृष्ण की वीर-चर्चा ही प्रधान थी।

वैष्णवों के तीन प्रसिद्ध पुराण, हरिवंश, विष्णु पुराण और भागवत हैं, लेकिन इनमें से किसी में भी राधा नाम का उल्लेख नहीं है। भागवत में कथा आई है कि कृष्ण ने सभी गोपियों को छोड़ कर एक गोपी से अलग मुलाकात की। बाद में इसी गोपी को ही राधा बना डाला गया। विष्णु पुराण में गोपियों के प्रेम की चर्चा है। पर भागवत में यह कुछ विस्तार से है। रास-पंचाध्यायी भागवत का सार कहा जाता है। इस पुराण में राधा का नाम नहीं आता है। गाथासप्तशती, पंचतंत्र और ध्वन्यालोक में राधा का नाम आया है। पर, कृष्ण की सबसे प्यारी गोपी के रूप में उसका नाम भागवत के बाद के साहित्य में ज्यादा आया है।

हिमाचल में विष्णु का कृष्ण स्वरूप बारहवीं शताब्दी में लोकप्रिय हुआ और स्वयं कृष्ण का गोपाल वंशीधर माधवराये रूप 16वीं शताब्दी में उभर कर सामने आया। लोगों तक यह केवल 18वीं शताब्दी में ही पहुंच पाया। यद्यपि कांगड़ा में चितेरे राधिका वल्लभ नन्द गोपाल, मुरलीधर कृष्ण का चित्रण कुछ

1. संस्कृति के चार अध्याय
2. मध्य कालीन धर्म साधना

समय पूर्व से करने लग पड़े थे। कृष्णभक्त कवियों की रचनाएं साधु-वैरागियों के माध्यम से यहां पहले से आनी शुरू हो गई थीं। संस्कार संबंधी अनेक लोक गीतों में 'कान्हा' 'मुरारी' को वर की संज्ञा दी गई है। नन्द को जब मालूम हुआ, वसुदेव के घर पुत्र जन्मा है, तो उसने खुशी में सोनामढ़े सींग वाली गायों का दान किया। कई संस्कार गीतों में वह नन्द का पुत्र ही माना गया है "घर नन्द दे जरमया पूत, जायां गोरिया पलंग चढी" कहीं-कहीं कृष्ण की तुलना गुलाब के फूल से और राधा की चम्पा की कली से की गई है। कभी लोक गायिका स्वयं राधा का रूप धारण कर 'स्योंने या कन्हैया' को "दिले दी सुणां मैं, प्रेम दा पुआड़ा दिने राती गम खांओं मैं" को दिल की बात सुनाते हुए बताती है कि उसके प्रेम में वह रात-दिन व्याकुल रहती है। इसी प्रकार के गीतों में वह भगवान रूप है जो स्वर्गपुरी में रहता है, और जिसका ही नाम सत्य है, अन्यथा सारा संसार झूठा है।

प्रदेश के मध्यक्षेत्र का कृष्ण भगवान भी है, द्रौपदी की चीर बढ़ाता भी है, लेकिन शायद कहीं न कहीं उसके मन में कौरवों के प्रति सहानुभूति है, क्योंकि वे भी तो उसकी बहन 'नन्ती' की ही सन्तान हैं। शायद इसीलिए जब दुर्दिन कौरवों के घर की ओर जा रहा था, तो कृष्ण ने उसे सुझाव दिया कि वह पांडवों के घर चला जाए, क्योंकि वे आलसी व अभिमानी हैं।

रामभक्ति

लोकमानस में हिमाचल के लोगों ने सभी देवताओं, भगवानों और ईश्वरों को मानवीय धरातल पर ला रख दिया है। शिव परम भगवान है, सृजक है, पर ब्रह्म है, लेकिन मस्तमौला भी, जिसे खाने-पीने और नाचने के इलावा कोई काम ही नहीं। कृष्ण योगीराज है, तारनहार है, मुक्तिदाता है, लेकिन पक्षपाती है, नारी भेष बना कर राजकुमारियों के महल में घुस जाता है, चन्द्रा-राउड़ी, (चन्द्रावती) को धोखा देकर उसका सतीत्व हरण करता है। भगवान राम परम पावन है, मर्यादा पुरुषोत्तम है, उसके जन्म से सृष्टि के चर-अचर सभी खुश हैं, लेकिन वह स्वार्थी भी है, चौसर खेलने में समय व्यतीत करता है, पत्नी सीता को रात के अंधेरे में दूर पानी लाने भेजता है, और जब समय पड़ता है तो 'बगल की नारी' की भी रक्षा नहीं कर सकता और उस की 'राम की रेखा' खिंची की खिंची रह जाती है। एक लामण में उसे झूठा तक कहा गया है, जिसका वचन अविश्वसनीय है।

संस्कार गीतों में अलबत्ता राम के जन्म पर कौशल्या 'रत्न जवाहर भरी-थालियां' बांटती है, और जब अयोध्या वालों को उसके जन्म की सूचना मिलती है, तो 'चंहुक होइयां बधाइयां'। विवाह गीतों में वधू स्वयं सीता बन कर अपने पिता से वर मांगती है कि 'सस होवे कुशल्या, सोहरा हो वे दशरथ, पति होवे

महाराज और छोटा देवर होवे लक्ष्मण।' दूसरे गीत में सीता को 'अव्वल कुड़ी', बेजोड़ सुन्दरी कहा गया है जिसे 'विआणे नू जी करदा', ब्याहने की इच्छा है।

लक्ष्मी नारायण की पूजा तो पांचवीं-छठी शताब्दी में होने लग पड़ी थी, लेकिन रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत रघुनाथ अथवा रघुवीर की पूजा का प्रचलन सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में मुख्यत: हुआ।

वैष्णव धर्म के संबंध में एक विचित्र-सी स्थिति सामने आती है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो जब पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में देश के अन्य भागों में राम और कृष्ण भक्ति की लहर पूरे जोरों पर थी, हिमाचल प्रदेश में भी अधिकतर राजवंश वैष्णव मतावलम्बी हो गए थे। यदि पूर्ण रूप से नहीं, तो कम-से-कम उनका अपना मुख्य आराध्य देव विष्णु था। अत: स्वाभाविक था कि वे अपनी प्रजा में भी इस धर्म की ओर श्रद्धा पैदा करते। इसके इलावा राजदरबार में नाथों के बाद वैष्णव बैरागियों का प्रभाव बढ़ा। उन्होंने भी राजसत्ता और अपने चमत्कारों के बल से अपने मत को सशक्त करने के हर संभव प्रयास किए। आठवीं शताब्दी में ही राजाओं ने विशाल वैष्णव मंदिर बना दिए थे, मसरूर जैसी पाषाण शिलाखंड मालाओं में ठाकुरद्वारे बनवा लिए थे, लेकिन राजाओं से संरक्षित होने पर भी वैष्णव धर्म यहां पांव नहीं जमा सका। बल्कि कई बार वैष्णव मंदिरों में विष्णु की मूर्तियों तक को हटाकर उन्हें जमीन में गड़वा दिया गया। विष्णु एक ओर राजा का पूज्य देव बना रहा तो दूसरी ओर उसके पूजक समाज के दलित वर्ग में ही रह गए। सामान्य धरातल पर वैष्णवों और शाक्तों में विरोध रहा। इसका एक उदाहरण चिन्तपूर्णी और ज्वालाजी हैं। यद्यपि दोनों देवियां बहनें मानी जाती हैं, लेकिन वैष्णवी चिन्तपूर्णी का प्रसाद ज्वालामुखी नहीं ले जाया जा सकता। लोगों में विश्वास है कि ऐसा करने से अनिष्ट हो जाता है।

कुल्लू के राज परिवार ने 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैष्णव धर्म अपनाया, राज्य रघुनाथ के चरणों में समर्पित किया, स्वयं उसका 'छड़ी बरदार' बना। 'छड़ी बरदार' ने अपने 'स्वामी' रघुनाथ के प्रभुत्व को स्थापित करने का हर संभव उपाय किया। उसने नियम बनाया कि राज्य का प्रत्येक देवता रघुनाथ की अधीनता स्वीकार कर दुशैहरे के अवसर पर उसका अभिवादन करे। गिनती के लिए 360 से ऊपर देवी-देवता राजा का आदेश पालन करते, लेकिन वे सभी ग्राम या खूंद-परगना देवता ही होते थे। न तो कोई पौराणिक देवता शामिल हुआ और न ही हिडिम्बा और जमलू ही। अब स्थिति यह है कि किन्नौर, शिमला, कुल्लू और मंडी तथा सिरमौर और सोलन के कुछ भागों में विष्णु और नारायण मुख्यत: हरिजनों का देवता ही बन कर रह गए हैं, यों नाम उनका 'बड़ा देऊ' है। कहीं-कहीं यह 'बड़ा देऊ' भी महादेऊ ही बन जाता है और उसका गूर जिस

स्वगाथा का वर्णन करता है, उसका आधार शिव पुराण है ।

जान पड़ता है कि वैष्णव धर्म का सात्विक रूप हिमाचली मानव को अधिक आकृष्ट नहीं कर सका, कारण संभवतः यहां का इतिहास और भौगोलिक परि-स्थिति रही हो । यहां कठोर प्रकृति से प्रतिदिन का वास्ता है, संघर्ष का नाम ही जीवन है, ऐसी हालत में पुचकार तो जरूरी है, थोड़ा-सा डरावा भी अनिवार्य लगता है । हिमाचली मानव को शायद महसूस हुआ हो कि सात्विकता को ही सर्वस्व मान कर कहीं वह निष्प्राण न बन जाए । दूसरे आदिकाल से यह क्षेत्र युद्धप्रिय लोगों का रहा है । नागों से लेकर आज के डोगरों तक सैनिक वृत्ति में उनकी रुचि रही है, तीसरे, मांस यहां के भोजन का विशिष्ट अंग रहा है । वैष्णव मत में मांस-भक्षण पर प्रतिबन्ध इन लोगों के जीवन और परम्परा के प्रतिकूल पड़ा होगा ।

इस चित्र का एक और मजेदार पहलू है । प्रदेश की जनता का काफी बड़ा हिस्सा जैसा हमने देखा वैष्णव नहीं है । शादी-ब्याह के गीत औपचारिक हैं और उन संस्कार गीतों को गाने वाली स्त्रियों का भी एक खास वर्ग है । सामान्यः नारियां प्रायः इन गीतों को ज्यादा नहीं जानती हैं, लेकिन अभिवादन के लिए प्रयोग में आने वाले शब्द सारे प्रदेश में, किन्नौर से लेकर कांगड़ा तक 'राम-राम' हैं । जब भी दो व्यक्ति मिलते हैं, विशेष कर समान स्तर के, तो तुरन्त 'राम राम' कह एक-दूसरे का अभिवादन किया जाता है । दूर पार के किसी संबंधी या परिचित को सन्देशा देना हो तो पहले 'राम राम' से संदेश शुरू किया जाता है । ये ही शब्द बिछुड़ते हुए इस्तेमाल किए जाते हैं, 'अच्छा, मैं चला, राम-राम ।' यह प्रायः आम तरीका है विदा लेने का ।

हूण-गुर्जर

सातवीं शताब्दी में जातीय तौर पर एक नाम बराबर चर्चित होता रहा । यह नाम है गुर्जर । एक शती के उपरांत अर्थात् आठवीं शताब्दी के बाद इस शब्द का व्यवहार में आना बन्द हो जाता है । उससे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हूण नाम की एक अन्य जाति का जिकर आना शुरू हो जाता है । माना यह जाता है कि यह जाति मध्य एशिया से आई थी । भारत में इस जाति का पहला शासक तोर-मान था जो यमुना उपत्यका तक घुस आया था । उसका पुत्र मिहिरगुल था । मगध के गुप्त सम्राट् बालादित्य और मालवा के यशोधर्मन ने संयुक्त कार्यवाही कर मिहिरगुल को मुलतान के निकट निर्णायक हार दी । वह भाग कर काश्मीर चला गया । अन्यत्र हूणों का सैन्य तंत्र ढह गया । काश्मीर में मिहिरगुल ने अपनी शक्ति बढ़ाई । कुछ विद्वानों का कहना है कि उसने अपने राज्य से लगते हिमाचल के इलाकों पर भी अधिकार कर लिया था । चाहे यह ठीक हो या गलत, एक बात

निश्चित है कि हूणों का जातीय तौर पर हिमाचल में कोई महत्त्व नहीं है।

गुर्जरों का उल्लेख बाण के हर्ष चरित, वाराह मिहिर की वृहत्संहिता और भोच तथा नासिक के अभिलेखों में आता है। आठवीं शती में मन्दोर के प्रतिहारों के साथ इनका नाम प्रयुक्त हुआ है। वृहत्संहिता में इनकी गणना अभिसार, गन्धर्व, मल्ल, चिना, दर्द, बोप, कौनिन्द, काश्मीर, खश, कीर, किरात, तंगण और पशुपाल के संग हुई है। गूजरों के प्रसिद्ध राज्य ब्रोच, भिन-मल-जलोड और मंदोर के थे। एक विदेशी विद्वान मानता है कि चुराह, पांगी, कुल्लू और शिमला के लोग वास्तव में गुर्जर हैं। उसके अनुसार गुर्जर गुजरात से लेकर हिमाचल तक फैले हैं। गुजरात में मंगोल वंश के थे। उससे उत्तर में जयपुर और बीकानेर में अपेक्षाकृत गोरे रंग के गुर्जर थे। उनसे और उत्तर में, प्राचीन एक देश में अधिक गोरे और सुदर्शन गुर्जर थे। वर्तमान जाट और सिख उन गुर्जरों की ही सन्तान हैं। हिमाचल में बसने वाले गुर्जर छोटे कद के और गूढ़े रंग के थे। कुल्लू, चुराह, पांगी के लोग एक अन्य जाति के लगते हैं जिनका सम्बंध तोखारियों से जान पड़ता है। इन लेखकों के अनुसार गुर्जर जाति में सीमान्तक भारतीय, ईरानी-शक, मंगोल और संभवतः कुछ यूरोपीय वंश के लोग हैं। एक-दो इतिहासकार गुर्जरों को शकों का वंशज मानते हैं। भारतीय विद्वानों की बड़ी संख्या यह मानती है कि गुर्जर आर्य ही थे।

पहाड़ी भाषा

ऐसे भी विद्वान हैं जो कहते हैं कि गुर्जरों का प्राचीन नाम गूजर है और इनका आरंभिक निवास-स्थान पंचनद प्रदेश (पंजाब) है। पाकिस्तान का गूजरांवाला उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। वे समझते हैं कि जब विदेशी आक्रमणकारियों ने उन्हें पंजाब से खदेड़ दिया, तब उनमें से कुछ उत्तरी राजस्थान में जाकर टिके, और कुछ हिमाचल के चम्बा जैसे भीतरी भागों में आ गए। डा० भंडारकर के अनुसार इन गूजरों की अपनी बोली रही है। इसे प्राचीन ग्रंथों में गौर्ज्जरी कहा गया है। इस बोली ने अपभ्रंश भाषा को बहुत प्रभावित किया। उनके कथनानुसार मेवाड़ी, मेवाती, धुन्धरी, गूजरी और पश्चिमी पहाड़ी में पारस्परिक निकटता का यही कारण है। डा० ग्रियर्सन भी गूजरों के कारण राजस्थानी और पश्चिमी पहाड़ी में समानता देखते हैं।

इन निष्कर्षों में सबसे बड़ी त्रुटि तो यह है कि गूजर सारे हिमाचल में तो छाए नहीं, कुछ परिवार आए होंगे, सैकड़ों नहीं हजारों ही सही, तब भी तो वे भाषा को इतना अधिक नहीं प्रभावित कर सके कि न केवल प्रदेश में ही उसका स्वरूप एकदम बदल जाए, बल्कि गुजरात और राजस्थान तक में उसका ही बोलबाला हो। उपलब्ध साक्ष्यों से यह नहीं लगता कि सातवीं शताब्दी में दक्षिण से

नए जातीय तत्वों का प्रदेश में इतना अधिक आगमन हुआ कि उन्होंने प्रदेश के लोगों की भाषा तक बदल डाली। गुर्जर तो यहां के शासक भी नहीं हुए, तो फिर क्योंकर उनका प्रभाव इतना व्यापक और गहरा पड़ा? दूसरी बात यह कि यदि भाषा में साम्यता गुर्जरों के ही कारण हो, तो क्या वजह है कि गुजरात, राजस्थान और हिमाचल के गूजर तो एक ही बोली बोलते हैं, लेकिन पंजाब और हरियाणा के गूजर-मूलक जाट दूसरी?

इसलिए भाषा के संबंध में तो गूजर के मूल को हमें भूल जाना होगा। उसका कारण दूसरा है, जिसकी चर्चा हम सरस्वती सिन्धु आगमन के सन्दर्भ में कर चुके हैं कि किस प्रकार इस समूचे क्षेत्र के ही लोग यहां आए, और तब से किसी न किसी रूप में संस्कृति के अन्य तत्वों के साथ भाषा बोली को भी बचाए रखे हैं। शिमला, चम्बा, कुल्लू आदि के अधिकांश लोगों को गूर्जर मानना स्पष्टतया अतिशयोक्तिपूर्ण है, जिसका न तो कोई ऐतिहासिक आधार है और न ही सांस्कृतिक। हां, इसमें सन्देह नहीं कि हिमाचल के जाति-तत्त्वों में गूजरों का योगदान अवश्य है।

भोटीकरण

गूजरों से भी ज्यादा एक अन्य तत्त्व है जिसने इस प्रदेश के उत्तरी सीमान्त भागों में बड़ा व्यापक परिवर्तन लाया। यह परिवर्तन तिब्बती भोटों के कारण आया, जिन्होंने इतिहास में पहली बार अपने साम्राज्य प्रसार के अभियान में इस क्षेत्र पर आक्रमण किया और इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। यह घटना सन् 647 में हर्ष की मृत्यु के बाद की है। उन दिनों स्रोंगस्तनसगम्पो ने मध्य एशिया पर प्रभुत्व पाने के संघर्ष में चारों ओर आक्रमण किए। तिब्बत की शक्ति को उसने इतना सुदृढ़ किया कि आगामी दो सौ वर्षों में वे ही इस भूभाग में प्रधान रहे। तिब्बत से भोट सैनिक एवं अन्य लोग हिमाचल के स्पिति, लाहुल और किन्नौर तथा काश्मीर के लद्दाख में आए। स्थानीय लोगों से मिश्रित होकर उन्होंने एक नये सीमान्तक हिमाचली को जन्म दिया जिसकी रगों में भोट रक्त का आधिक्य हो गया और जिसकी संस्कृति ने प्रदेश के अन्य भागों से हटकर नया जामा पहना। भोटों ने स्पिति, किन्नौर और लाहुल में एक प्रकार का जातीय व सांस्कृतिक कायाकल्प करा दिया।

तिब्बत के उत्कर्ष के इन दिनों में भारत से बौद्ध आचार्य तिब्बत गए और वहां पर बुद्ध धर्म की नींव रखी। दूसरी ओर तिब्बत से बौद्ध भिक्षु एवं बौद्ध गुरु किन्नौर, स्पिति तथा लाहुल आए और यहां बौद्ध मत का प्रचलन शुरू किया। इस तरह से बौद्ध धर्म जब प्रदेश के अन्य भागों में मन्त्रयान, तन्त्रयान और वज्र-यान की ऊहापोह में फंसकर नाथ, सिद्ध, जोगी, वैरागियों के चक्कर में उलझकर

समाप्त हुआ जा रहा था, तब इस सीमान्त इलाके में वह तिब्बत की ओर से प्रविष्ट हुआ और आज तक चला आ रहा है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म की स्थापना का श्रेय सम्राट स्रोणस्तनसगम्पो को ही जाता है। तिब्बत में सबसे पहला विहार आठवीं शताब्दी में आचार्य शांतरक्षित की देखरेख में स्थापित हुआ और किन्नौर में कानम, रिब्बा और पूह के विहार तिब्बत के आचार्य रत्नभद्र द्वारा। बौद्ध धर्म के कतिपय अन्वेषकों का कहना है कि आठवीं शताब्दी में तिब्बत में निग्-मा-पा पन्थियों का प्राधान्य था। ये लोग जादू-टोनों में विश्वास रखते थे। आचार्य शान्तरक्षित जब तिब्बत पहुंचे, दुर्भाग्य-वश वहां आंधी, तूफान और महामारी जैसी प्राकृतिक व्याधियों का प्रकोप हो गया। निग्-मा-पाओं ने इस स्थिति का लाभ उठा यह प्रचार किया कि शान्त-रक्षित और उसके धर्म पर स्वयं देवता क्रुद्ध हैं और ये व्याधियां उनके प्रकोप का परिणाम हैं। इन सबकी जिम्मेदारी शान्तरक्षित पर है और जब तक वह तिब्बत में रहेगा, देश की हानि ही होगी। उन्होंने शान्तरक्षित को तिब्बत से निष्कासित करने का जोरदार अभियान प्रारंभ कर दिया।

पद्मसंभव

सम्राट् ख्री-स्रोङ्-लुद-त्स्तन और आचार्य शान्तरक्षित परस्पर विचार-विमर्श के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जादू-टोने, मन्त्र, तन्त्र में विश्वास रखने वाली प्रजा केवल तांत्रिक विद्या के चमत्कार से ही प्रभावित हो सकेगी, अतः यह उचित होगा कि भारत के किसी प्रमुख तांत्रिक को आमंत्रित किया जाए। तदनु-रूप तंत्रयान के प्रबल समर्थक, उत्तर पथ के महान् तांत्रिक आचार्य पद्मसंभव को बुलाने का निर्णय किया गया। कतिपय विद्वान पद्मसंभव की जन्मभूमि पाकिस्तान में स्वात नदी की घाटी मानते हैं। किन्तु कुछ भारतीय अन्वेषकों का यह कहना है कि पद्मसंभव रिवालसर का निवासी था। इस अनुमान की पुष्टि तिब्बती एवं लाहुल-स्पिति-किन्नौर के बौद्धों की रिवालसर के प्रति अटूट श्रद्धा से भी होती है। उनका विश्वास है कि रिवालसर के चलने वाले टीलों में पद्मसंभव एवं उसकी शिष्या तारा की आत्माएं निवास करती हैं।

एक लोक गाथा है कि जहोर (मंडी) के राजा अर्शधर की राजकुमारी मन्दर्व ने संघ में प्रविष्ट होने का निर्णय किया। उसने शान्तरक्षित, जिसे पद्मसंभव का भाई कहा जाता है, से निवेदन किया और उसके सामने धर्म संघ प्रवेश किया। इस अवसर पर पद्मसंभव स्वयं उद्यन से उड़कर वहां आया और राजकुमारी को दीक्षित किया। उसे दीक्षा तथा उपदेश देते किसी ग्वाले ने देख लिया। उसने सारे देश में यह अफवाह फैला दी कि राजकुमारी किसी प्रेमी के साथ समय बिताती है। यह सुन राजा क्रुद्ध हुआ कि राजकुमारी ने किसी पुरुष का संग कर

संघ का नियम तोड़ा है। उसने आज्ञा दी कि राजकुमारी को कांटों के गड्ढे में बिठाया जाए। पद्मसंभव को जंगल में ले जाकर लकड़ी की चिता में जला दिया गया, लेकिन जब एक सप्ताह तक भी उस चिता से धुआं समाप्त नहीं हुआ, तो राजा स्वयं स्थिति की जांच करने आया। उसने देखा कि चिता की जगह एक सुन्दर झील बनी है जिसके बीच एक कमल है। यह चमत्कार देख राजा लज्जित हुआ और पश्चात्ताप करने लगा। उसने बेटी का विवाह पद्मसंभव से कर दिया। रिवालसर गोम्पा में पद्मसंभव की ही मूर्ति है। स्पिति के नाको गोम्पा में एक शिला है, जिस पर पद्मसंभव के पदचिह्न हैं। कहा जाता है कि आचार्य काश्मीर से तिब्बत रिवालसर और लाहुल होकर जाते थे। लाहुल में बौद्धधर्म का सूत्रपात पद्मसंभव ने ही किया था।

किन्नौर, स्पिति और लाहुल में गोलुकपा, डुग्पा, निग्मपा और सस्यापा सम्प्रदायों का प्रभाव है, परन्तु किन्नौर में मठ अधिकांशतः गोलुकपा सम्प्रदाय के ही हैं। स्पिति ही एक ऐसा क्षेत्र है जहां भगवान विष्णु के दस अवतारों में से सिर्फ अकेले बुद्ध अवतार की पूजा-अर्चना होती है। ताबो के प्रसिद्ध विहार के आठ मन्दिरों में से केन्द्रीय मंदिर में बैरोपन व अमिताभ सहित वज्रधातु मंडल की मानवाकार मूर्तियां हैं, यद्यपि दीवार पर मुरली मनोहर की एक प्रतिमा भी बनी है।

गोम्पा नियन्त्रित स्पिति जीवन

स्पिति का जीवन एक प्रकार से गोम्पा द्वारा नियंत्रित व संचालित है और संघ के साथ पूरी तरह गुंफित है।[1] जन्म और मृत्यु से उसका संबंध है। परिवार में मृत्यु पर गोम्पा को पैसे, बर्तन, वस्त्र, भोजन आदि सामग्री दी जाती है। जब फसल पककर तैयार होती है तो सर्वप्रथम भिक्षु को दान दिया जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि किसी कारण यहां के जीवन का गोम्पा के साथ का निकट संबंध टूट जाए, तो सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाएगी। अगर मठ न रहे, तो सबसे बड़े पुत्र को छोड़ अन्य पुत्र कहां जाएं? ज्येष्ठतम पुत्र को तो बाप की जायदाद मिल जाती है, किन्तु अन्य बेटों का तो मठ को छोड़ दूसरा कोई सहारा है ही नहीं। यदि उन्हें भी बाप-दादा की जायदाद का हिस्सेदार बना लिया जाए, तो बटवारे के कारण सारी अर्थ-व्यवस्था खंडित हो जाएगी।

कहा जा सकता है कि 'ओम मणि पद्मे हुम' यहां के जीवन का मूल मंत्र है। इसी के द्वारा यहां का जीवन चलता है। यह मन्त्र भौतिक दुखों से मुक्ति

---

1. हिमालयन सरकट। जी. डी. खोसला।

देता है, पाप ग्रहों का शमन करता है और राक्षसों से रक्षा करता है। यही नहीं, निर्वाण-प्राप्ति में भी यह मन्त्र सहायक होता है। परलोक में जाकर भी यह काम आता है। यही कारण है कि लाहुल स्पिति की दीवारों, भीतियों और चट्टानों पर 'ओम मणि पद्मे हुम' ही लिखा हुआ मिलेगा।

किन्नौरी लामा प्रायः धर्म शिक्षित और अनुशासन प्रिय है। लामा बनने वाले बालक के लिए सात या दस साल की उम्र में दीक्षित होना आवश्यक है। यह दीक्षा कानम, शूनम या किसी अन्य विहार में ली जा सकती है। आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने पर लामा गेलुपा (गेलङ) कहलाते हैं और उच्चतम श्रेणी के माने जाते हैं। टशू लामा, लुग्बू लामा और ल्हासू लामा इसी श्रेणी के हैं। वे पीत परि-धान पहनते हैं। डुगपा लामा ब्याह कर लेते हैं और दूसरी श्रेणी के माने जाते हैं। वे लाल रंग के वस्त्र धारण करते हैं। नीगंमी लामा की गिनती तीसरे दर्जे में होती है। ये प्रायः नंगे सिर रहते हैं। कानम और लबरंग के लामा-गेलंङ कहलाते हैं। वे श्वेत रंग का पाजामा और पीला चोला पहने दीखते हैं। किन्नौर तथा अन्य उत्तरी सीमावर्ती क्षेत्रों में 'जोमो' की संस्था का बहुत महत्त्व है। गृहस्थ की कोई लड़की संघ में प्रविष्ट होती है, और सम्पूर्ण जीवन समाज-सेवा, विशेष कर स्त्रीवर्ग की सेवा में बिताती है। वह विवाह नहीं करती, उसकी दिनचर्या स्वाध्याय और धर्मप्रचार ही है। इन जोमो भिक्षुणियों के लिए कानम और शूनम में बड़े-बड़े विहार हैं। लगभग हर गांव में कोई-न-कोई जोमो होती है। समाज में उसका समुचित आदर है।[1]

ऊपरी किन्नौर, स्पिति तथा 'मुख्य चन्द्र भगा की वादी को छोड़ लाहुल के दूसरे भागों में गोम्पाओं का जाल-सा बिछा है। स्पिति के मुख्य गोम्पा की, ताबो, पिन, नाको थंगयुर और डन्खर में है। किन्नौर में जांगी, कानम, चीनी रंगरिक्षो, टशी गोंग, लबरंग, सुनम, श्यालकर, लिपा और थांगी में। लाहुल के कार्दिग गोम्पा में डेढ़ सौ के करीब लामा रहते हैं। यहां का दूसरा विख्यात गोम्पा गुरु घंटाल का है। गुरु घंटाल वस्तुतः पहले शिव मन्दिर था। शंशुर और बोकर के दो अन्य गोम्पों को भी यहां काफी मान्यता प्राप्त है।

सीमान्त के इस क्षेत्र में आज भी वह स्थिति मिलती है जो कभी सारे प्रदेश में रही होगी, जब यहां बौद्ध और हिन्दू विहार और मठ, श्रमण और ब्राह्मण साथ-साथ थे। इन लोगों के जीवन का भोटीकरण अवश्य हुआ, लेकिन स्पिति और हंगरंग जैसी जगहों को छोड़ अन्यत्र दोनों धर्मों का खिचड़ी रूप सामने आता है। स्पिति में भी, जैसा हमने देखा, ताबो में मुरली मनोहर की भीति प्रतिमा है। यहां कृष्ण को लोचे रिम्पोछे कहा जाता है। उधर लाहुल में तांदी संगम के

1. हिमानियों के देश में। रामकृष्ण कौशल।

आसपास का क्षेत्र तो विशुद्ध गाहरी है । किन्नौर में दक्षिणी किन्नौर मोटे तौर पर हिन्दू है । कोठी अभी तक हिन्दू देवी-देवताओं और मंदिर के लिए प्रदेश भर में जाना जाता है । मूरंग, हंगरंग और शिपकी तक के लोग बद्रीनाथ, हरिद्वार, गंगा, ज्वालामुखी की यात्रा करते हैं ।

लाहुल-स्पिति व किन्नौर में वज्रयान एवं तिब्बती लामाबाद का ही प्रचलन है । उनकी धार्मिक पुस्तकें कँग्यूर और तँग्यूर हैं । ये, राहुल सांकृत्यायन[1] के अनुसार, 216 पोथिया हैं, 108 कँग्यूर की और 108 तँग्यूर की । कँग्यूर में बुद्ध के अपने वचन संगृहीत हैं । तँग्यूर में उनकी व्याख्या है ।

1. किन्नर प्रदेश

सातवां अध्याय

सांस्कृतिक आघात

मुसलमानों के कांगड़ा आक्रमण से बहुत पहले पाटलीपुत्र और उज्जैन के साम्राज्य लुप्त हो चुके थे। सामन्तों और महासामन्तों की प्रणाली समाप्त हो गई थी। देश छोटे-छोटे राज्यों में बंट चुका था और इनके राजाओं का समय आस-पड़ोस के राज्यों से लड़ाई-भिड़ाई में बीत जाता था।

हिमाचल प्रदेश में सैकड़ों की गिनती में ठकुराइयां बन गई थी। सच्चाई तो यह है कि यहां जितनी धारें, जितनी गाडें, जितने नदी-नाले और जितने समतल भूमि के टुकड़े थे, उतनी ठकुराइयां थीं। ठाकुर वस्तुतः ठाकुर-देवता बनने का अभिनय कर रहे थे। वे एक प्रकार से लोगों के जानो-माल के मालिक बन बैठे थे। सारे क्षेत्र में नाथों, सिद्धों, बाबाओं और गुरुओं की बन आई थी। इन लोगों ने अखाड़ों, मठों, मंदिरों पर तो अधिकार जमा रखा था, ये ठाकुरों के सलाहकार भी थे और इनकी सलाह प्रायः अपना प्रभाव, अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए ही होती थी। इनके कहने-सुनने और प्रेरणा से नये-नये देवी-देवता उत्पन्न हुए। काश्मीर से महासु आया और हरियाणा क्षेत्र से श्रीगुल। स्थानीय देवी-देवता भी एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर उत्पात मचाने लगे और अलग-अलग ठकुराइयों का इष्टदेवत्व प्राप्त करने लगे। बड़े-बड़े मन्दिर, विशेषकर देवी मन्दिर, वाममार्गियों की चक्रपूजा के ठिकाने बन गए, जहां देवी की पूजा से भी ज्यादा 'बीर' लोग अपनी 'साधना' के प्रति चिन्तित थे। कई जगह तो ये देवालय व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। मांस, मदिरा और मुद्रा का उपभोग खुल कर हो रहा था।

महमूद गजनवी का आक्रमण

शक्तिशाली त्रिगर्त का सिर्फ नाम रह गया था। उसका जालन्धर का मैदानी भाग खो गया था और पहाड़ी हिस्से में भी अनेक ठकुराइयां बन चुकी थीं। ऐसा लगता है कि सन् 1009 में जब गजनी का महमूद हमला करने आया, कांगड़ा का शासक कहीं मीलों तक नजर नहीं आया था। अजेय समझे जाने वाले दुर्ग और

सर्वशक्तिमती वज्रेश्वरी के मंदिर की सुरक्षा के लिए न तो कोई सेना थी और न सैनिक। विख्यात आयुध जीवी त्रिगर्त शायद मातृभूमि और देवता की रक्षा करना भूल गए थे। 'दुर्ग के रक्षक वज्रेश्वरी मंदिर के अधिकारी, पुजारी और नौकर थे।'[1] उन्होंने किस लग्न, तत्परता और बहादुरी से दुर्ग और मंदिर की रक्षा की, यह परिणाम से जाहिर है। महमूद के सैनिकों की आमद के तीन दिनों के अन्दर दुर्ग के द्वार खोल दिए गए और आक्रमणकारियों को प्रविष्ट होने दिया गया। रक्षक गजनी के सैनिकों की बाणवर्षा और दुर्ग के इर्द-गिर्द के इलाके में आग लगाने और मारकाट करने से इतने घबराये कि उन्होंने मुकाबला ही नहीं किया। वे भगवती और देवी जयन्ती के चमत्कार की ही प्रतीक्षा करते रहे और जब सब कुछ लुट गया, तो यह प्रवाद शुरू कर दिया कि जालिमों के आने से पहले ही त्रिकालद्रष्टा भगवती दूर पूर्व में निरमंड चली गई थी, जहां अम्बिका से तदाकार हो उसी गौरव से स्थापित हो गई।

गजनवी के इस हमले के जितने भी ब्योरे उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी कांगड़ा के राजा का जिकर नहीं है। महमूद ने सन् 1000 से भारत पर अपने आक्रमण आरंभ कर दिए थे। सन् 1008 में जब पंजाब के शासक आनन्दपाल के नेतृत्व में देश के राजाओं ने महमूद को सीमा पर ही रोकना चाहा, उनमें कांगड़ा का नाम नहीं है। आनन्दपाल की राजधानी भटिंडा थी। उसकी सहायता उज्जैन, ग्वालियर, कलन्जर, कन्नौज और संभवतः दिल्ली और अजमेर के राजाओं ने की थी।[2] जब यह सेना आनन्दपाल के सेनापतित्व में पेशावर की ओर बढ़ी, महमूद उससे औहिन्द के निकट जा भिड़ा। इस युद्ध में भारतीय सेना हार गई और उसकी अपार क्षति हुई। ओहिन्द की जीत के तुरन्त बाद ही महमूद नगरकोट आया था और इसे विध्वंस कर गया था। इसके बाद भी हार का बदला लेने और कांगड़ा दुर्ग एवं मंदिर को पुनः प्राप्त करने के जो प्रयत्न हुए, उन में भी त्रिगर्त राजा का कोई उल्लेख नहीं। दिल्ली के तोमार राजा महिपाल ने परमार भोज, कलचूरी कर्ण और अनहिल्ल के चाहमाणों का ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक संघ बनाया था और हांसी, थानेसार होते हुए वह नगरकोट पहुंचा और नगर का घेराव किया। सन् 1043 में चार महीनों के घेराव के पश्चात् वह दुर्ग में बैठे महमूद के पोते मौदूद से हथियार डलवाने में कामयाब हुआ था।[3] कटोच्च वंशावली के अनुसार उस समय सूर्यचन्द्र राजा था। वंशावली में 1028-1031 तक उसके पिता इन्दूचन्द्र का नाम आता है। ओहिन्द के युद्ध

---

1. हिस्ट्री आफ हिमाचल प्रदेश
2. वही
3. वही

के दिनों केहरीचन्द्र या भागवतचन्द्र कांगड़ा नरेश रहे होंगे।[1] लेकिन इन नामों के राजाओं का कोई जिकर नहीं है। विचित्र बात यह है कि वंशावली से यह मालूम नहीं होता कि नगरकोट पर कभी महमूद गजनवी ने हमला भी किया था और जगत्विख्यात मंदिर का विध्वंस किया था। स्थानीय गाथाओं में भी ऐसा कोई चरित एवं विवरण नहीं मिलता, जिससे यह मालूम हो कि दुर्ग और मंदिर की रक्षा के लिए स्थानीय राजा या लोगों ने कोई कारगर कदम उठाया हो।

महमूद गजनवी ने दुर्ग के खजाने को लूटा। उसके हाथों बेशुमार धन-दौलत लगी। उसके इतिहासकार का कहना है कि जब वह गजनी लौटा तो असंख्य ऊंट माल से लदे कारवां में थे। लगभग 400 मन सोना-चांदी, 70,000 शाही दिरहम, चांदी का 30 गज लम्बा और 15 गज चौड़ा मकान, सोने और चांदी के स्तंभों वाली 40 गज लम्बी 20 गज चौड़ी छोलदारी तथा अनमोल रत्न, वस्त्राभूषण वह लूट कर ले गया। इतना ही नहीं, मंदिर की मूतियों को उसने तोड़-फोड़ दिया। वहां से सभी मूल्यवान वस्तुएं उठा लीं और स्वयं भगवती की मूर्ति को तोड़कर अपने साथ बंधवा कर ले गया।

यह ऐसी अनहोनी घटना थी जिसने प्रदेश के जनमानस को ऐसा पीड़ित किया कि हजार वर्ष बीत जाने पर भी उसकी याद कर वह सिहर उठता है। कांगड़ा का मंदिर और दुर्ग दोनों धर्म के और राज के प्रतीक थे। उससे पहले कई जातियां, कई राज, कई सम्राट आए लेकिन किसी ने कभी मंदिर को नष्ट नहीं किया, यह पहला मौका था जब मूर्ति को तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया गया, और वह भी उस मूर्ति को, जिसे जनता माँ मानती थी, जगत्धात्री समझती थी, जो परम देवी थी, भगवान शिव की अर्धांगिनी थी। यह कल्पना भी नहीं की थी कि कभी कोई व्यक्ति इस प्रकार का अधर्म करेगा। यह आघात अत्यन्त तीव्र, था और प्रदेश के सांस्कृतिक चित्रपट पर काला स्याह धब्बा, जो धुलाए धुल नहीं पाया।

महमूद से पूर्व आक्रमण हुए, कांगड़ा दुर्ग को हस्तगत करने के कई प्रयत्न हुए,[2] लेकिन कभी मंदिर का अपमान नहीं हुआ था, उसकी पवित्रता को नष्ट नहीं किया था, उसकी मूर्तियों को खंडित नहीं किया गया था। न यूनानियों के समय, न बौद्धों ने, और न शकों, हूणों, गूजरों और कीरों ने। यह पहला मौका था जब शत्रु ने धर्म के नाम पर धर्मस्थान को भ्रष्ट किया था। जनता को आभास हुआ था कि उसका पाला ऐसे लोगों से पड़ रहा है जो यहां के धर्म से अपने को एकाकार करना नहीं चाहते, बल्कि जिनकी कोशिश थी, कि लोगों के मन में

---

1. गोपाल शर्मा शास्त्री हिमाचल प्रशस्ति, छठा भाग
2. किम्वदंति के अनुसार कांगड़ा दुर्ग पर 52 आक्रमण हुए।

इतना भय उत्पन्न किया जाए, उनके धर्म, देवी-देवताओं की इतनी दुर्गति की जाए कि वे बेसहारा महसूस कर अपना धर्म छोड़ दें।

नगरकोट के मंदिर और दुर्ग के इस प्रकार के शत्रु के कब्जे में चले जाने ने लोगों को मर्माहत किया और उनकी पीड़ा की सीमा न रही। वे देवता से वंचित हो गए, राजा के रक्षण से, दुर्ग की छाया से वे दूर पड़ गए। एक बार उन्हें अपना अस्तित्व ही निस्सार लगा और देवी-देवता, मूर्ति पर से विश्वास उठने लगा। शायद लोगों की इस मनोदशा को जान कर ही दिल्ली के तोमार नरेश महिपाल को यह बात फैलानी पड़ी कि भगवती ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर बतलाया है कि गजनी के महमूद से उसने बदला ले लिया है और अपना काम पूरा कर वह वापिस नगरकोट आ रही है, जहां पर आकर राजा उससे भेंट करे। महमूद की मृत्यु को देवी के प्रकोप का फल बताकर उसके असुरसंहारणी स्वरूप की घोषणा की गई और यह जाहिर किया गया कि विजयी दुर्गा पुन: अपनी शक्ति प्रमाणित कर गई। उधर रातों-रात चुपके से मंदिर की फुलवाड़ी में विनष्ट मूर्ति की नकल की दूसरी मूर्ति रखवा दी गई और प्रात: जब विजयी संघ की सेनाओं ने दुर्ग और मंदिर में प्रवेश किया तो महिपाल ने स्वप्न में दिखी देवी की मूर्ति लोगों को दिखाई। लोगों में खुशी की लहर दौड़ गई कि उनकी भगवती गजनी से लौट आई है। पूरे सम्मान, धूम-धाम, गाजे-बाजे के साथ मूर्ति को पुन: गर्भगृह में स्थापित किया गया। यह खबर देश-भर में फैल गई और कुछ ही वर्षों में देश के कोने-कोने से राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों, भक्तों, पूजकों ने इस कदर भेंट चढ़ाई कि जितना कुछ महमूद लूट कर ले गया था, उतना ही धन दोबारा मंदिर में जमा हो गया।

दूररस परिणाम

महमूद के हमले और दुर्ग पर अधिकार के दो दूररस परिणाम निकले। एक तो यह था कि हिमाचल में यह चेतना जगी कि यदि रक्षा करनी है तो ठकुराइयों से ही काम नहीं चलेगा। बड़ा राज्य होना परमावश्यक है। इसलिए हम देखते हैं कि जब मुहम्मद गौरी के विरुद्ध पृथ्वीराज चौहान ने तराई में युद्ध किया तो उसका सहायक त्रिगर्तराजा भी था। संभवत: इस बीच कटोच्चों ने अपनी शक्ति पुन: संगठित कर ली थी और आस-पड़ोस की ठकुराइयों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। दूसरा परिणाम यह था कि भारत के विभिन्न भागों से राजा और राजकुमार ज्यादा तादाद में आने-जाने शुरू हो गए। इस काम में उनके सहयोगी नाथ व सिद्ध तथा अन्य साधु-संन्यासी भी रहे, जो हिमाचल के मंदिरों, महलों में भी ठहरते थे तथा अन्यत्र देश के राजाओं के अतिथि भी हुआ करते थे। इस तरह एक स्थान का समाचार व स्थिति वे लोग दूसरी जगह बता देते थे।

राजनीतिक एवं धार्मिक वातावरण को अनुकूल साधु-संन्यासियों के साथ आने वाले महत्वाकांक्षी ब्राह्मण व राजपूत युवकों, राजकुमारों ने यहीं बसने की योजना बनाई। इस काम में उन्होंने स्थानीय देवी देवताओं की सहायता भी ली और उनकी छत्रछाया एवं आशीर्वाद से अपने पांव जमाने लगे। धीरे-धीरे एक-एक करके उन्होंने ठकुराइयों पर प्रभुत्व कायम किया और नए राज्यों की स्थापना की। सतलुज उपत्यका के कई राज्य इसी काल में स्थापित हुए, और जब तक मुहम्मद गौरी दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, चंदल, तोमर, चाहमाण, पंवार, सेन आदि राजपूत राजकुमारों ने जसवां, कहलूर-बिलासपुर, धमेरी-नूरपुर, धामी, बाघल, बघाट, क्योंथल और सुकेत जैसे राज्य स्थापित कर लिए थे। कोटी, भज्जी, कुम्हारसेन, खनेटी आदि का जन्म भी हो चुका था। इसी काल में चंबा भ्रमौर के क्षेत्र में गद्दियों का भी आगमन कहा जाता है। दूसरे राज्यों के संस्थापक गौरी की विजय और गुलाम वंश के शासकों द्वारा काशी एवं बंगाल को मुसलमानों के अधिकार में लाने के पश्चात्, भाग कर यहां आए थे। इतनी आसानी से ये बाहर से आने वाले मुट्ठी भर लोग सारे प्रदेश में अपने राज्य कायम कर पाए, यह आश्चर्य की बात है। इसकी वजह यह है कि यहां के लोगों ने उनका विरोध नहीं किया, और कहीं-कहीं तो खुले दिल से उनका स्वागत किया और उन्हें पांव जमाने में सहायता दी।

स्वयं इन राजकुमारों के भाग आने और देश के मैदानी क्षेत्र के राजाओं के पतन पर दिनकर[1] ने बड़ी सुन्दर टिप्पणी की है। उनका कहना है कि "आश्चर्य यह है कि मुहम्मद गौरी ने दिल्ली के राजसिंहासन पर सन् 1191 ई० में पांव रखे। काशी का पतन सन् 1194 ई० में हुआ और सन् 1196-97 में बंगाल मुसलमानों के अधीन हो गया। पेशावर से लेकर बंगाल तक की विजय आठ-दस साल में पूरी हो गई, यह बात समझ लेने पर भी, ठीक से समझ में नहीं आती है। उन दिनों रेल और वायुयान नहीं थे और सड़कें भी थोड़ी और खराब रही होंगी। इस पर भी तुर्रा यह कि मुस्लिम आक्रामक दो-चार लाख फौज लेकर हिन्दुस्तान में नहीं आते थे। बाबर सिर्फ बारह हजार आदमी लेकर हिन्दुस्तान आया था। तो राजाओं ने जगह-जगह उनका मुकाबला क्यों नहीं किया? अथवा जनता ने ही स्थान-स्थान पर उन्हें बाधा क्यों नहीं पहुंचाई? क्या दिल्ली से मुर्शिदाबाद तक कोई सुरंग थी जिसके भीतर से आक्रामकों की सेना छिपकर निकल जाती थी? मुट्ठी-भर मुसलमान आदमियों के इस विशाल जंगल को आनन-फानन जीतकर उस पर राज्य करने लगे। इससे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि इस देश के लोगों ने उनका सामना नहीं किया।" यही बात हिमाचल के ठाकुरों और उनकी

1. संस्कृति के चार अध्याय

ठकुराइयों के सन्दर्भ में भी ठीक बैठती है ।

यद्यपि राजनीतिक इकाइयां कदरे बड़ी बन गईं, लेकिन इससे त्राण नहीं मिल पाया । जब भी दिल्ली और पंजाब में मजबूत शासक आया, उसने पहाड़ की ओर दृष्टि डाली और पहली नजर नगरकोट पर ही पड़ी । सन 1337 ई० में मुहम्मद-बिन-तुगलक ने नगरकोट पर आक्रमण कर उसे करद बनाया । उस समय नगरकोट का राजा पृथ्वीचंद था । बादशाह सहिष्णु था इसलिए उसने न तो कांगड़ा के माता देवी भवन को और न ही तो ज्वालामुखी के मंदिर को कोई नुकसान पहुंचाया, किन्तु उसका उत्तराधिकारी फिरोजशाह तुगलक धर्मांध व्यक्ति साबित हुआ । एक वृत्तान्त के अनुसार फिरोजशाह ने नगरकोट में देवी-देवताओं की मूर्तियों को तोड़ा-फोड़ा और उनके टुकड़ों को गोमांस के साथ मिला कर उनकी पोटलियां ब्राह्मणों के गले में बंधवाईं और ब्राह्मणों को अपनी छावनी में घुमाया । कहा जाता है कि नगरकोट में देवी मंदिर के पुजारियों ने फिरोज को बतलाया कि मूर्ति वास्तव में ग्रीक सम्राट सिकन्दर की पत्नी नौशबा Nowshba) की है । फिरोज ने उस मूर्ति को मक्का भिजवा दिया, जहां उसे सड़क पर फेंका गया जिससे हज यात्री उसे पांव के नीचे रौंदते रहें । इसी अभियान के दौरान वह ज्वालामुखी के मन्दिर से 300 पुस्तकें अपने साथ उठा ले गया । यहां यह कहना उचित होगा कि तुगलक कांगड़ा दुर्ग पर अधिकार नहीं जमा पाया । कुछ वृत्तान्त तो यहां तक कहते हैं कि कांगड़ा अधिपति महाराजा रूपचंद इतना वीर और साहसी था कि उसने दिल्ली के दरवाजे तक पहुंच कर मुसलमानी इलाके में लूटपाट की थी, और उसके इस दुस्साहस पर दंड देने के लिए ही फिरोज ने नगरकोट पर आक्रमण किया था ।

नगरकोट का देवी मन्दिर पन्द्रहवीं शताब्दी में एक बार फिर मुसलमानों के हाथों विनष्ट हुआ । लोधी वंश के सिकन्दर लोधी ने नगरकोट पर हमला किया और मन्दिर की मूर्तियों को तोड़ डाला । मूर्तियों के टुकड़ों को बोरों में भरवा कर वह दिल्ली ले गया, जहां उसने उन्हें कसाइयों को दिया, ताकि वे उन्हें गोमांस तोलने के बट्टों के रूप में इस्तेमाल करें । मन्दिर में मूर्तियां फिर स्थापित की गईं, लेकिन थोड़े वर्षों के बाद शेरशाह सूरी के सेनापति ख्वास खां ने कांगड़ा को जीत लिया । उसने वहां की देवी शंकटा के मन्दिर को लूटा, मूर्ति को उठा ले गया और साथ में दो हजार वर्ष पुराने तांबे के छत्र को भी । इस छत्र के तांबे से पानी रखने के बर्तन बनाए गए, जिन्हें विभिन्न मस्जिदों में रखवाया गया, ताकि मुसलमान नमाजी उनमें भरे पानी से 'वजू' करें ।

इस तरह एक के बाद एक आक्रामक आते गए और मंदिरों, मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करते गए । नगरकोट पहाड़ी इलाके का बड़ा तीर्थ था । यहीं पर मुसलमान ज्यादतियां करते रहे, जिसकी कम्पन सारे प्रदेश में महसूस की जाती रही । फल

यह हुआ कि सारे पहाड़ में मुसलमान भय के कारण बन गए और उनके प्रति घृणा एवं द्वेष के भाव दृढ़ होते गए। मुसलमानों को सिर्फ मूर्ति-भंजक, धर्मांध, अत्याचारी, क्रूर और लुटेरों के रूप में देखा जाने लगा जिनके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क अवांछनीय था। उनसे छुटकारा हासिल करने के छुटपुट प्रयत्न होते रहे, लेकिन सामूहिक रूप से सभी राजा-रजवाड़ों ने ऐसा कोई कदम उठाया हो, पुष्टि के प्रमाण नहीं मिलते हैं। अकेले-दुकेले समय-समय पर सिरमौर, नूरपुर और कांगड़ा ने ये प्रयत्न किए। यों भी ये तीनों राज्य मुसलमानों के सम्पर्क से बच नहीं सकते थे। इनकी भौगोलिक स्थिति इन्हें जबरन इच्छा से या अनिच्छा से, मैदानी इलाकों, दिल्ली, लाहौर व सरहिन्द के साथ बर्ताव रखने पर मजबूर करती थी।

सिरमौर यमुना उपत्यका का भाग होने के नाते दिल्ली का क्षेत्र था। नूरपुर और कांगड़ा ऐतिहासिक कारणों एवं परम्परा से जालन्धर के अंग रहे। जालन्धर पूर्वी पंजाब का हृदय था, वहां की हर धड़कन का साथी था। इस कारण कभी ये राज्य सीधे तौर पर दिल्ली के अधीन रहे, कभी उसके सुलतानों को कर देकर छुटकारा नसीब हुआ, और कभी दिल्ली की सल्तनत में तरफदारी कर वहां की स्थिति को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की गई। अनेक बार शाही खान-दान के शाहजादे अथवा सेनापति को शरण दी, कभी सैनिकों से उनकी सहायता की। कहीं ये प्रयत्न सफल रहे, लेकिन अकसर इनसे घाटा ही हुआ और दिल्ली से कठोर दंड हिस्से आया। फिरोजशाह तुगलक ने तो नगरकोट का नाम ही बदल कर मुहम्मदाबाद रख दिया था, किन्तु मुहम्मदाबाद सिर्फ फिरोजशाह के कागजातों में ही दर्ज होकर रह गया। यह उसी तरह का फैसला था जैसा अकबर द्वारा राजा बीरबल को नगरकोट का प्रशासक नियुक्त करने की घोषणा। न नगरकोट के राजा विधिचन्द ने अपनी राजधानी का कब्जा छोड़ा और न ही बीरबल वहां अपनी जागीर संभालने आ पाया।

अकबर ने गद्दी संभालने के साथ ही पहाड़ी क्षेत्र की ओर ध्यान दिया। सन् 1556 ई० में ही कांगड़ा के राजा धर्मचन्द ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली। धीरे-धीरे अन्य राजा राणा और ठाकुरों ने भी वही रास्ता अपनाया। अकबर ने इस इलाके के लिए भी वही नीति अपनाई जो उसने देश के दूसरे राज-पूत राजघरानों के लिए बरती थी, अर्थात् अपना प्रभुत्व सुनिश्चित करने के लिए राजघराने का अव्वल तो उत्तराधिकारी राजकुमार या कोई अन्य राजकुमार अपने दरबार में एक प्रकार का बन्धक रखना। जहांगीर के गद्दी पर बैठते समय इस प्रकार के 22 पहाड़ी राजाओं के पुत्र व सम्बन्धी मुगल दरबार में विद्यमान थे। इन्हें मियां की उपाधि दी गई थी, जबकि बहुत से राजा स्वयं जमींदार या राय कहलवाते थे।

अकबर की नीति

अकबर की नीति उससे पहले के मुसलमान सम्राटों से एकदम भिन्न थी। उसने किसी भी धर्म-स्थान की न बेइज्जती ही करवाई, न मन्दिर नष्ट किए और न ही तो मूर्तियां तुड़वाईं। इतना ही नहीं, जब कभी उचित जान पड़ा उसने देव मन्दिरों को चढ़ावे भी भेंट किए। मलाणा के जमलू को चांदी के हाथी की भेंट इसका एक उदाहरण है, किन्तु इससे भी बढ़कर उसके जिस कृत्य ने लोगों को मुग्ध किया, वह था ज्वालाजी के प्रति उसकी आस्था एवं श्रद्धा। आज तक सारे प्रदेश की जनता प्राय: प्रतिदिन ज्वालाजी की भेंट के इस पद :

"नंगे नंगे पांव माता अकबर आया
सोने दा छत्र चढ़ाया मेरी मां"

को गाकर उसे याद करती है। ज्वालाजी के प्रति एक दूसरे शासक की श्रद्धा का भी लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। यह शासक था महाराजा रणजीत सिंह। उसने भी देवी के भवन की छत पर सोना चढ़वाया था। यह काम उसके लिए बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ और संसारचन्द के विरुद्ध वह अन्य राजाओं की सहानुभूति व सहायता पाने में सफल रहा। उसे बाहर का शासक न समझ कर लोगों ने उसे केवल संसारचन्द का विरोधी माना और उस समय संसारचन्द का विरोध प्राय: सभी पहाड़ी राजा कर रहे थे।

मन से पहाड़ी शासकों ने अकबर को भी नहीं स्वीकार किया। उपयुक्त अवसर मिलने पर उन्होंने विद्रोह कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व दोबारा प्राप्त करने की कई चेष्टाएं कीं। सन् 1588-89 में राजा विधिचन्द ने कांगड़ा और जम्मू के बीच के सभी राजाओं को संगठित कर एक संघ बनाया और अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस संघ की संयुक्त सेना में 10,000 घुड़सवार और एक लाख पैदल सिपाही थे। दुर्भाग्यवश विद्रोह विफल रहा और 13 राजा बन्दी बना कर अकबर के सामने पेश किए गए। इसके पांच वर्ष के उपरान्त एक बार फिर पहाड़ी राजाओं ने विद्रोह किया। इस बार इस संघर्ष में जम्मू से लेकर सतलुज तक के राजा शामिल हुए थे। उनका नेतृत्व जसरोटा का राजा कर रहा था और नूरपुर का राजा बसुदेव भी उसका सहयोगी था। किन्तु यह भी असफल प्रयत्न रहा। सामूहिक चेष्टा तो अकबर के काल में दो बार हुई, उसके अनन्तर नूरपुर के राजाओं बसुदेव, सूरजमल और जगतसिंह ने कई बार मुगल साम्राज्य के विरुद्ध झंडा उठाया।

नूरपुर का देश-प्रेम : रामसिंह व जगतसिंह

नूरपुर अपनी आजादी बनाए रखने में विशेष प्रयत्नशील रहा। अपने पूर्वज

औदुम्बरों की भांति इन लोगों के हृदय में देश का, भूमि का प्यार शायद मिटा नहीं था। नूरपुर के ही एक युवक, रामसिंह पठानिया ने अंग्रेज शक्ति के विरुद्ध आजीवन संघर्ष किया और अपने प्रिय प्रदेश को तब तक अंग्रेजों के हाथों नहीं जाने दिया, जब तक उसमें जान रही। उसके इस शौर्य, उत्साह, वीरता और देश-प्रेम की गाथा आज भी बड़े आदर से गाई, सुनाई जाती है। नूरपुर के एक भूतपूर्व मन्त्री श्यामसिंह का यह शेर पुत्र माता के समझाने पर भी अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान चलाए रहा। उसे यह सह्य नहीं था कि फिरंगी आकर उसकी भूमि पर अधिकार करें।

रामसिंह से पूर्व जहांगीर शाहजहां के काल में राजा जगतसिंह ने विद्रोह किए, किन्तु उसकी बहुचर्चित वीरता के कारण उसे ज्यादा नुकसान नहीं उठाना पड़ा। यह वही जगतसिंह है जिसका विरद 'राजा जगता' गाथा में लोकस्मृति की अमर थाती है। मुगलों के लिए इस राजा ने बलख, बदख्शां व अफगानिस्तान में जाकर जो कारनामे किए उनका उल्लेख इतिहास के पन्नों में इस तरह अंकित है : "राजपूतों का मनोबल जिस प्रकार इस अपूर्व कर्तव्य को पूरा करने के लिए उभरा, वैसा पहले कभी नहीं उभरा था। वे दर्रों से तूफानों की भांति निकले, बर्फ पर बिना रुके, बिना टिके आगे बढ़ते गए, उन्होंने अपने नंगे हाथों से बर्फ के ऊपर अपने लिए चलने का मार्ग बनाया। स्वयं राजा जगतसिंह ने शेष लोगों की तरह हाथ में कुल्हाड़ी ले रखी थी। बर्फ से जमे हुए क्षेत्र के तूफानों का उसने उसी प्रकार दृढ़ता एवं धीरता से मुकाबला किया जिस प्रकार उजबेकों के भयंकर और एक के बाद दूसरे लगातार आक्रमणों का किया था।"

हिमाचल के लोगों ने अफगानिस्तान और मध्य एशिया में जाकर ही मुगलों के लिए नाम नहीं कमाया, उन्होंने औरंगजेब के दक्षिणी अभियान में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया और शानदार जीत प्राप्त की। बिलासपुर के राजा दीपचन्द को उसकी सराहनीय सेवाओं के लिए औरंगजेब ने पांच लाख रुपये और खिल्लत भेंट की थी। उत्तराधिकार के संघर्ष में राजा जगतसिंह के पुत्र राजसिंह ने स्वयं औरंगजेब की अत्यधिक सहायता की थी। किन्तु ये सब बेकार सिद्ध हुआ जब औरंगजेब ने सन् 1678 में सभी राजाओं को मन्दिर गिरवा देने का आदेश दिया। अकबर से चली आई नीति के इस अप्रिय बदलाव ने एक बार फिर पहाड़ी जनता का मन फेर लिया और वे मौके की तलाश में रहे, जब क्रूर बादशाह का जुआ उतार फेंका जा सके। चम्बा नरेश राजा चतरसिंह न केवल शाही फरमान की अवहेलना की बल्कि राज्य के सभी मुख्य मन्दिरों पर सोने के कलश लगवाए। कुछ वर्षों बाद राजा चतरसिंह, गुलेर के राजा राजसिंह, बशोली के राजा धीरजपाल और जम्मू के राजा कृपाल देव ने पंजाब के मुगल प्रशासक मिर्जा रजियाबेग के विरुद्ध धावा बोलकर उसे युद्ध में हरा दिया और उनके जो इलाके

मुगल अपने अधीन कर गए थे, वे वापिस लिए। राजसिंह गुलेरिया ने मुगल नायक हुसेन खां, अल्फ खां और मियां खां को हरा कर मंडी और विलासपुर की रक्षा की थी।

औरंगजेब के शासन-काल में कांगड़ा दुर्ग के दुर्गाधीश सैयद हुसेन खां, हसन अबदुल्ला खां पठान और नवाब सैयद खलीलुल्लाह खां थे। ये लोग भी उसी तरह के धार्मिक तौर पर असहिष्णु थे जैसे मुलतान, मथुरा, ग्वालियर और वाराणसी के अन्य मुगल अधिकारी। इन्होंने भी अपने क्षेत्र में मन्दिरों को नष्ट कर उन पर मस्जिदें खड़ी करवाई थीं। दुर्ग मुगलों के अधिकार में सन् 1783 ई० तक रहा, जब अन्तिम मुगल दुर्गाधीश नवाब सैफअली खां के पुत्र जुल्फकार खां ने इसे सिख सरदार जयसिंह कन्हैया को हस्तांतरित किया।

सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु, उसके 32 वर्ष बाद नादिरशाह के आक्रमण, अफगानों और मरहठों में दिल्ली पर प्रभुत्व के लिए संघर्ष तथा सन् 1752 में अहमद शाह दुर्रानी के हमले से उत्पन्न अराजकता ने हिमाचल के शासकों को न केवल चैन की सांस लेने का अवसर दिया, अपितु उनमें अपने परम्परागत वैभव को पुनः प्राप्त करने का मोह भी आया।

"लाहौर-प्राप्त" अभिवादन

पंजाब अहमदशाह अब्दाली के अधिकार में आ गया था और सन् 1758 में कांगड़ा के महाराजा घमंडचन्द को उसने जालन्धर का गवर्नर नियुक्त कर लिया था। अठारहवीं शताब्दी में समूचे हिमाचल क्षेत्र के लोगों में एक नया उत्साह था और त्रिगर्त जैसे प्राचीन राज्य पंजाब पर अधिकार करने की योजना बना रहे थे। महाराजा संसारचन्द के दरबार में अभिवादन ही 'लाहौर-प्राप्त' कह कर किया जाता था।

संसारचन्द

जब संसारचंद सन् 1775 ई० में दस वर्ष की आयु में कागड़ा के सिंहासन पर बैठा तो पूर्व की ओर नेपाल में गोरखा शक्ति का उदय हो चुका था। पंजाब में सिख सत्ता रणजीत सिंह के नेतृत्व में सुदृढ़ हो रही थी। दक्षिण पश्चिम में मराठा शक्ति उभर आई थी और 1757 ई० में अंग्रेज प्लासी का युद्ध जीतकर अपना भविष्य निखार चुके थे। संसारचंद साहसी व महत्त्वाकांक्षी युवक था। वह इन घटनाओं से घबराया नहीं, अपितु उसने इस स्थिति को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। इसके लिए सबसे पहला काम था अपने घर को मजबूत बनाना। उसने अपनी सेना की संख्या बढ़ाई, उसके संचालन में सुधार किया, और अफगान सैनिकों को भी भरती किया।

सन् 1786 में 166 वर्षों बाद कांगड़ा किला उसके अधिकार में आ गया। इससे उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में जबरदस्त वृद्धि हुई। संसारचंद ने आसपास के छोटे-मोटे राज्यों को अपने अधीन करना आरंभ किया और पहाड़ी इलाकों पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उसने चम्बा, मंडी, सुकेत, कहलूर और सिरमौर पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया। इसी बीच उसने सिरमौर जाकर गोरखा सेनानी अमरसिंह थापा को बुरी तरह परास्त किया। अमरसिंह थापा ने संसारचंद से सन्धि कर ली जिसके अन्तर्गत सतलुज को सीमा निर्धारित किया गया।

संसारचंद का यह स्पष्ट उद्देश्य था कि समूचे पहाड़ को अपने राज्य का भाग बनाकर एक सुदृढ़ राज्य बनाया जाए जिसकी सीमा पुरातन त्रिगर्त की तरह जालन्धर तक हो। तभी वह सारे पंजाब पर अधिकार कर उत्तर-पश्चिमी भारत का सबल, सशक्त शासक बन सकता था। उसका स्वप्न अन्ततः लाहौर को राजधानी बनाने का था और इसीलिए उसने पहाड़ी और मैदानी क्षेत्र दोनों ओर, पांव बढ़ाने शुरू किए। उसने 1803-1804 ई० में होशियारपुर एवं बजवाड़ा की ओर से, मैदानों पर आक्रमण किए, किंतु रणजीतसिंह की सेना ने उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। उधर संसारचंद की महत्त्वाकांक्षाओं और लगातार चढ़ाइयों से पहाड़ी राजाओं पर आतंक छा गया था। उनके सौभाग्य किंतु प्रदेश के दुर्भाग्य से सन् 1803 में नेपाल की गोरखा सेना पश्चिम की तरफ राज्य-विस्तार के लिए बढ़ती आ रही थी। उस वर्ष गढ़वाल पर नेपाल ने विजय प्राप्त कर ली और उसकी सेना पहाड़-पहाड़ बढ़ते हुए सतलुज उपत्यका के सभी राज्यों को अपने हाथ लेने में सफल हो चुकी थी। तभी बिलासपुर के राजा महानचन्द ने गोरखों को संसारचंद पर आक्रमण में सहायता देने का आश्वासन दिया। संसारचंद बिलासपुर के राजा को हराकर सतलुज नदी तक घुमारवीं आदि क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा चुका था। इसी युद्ध में सिरमौर का राजा धर्मप्रकाश महानचन्द की सहायता में जान गंवा बैठा था

गोरखा आक्रमण : स्थानीय सहायता

गोरखे अपनी हार का बदला लेना ही चाहते थे। संसारचंद के विरुद्ध उन्हें भड़काने और उकसाने में कांगड़ा राजा के भूतपूर्व मन्त्री कुन्हों का भी बड़ा योगदान रहा। कहा जाता है कि संसारचंद के बाल्यकाल में कुन्हों ने बड़ी स्वामिभक्ति, कार्य-तत्परता और लगन से राज्य को सुदृढ़ करने में बड़ा काम किया था। वह अनुभवी व्यक्ति था और राजा का सच्चा हितैषी। कुन्हों अपने सौंदर्य तथा लम्बी मूंछों के लिए प्रसिद्ध था। संसारचंद ने किसी आवेश या बुद्धि-भेद से उसकी मूंछें कटवा दीं। कुन्हों के लिए मूंछें उसकी मरदानगी का प्रतीक थीं।

उनके कट जाने से वह इतना क्षुब्ध हुआ कि उसने संसारचंद की नौकरी ही नहीं त्यागी बल्कि राज्य भी छोड़कर नेपाल चला गया, जहां उसने गोरखों की नौकरी कर ली। अपने अपमान का बदला लेने के लिए वह गोरखों को कांगड़ा पर आक्रमण करने के लिए निरन्तर उत्तेजित करता रहा। उधर गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा का गुरु शिवदत्तराय था। शिवदत्त तांत्रिक था, जिसे कई सिद्धियां प्राप्त थीं, ऐसा माना जाता था। और यह शिवदत्त बिलासपुर का निवासी था, इसलिए उसने भी थापा को कांगड़ा पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। सन् 1805-06 के जाड़ों में गोरखा सेना सतलुज पार कर सुकेत आई, जहां बिलासपुर, बशोली और कांगड़ा के आसपास के राजाओं ने दस हजार के लगभग सैनिक गोरखा सेनापति को दिए। पहली झड़प महल मोरी में हुई। संसारचंद सम्मिलित गोरखा और राजपूत सेना का मुकाबला नहीं कर सका और शरण लेने के लिए उसे कांगड़ा किले में आ जाना पड़ा। गोरखा सेना ने ज्वालमुखी में छावनी डाली, जहां अमरसिंह थापा के पास चम्बा, नूरपुर सुकेत, कुटलेहर और जस्वां के शासक आए और उसे सैनिक दिए। गोरखों ने तीन साल तक कांगड़ा राज्य को लूटा। परिणाम यह हुआ कि "कांगड़ा की उपजाऊ भूमि में खेती के नाम पर कोई पत्ती तक नजर नहीं आती थी। शहरों में घास उग आई थी और नदौन के बाजारों में सिंहनियां बच्चे जनने लगी थीं।"

गोरखों ने जो जुल्म ढाए, वे लोक-चेतना में गहरे पैठ गए। चम्बा के एक लोकगीत में कहा गया है कि

> राजा तेरे गोरखियां ने लुटया पहाड़
> लुटया पहाड़ गोरी रा लुटया पहाड़।
> तीसा लुटया, बैरा लुटया भान्दल किहार,
> पांगी दी पंगवालीयां लुटियां लुटी बांकी नार।
> सुन्ना लुटया, चान्दी लुटया लुटया जवाहर।
> सेजा सुत्ती कामनी लुटियां, लुटया पहाड़।
> राजा तेरे गोरखियां ने लुटया पहाड़।

यह चम्बा राजा की भर्त्सना थी, या सभी राजाओं की, जिन्होंने गोरखों को बुलाया और उनकी सहायता की, कहना कठिन है, किन्तु गोरखों ने जो आतंक फैलाया वह इससे साफ झलकता है। उधर किन्नौर में भी गोरखे वैरियों ने दहशत फैला रखी थी। गोरखा वरैइरीस नामक गाथा में सात परगने के युवक इकट्ठे होकर भीमाकाली की शरण जाते हैं और माता से नाबालिग राजा की सुरक्षा की याचना करते हैं। उनकी पुकार है कि माता गोरखा वैरी आ गया है, हमारे नाबालिग राजा की रक्षा कर। देवी के सुझाव पर लोग राजा को "भावा परगना कटगांव देश" के शिव मन्दिर में ले गए।

ससारचंद ने गोरखों के विरुद्ध महाराजा रणजीतसिंह से सहायता मांगी। ज्वालामुखी में दोनों राजाओं की भेंट हुई और एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अन्तर्गत कांगड़ा दुर्ग और उसके चारों तरफ के 66 गांव रणजीतसिंह को गए और बदले में उसने गोरखों से कांगड़ा राज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व मान लिया। सन् 1809 में रणजीतसिंह की सेना ने गोरखों पर आक्रमण कर उन्हें सतलुज पार खदेड़ दिया। किले पर रणजीतसिंह का अधिकार होने से तथा संसारचंद की शक्ति खत्म हो जाने से सतलुज और रावी के बीच के सारे पहाड़ी क्षेत्र पर सिखों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। उधर अंग्रेजों ने गोरखों के विरुद्ध सन् 1814 में जंग का एलान किया और एक वर्ष के भीतर गोरखों को सारी सतलुज उपत्यका से बाहर निकाल फेंका।

सन् 1846 में प्रथम सिख-ब्रिटिश युद्ध के परिणामस्वरूप लाहौर दरबार ने जालन्धर द्वाबा ब्यास और सतलुज के बीच का कांगड़ा, कुल्लु, लाहुल और और स्पिति का इलाका अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया। सतलुज के पूर्वी किनारे की रियासतों को अंग्रेजों ने सन् 1814-15 में गोरखों को पराजित करने के पश्चात् अपने संरक्षण में ले लिया था। कोटगढ़, कोटखाई जैसे सामरिक महत्त्व के थोड़े-से स्थानों को अपने कब्जे में रख बाकी का इलाका उन्होंने वहां के राजा-राणा-ठाकुरों को लौटा दिया। चम्बा सन् 1848 में अंग्रेजों के आधिपत्य में आया, जहां उन्होंने स्थानीय राजा को ही मान्यता दी।

प्रदेश के एकीकरण की संसारचंद की चेष्टा इस युग का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इस राजा ने जो चिनगारी जलाई, सुलगती गई, और सन् 1966 में आकर विशाल मिशाल बन कर समस्त पर्वतीय भू-खंड को प्रकाशमान कर गई। इसी वर्ष पहली नवम्बर को हिमाचल प्रदेश ने अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया। 15 अगस्त 1947 को भारत में अंग्रेजी राज की समाप्ति के साथ-साथ पहाड़ी रियासतों पर से भी विदेशी प्रभुत्व हट चुका था। 15 अप्रैल 1948 को चम्बा, मंडी, सुकेत, सिरमौर और बुशैहर समेत 30 रियासतों का हिमाचल प्रदेश के नाम से एक संघ स्थापित हो गया था।

राजा देवता

जैसा हम देख चुके हैं, खूंद, परगना बदलकर ठकुराइयां बनीं, खूंद प्रतिनिधियों का नेता ठाकुर बन गया। राणाओं की राहणुएं बनीं और इन ठकुराइयों और राहणुओं की नींव पर राज्य। खूंद के सभी अधिकार ठाकुर को मिले। अब मौलिक इकाई में देवता और ठाकुर, राहणु में देवता और राणा तथा राज्य में देवता और राजा, इन शासक द्वय के हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित हो गई थी।

शासक और देवता के इस सम्मिश्रण से अक्सर राजा, राणा ठाकुर में ही

लौकिक तथा दैवी व धार्मिक सत्ता का समाहार हो गया। नतीजा यह हुआ कि कहीं देवता ही शासक बना और कहीं शासक देवता भी बना। क्योंथल रियासत में राजा ही देवता भी बन गया, किंतु कुल्लू और मंडी में राज्य देवता का रहा और राजा केवल उसका प्रतिनिधि बन कर राज्य करता रहा। राजा और देवता कुछ इस तरह एक-दूसरे में मिल गए कि देवता राजा कहलाने लगे और राजा देवता। राजा के अभिवादन के लिए 'जय देआ' (जय देव) शब्द इसका प्रमाण है। उसके स्वागत के लिए देवता की ही धार्मिक छड़ी, चंवर, छत्र और वाद्ययंत्र प्रयुक्त होते रहे हैं। उसके स्वागत पर वाद्ययन्त्रों पर वही धुन बजाई जाती थी जो देवता की आरती के समय बजाई जाती रही है।

शायद देवता और राजा के एक हो जाने का मुख्य कारण भूमि की मलकीयत था। आरंभ में बरीन्दों ने जब बस्तियां बसाईं थीं, व्यक्ति विशेष या परिवार का भूमि पर अधिकार नहीं था। जमीन सबकी सांझी थी। उस पर सबको बराबर का अधिकार था। इस स्थिति को बनाए रखने के लिए संभवतः भूमि का स्वामित्व बरीन्द के कुलदेवता, ग्रामदेवता, देवी व देऊ को दिया गया, जिससे सभी के अधिकार सुरक्षित रह सकें, भूमि सांझी बनी रहे। तब भूमि ही जीवन का पर्याय थी, उसकी उपज से ही जीवन चलता था, वह ही धन था, उसी के धान्य से मान-प्रतिष्ठा सुलभ थी, अतः जिसका भी भूमि पर अधिकार रहा, उसके ही वश में जीवन, सुरक्षा, समृद्धि और प्रतिष्ठा रही। उस काल की अर्थव्यवस्था का एक-मात्र आधार भूमि थी। भूमि पर देवता के स्वामित्व ने देवता और राजा को एक स्वरूप करने में सहायता पहुंचाई। यदि राजा का भूमि पर अधिकार नहीं, तो उसका शासन कैसा? देवता के साथ एक हो जाने से राजा ने दैवी गुणों को भी अपने में ले लिया। नतीजा यह हुआ कि राजा भूपति भी बना और धर्म-रक्षक व धर्म-संस्थापक भी।

भूमि और धर्म का मालिक हो जाने से अब उस व्यक्ति की ही पूजा होने लगी, और सिर्फ वह ही प्रजा के आदर, मान, भक्ति और सेवा का पात्र बना। वह प्रजा के भाग्य का विधाता बना। प्रजा की सामाजिक स्थिति और माली हालत सब उसके रहमोकरम पर, उसकी इच्छा पर निर्भर हो गई। वह खश को ब्राह्मण भी बना सकता था, राहू अथवा कनैत को ठाकुर और राणा की गद्दी पर बैठा सकता था। ब्राह्मण को क्षत्रिय और राणा ठाकुर को सामान्य नागरिक का दर्जा भी दे सकता था। जाति में शामिल करना और जाति से बाहर निकालना उसकी मंजूरी से ही संभव रह गया। यदि राजा की कृपा-दृष्टि है, तो उसका कृपापात्र जागीर प्राप्त कर सकता था, यदि नजर टेढ़ी हो गई, तो पुश्तों की मान-मर्यादा, धन-दौलत, जमीन-जायदाद सभी कुछ छिन भी जाते थे। राजा सभी अधिकारों का स्रोत बन गया। अपनी-अपनी ठकुराई या राहणू

में यही स्थिति ठाकुर और राणा की भी थी। समय बीतते राजा-राणा-ठाकुर देवता से भी अधिक शक्तिशाली बन गए और छोटे-छोटे ग्राम व परगना देवता को उनकी इच्छा का, उनके आदेश का पालन करना पड़ा। ये देवता राजा पर आश्रित हो गए।

इस प्रकार की असीम शक्ति हाथ में केन्द्रित हो जाने से यह स्वाभाविक था कि ये राजा-राणा-ठाकुर निरंकुश हो जाएं और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी को भूल सिर्फ निजी स्वार्थ, ऐशो-आराम और वैभव के लिए राज्य की सम्पदा तथा प्रजा की सामर्थ्य का प्रयोग करें। उनका काम पास-पड़ोस के दूसरे शासकों, राजाओं, ठाकुरों से लगातार संघर्ष करना रह गया था। मत्स्यन्याय के मुताबिक बड़ा राज्य सभी छोटे राज्यों को निगल जाना चाहता और जब उस बड़े राज्य में कमजोरी आ जाती, तो कोई दूसरा महत्त्वाकांक्षी राजा उसे छिन्न-भिन्न कर आत्मसात कर लेता।

जीतने और हारने का यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलता रहा। नूरपुर के राजा जगतसिंह ने चम्बा के राजा जनार्दन की हत्या की, एवं मंडी के राजा की हत्या का प्रयत्न किया। एक समय में कहलूर (बिलासपुर) ने बाघल, बघाट, क्योंथल, बेजा, मांगल, भज्जी, महलोग, धामी, कुठाड़, कोटखाई, कुनिहार एवं बलसन को अपना करद बना रखा था। बुशैहर ने कई बार कुम्हारसेन, कोटखाई, खनेटी, देलठ, रावीगढ आदि को अपने अधीन कर रखा था। इसी प्रकार क्योंथल ने भी पड़ोसी रियासतों और ठकुराइयों पर कभी कब्जा किया, कभी उनसे कर लिया। शुरू-शुरू में जब राजपूत राजकुमारों ने अपने राज्य स्थापित किए तो लम्बे अर्से तक ठाकुरों से उनका संघर्ष चलता रहा।

लोकगाथाओं और लोककथाओं की बात मानी जाए, तो ये राजा-राणा ठाकुर लोग युद्ध के लिए कोई प्रशासनिक अथवा राजनीतिक बहाना ढूंढना जरूरी नहीं समझते थे। यदि किसी दूसरे राज्य, राहणू, ठकुराई की भेड़-बकरियां चरने के लिए राज्य की सीमा के अन्दर आ गईं, तो तुरन्त 'नेगी' को बुला कर आदेश दे दिया कि वह सैनिक इकट्ठा करे और दोषी इलाके पर हमला कर ले। व्यास उपत्यका के राजाओं, कांगड़ा, नूरपुर आदि की तो व्यवस्थित सेना होती थी, जो किलों की रक्षा करती थी, लेकिन सतलुज क्षेत्रीय रियासतों, ठकुराइयों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी। प्राय: युद्ध के समय, खतरे के वक्त मशालें जलाकर या धार पर ढोल पीट कर 'टियाड़ी' अथवा 'हाक' लगाकर लोगों को सूचित किया जाता और प्रत्येक घर से कम-से-कम एक युवक अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर राजदरबार की ओर चल पड़ता। यह सैन्य दल लड़ाई के बाद वापिस अपने घर चला आता। प्राय: नेगी या बजीर इस सैन्य दल का नेतृत्व करता। हां, यदि विरोधी कोई प्रबल राजा होता, तो राजा या राणा स्वयं सेना का संचालन किया करता था। शिवालिक

क्षेत्रीय तथा त्रिगर्त के राज्यों में कुछ तो नियमित सैनिक होते, जिन्हें बाकायदा वेतन मिला करता, किन्तु ज्यादातर वहां भी जरूरत के वक्त ही सिपाही इकट्ठे किये जाते।

इस इलाके में एक विशेष पद्धति काफी अर्से तक प्रचलित रही। यह पद्धति थी पैसों की खातिर लड़ने वाले लोगों की किसी एक मुखिया व नेता के नेतृत्व में दूसरों की लड़ाइयां लड़ना। शायद इसका कारण यह रहा हो कि परम्परा से ये लोग आयुधजीवी थे। वे कठिन जीवन जीने के आदी थे, परिश्रमी एवं शूरवीर थे। भूमि से निर्वाह होता न था, आय के और कोई साधन थे नहीं, अत: जरूरत पूरा करने के लिए उपयुक्त अवसर पाने पर किसी की सैनिक टुकड़ी में शामिल हो गए। थोड़ा-सा वेतन ले लेते, ज्यादा उम्मीद लूटपाट में मिले माल से होती थी। इस प्रकार के सैनिक दलों के प्रयोग का उल्लेख महाभारत काल से होता आया है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सलाह से त्रिगर्त के लोगों को नन्दवंश के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही में इस्तेमाल किया था। राजा जगतसिंह भी बलख के अभियान पर 14,000 सैनिकों को अपने साथ ले गया था। उसकी इस सेना में अधिकांश लोग ये मुजारे के सैनिक ही थे।

छोटी ठकुराइयों और रियासतों में सैनिकों को कोई वेतन नहीं मिलाता था, उन्हें राजा के प्रति कर्तव्य समझ कर ही, एक प्रकार से बेगार में ही युद्ध लड़ना होता था। इसलिए प्राय: ये बेचारे योद्धा युद्ध में जाते समय देवता से मनौती मनाते और जीत कर लौट आने पर उन्हें सफेद बकरा, ऊंचा झंडा देने का प्रण किया करते थे। ये योद्धा तोड़बन्द बन्दूकों, तलवारों, भालों और फरशु से लड़ा करते थे। कभी-कभी इनके पास सिर्फ तीर-कमान ही हुआ करते थे। ऐसे भी विवरण हैं जब युद्ध के अस्त्र-शस्त्र केवल द्राट, बरछा, सोठा और रेउश झाड़ी की लचकीली बेंत मात्र होते थे। संसारचन्द के विरुद्ध बिलासपुर की सेना में 300 घुड़सवार और 4000 पैदल सिपाही थे। यह सेना तोड़बन्द बन्दूकों, तलवारों, और नेज़ों से लैस थी।

राजा जमीन का मालिक था। सारी भूमि पर उसका अधिकार था। प्रजा का भूमि पर कोई स्वामित्व नहीं था, वह केवल मुजारा थी, खेतिहार थी और उसका कर्तव्य भूमि से अन्न पैदा करना था। लोग जब तक राजा को कर देते रहते, पुश्त-दर-पुश्त वे खेती का उपभोग कर सकते थे, किन्तु किसी परिवार के सदस्य बिना किसी उत्तराधिकारी के मर जाते तो भूमि पुन: राजा को लौट जाती थी। राजा भूमि प्राय: पट्टे पर देता था, पर पट्टा मनसूख करने का भी उसे अधिकार था। भूमि का कर साधारणत: उपज का एक-तिहाई भाग होता था, लेकिन कहीं-कहीं उपज का आधा हिस्सा तक वसूल किया जाता था। मालिए की उग्राही के लिए गावी, वजीर, विव्ट, या चौधरी नियुक्त हुआ करते थे। कई बार ये कर

उगाहने वाले निश्चित मात्रा से भी अधिक कर वसूल कर लेते थे, जिसका राजा या ठाकुर को ज्ञान नहीं होता था। इस कारण कृषक को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

प्रजा का कर्तव्य राजा को कर देना, उसकी चाकरी करना, उसकी बेगार भरना और युद्ध के समय सेना में शामिल होना था। राजा सबसे अधिक उपजाऊ भूमि निजी उपभोग के लिए रखा करता था, लेकिन उसकी काश्त का सारा काम प्रजा को बेगार में करना होता था और राजा के काम को प्राथमिकता दी जाती थी। कुछ एक प्रभावशाली परिवार एवं राजकर्मचारियों को छोड़ सभी कुटुम्बों को बेगार निभानी पड़ती थी। अंग्रेजों ने तो गोरखों को पराजित करने के बाद जो सन्धियां राजा राणाओं से कीं, उनमें एक मुख्य शर्त अंग्रेजों के लिए बेगार की सुविधा दिलाने की भी थी। बेगार को आमतौर पर कार कहा जाता था। इस कार ने प्रजा का जीवन अत्यन्त कष्टमय कर रखा था। इसका अत्यन्त मार्मिक चित्रण 'धार देगू' लोकगाथा में हुआ है। जिस परिवार में कोई पुरुष न हो, स्त्रियां ही हों, उसे 'तलब' के रूप में पैसा देना होता था। गाथा में राजा ने युद्ध के लिए सैनिक को बुलाया। योद्धा आया तो सही लेकिन राणा से कहने लगा :

> "हाथ लोणे रा डांगरा तेरी तलबे बिकोआ
> ऐसी बिकुए मामले में चुल्ही पांदे रा तोआ।"

तेरी 'तलब' की अदायगी के लिए हाथ का फरसा बेचना पड़ा और तेरे मालिए के भुगतान में तो चूल्हे का तवा तक बिक गया।" अब राणा साहिब लड़ने के लिए हाथ में बाकी बची रही है केवल कड़छी!

क्रूर शासन

लोककथाओं के अनुसार मध्य युगीन राणा और ठाकुरों का शासन क्रूर था। प्रजा को लूटना-खसूटना इनका मनोरंजन था। इनका वचन ही कानून था और ये जब चाहते, जिसे चाहते, मौत के घाट उतार देते थे। यही नहीं, लोगों के धन-धान्य को ये अपना ही माल समझते थे। इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं कि इन ठाकुरों, राणाओं, विष्ठों और वजीरों का जब जी चाहता, अपने आदमी भेजकर किसी के घर से कोई भी वस्तु उठवा लाते थे।

यदि इन कथाओं को सच्चा मानें, तो इनमें से कुछ शासकों का स्वभाव कठोर था, प्रकृति दुष्ट थी और मनोरंजन के साधन तथा आहार-विहार एकदम राक्षसी। इस प्रकार के वृत्तान्तों की कमी नहीं है, जिनमें बताया गया है कि किसी राणा या ठाकुर को शिशु-मांस का भोजन प्रिय था, तो किसी अन्य की रुचि स्त्रियों के स्तनों को भून कर खाने की थी। लगता है गाय का दूध कई शासकों को

अरुचिकर था और उन्हें केवल नारी का दूध पचता था।

संभव है यह केवल मात्र अतिरंजित चित्रण हो, जिसे ठाकुर-राणा के साथ संघर्ष के दिनों में प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए राजाओं ने प्रचारित किया हो और जनता की अवचेतना में यह सत्य बनकर बैठ गया हो। लेकिन इस में शक नहीं कि संसार भर में निरंकुश शासन में प्रजा की हालत कभी सुखद नहीं रही है। यदि राणा और ठाकुरों या राजाओं ने ये अत्याचार न भी किए हों, उनके संबंधियों और कर्मचारियों के अविवेकी व क्रूर होने के उदाहरण आधुनिक काल तक मिलते रहे हैं। कर उगाहने वाले, बेगार लेने वाले तथा परगने, टप्पे और कोठी के अधिकारीवर्ग को जनता को लूट कर अपना स्वार्थ पूरा करने की सदा फिकर लगी रहती थी। किसी अन्य व्यक्ति की समृद्धि उन्हें खलती थी। शायद यही कारण है कि बीसवीं सदी के आरंभ तक धनी-मानी कुटुंबों का यह कायदा था कि धन-द्रव्य को जमीन में दवा कर रखा जाए, घर में कोई मूल्यवान वस्तु खुली पड़ी न रहे और खान-पान तथा वेश-भूषा में भी कोई ऐसी बात न हो, जिससे उनकी सम्पन्नता प्रकट हो जाए। वैभव गिने-चुने परिवारों तक ही सीमित था जिनमें राजपरिवार के सदस्य, राणा, ठाकुर, मियां आदि शासक के रिश्तेदार, वजीर, नेगी, मावी, विष्ट, कायथ और माहतो जैसे ऊंचे-नीचे राजकर्मचारी, राज पुरोहित एवं जागीरदार शामिल थे। लोगों का जीवन इस वर्ग के हाथ था।

दूम

राजा का सीधा शासन राजधानी और उसके आस-पास के इलाके तक ही सीमित रहता था, अन्यत्र राज्यकर्मचारी कर उगाहने वाले मावी, विष्ट, वजीर आदि ही शासक थे। साधारण जनता का राजा से सीधा सम्पर्क नहीं था। वह दूर था, उसके स्वभाव की प्रजा को जानकारी नहीं थी। दूसरे, देवत्व का आरोप हो जाने से वह पूजनीय बन गया था। वह पिता-तुल्य था जो कभी कोई गलत काम नहीं कर सकता था। यही कारण था कि प्रजा शासन की ज्यादतियों के खिलाफ विद्रोह नहीं करती थी। कहावत थी कि "राम और राज के आगे किस का जोर चलता है।" किन्तु जब उसके जुल्मों की पराकाष्ठा हो जाती थी, शोषण सहन-शक्ति से आगे बढ़ जाता, भविष्य पूर्ण रूप से अन्धकारमय बन जाता और छुटकारे की सभी संभावनाएं नष्ट हो जाती थीं, केवल तब प्रजा विद्रोह करती थी, जो प्रायः अहिंसात्मक असहयोग का रूप लेता था। इसके तीन रूप थे : (1) वैयक्तिक विद्रोह, (2) दूम और (3) देवी-देवताओं के माध्यम द्वारा। वैयक्तिक और दूम का प्रयोजन प्रशासन की त्रुटियों को सुधारना होता था, जबकि देवी-देवताओं की सहायता राजा को ही बदलने के लिए ली जाती थी। इसका उपयोग कई बार राजा के ही महत्त्वाकांक्षी रिश्तेदार कर लिया करते थे। निजी विद्रोह प्रायः

आत्मोत्सर्ग का ही दूसरा नाम था। दूम प्रजा द्वारा सामूहिक विद्रोह था।

यह कहा जा सकता है कि प्रदेश का जीवन दो तबकों में बंटा हुआ था। एक तबका उनका था जो राजा थे, शासक थे, अमले-कारिन्दे या दरबारी थे। जिंदगी के असल मजे इन्हीं लोगों को नसीब थे। उनमें शिक्षा भी थी, संस्कृति भी और धन-ऐश्वर्य भी। राज्य से सरोकार इन्हीं लोगों का था। इनके लिए न तो कभी अकाल पड़ा, न ही कोई और विपदा आई। भूमि से कुछ पैदा हो या न हो, मालिया वसूल किया ही जाता, इसलिए राजा के जीवन में पैसों की कमी कभी महसूस नहीं हुई, यह वर्ग कभी भूखा नहीं रहा। प्रजा इस तबके से दूर थी, मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालती थी और इन विलासियों के आराम के लिए भी पैसा देती थी। उसने कभी यदि शिकवा किया तो इतना ही;

ठांडे पाणी रे डिभगू, जोड़े पीऊ मनाले
एकी बे लिखू कलम-दुआते, एकी बे छीड़ी रें डाले।

विधाता तेरा यह क्या न्याय है। किसी के भाग्य को तूने खूबसूरत अक्षरों में कलम-दवात लेकर लिखा, किन्तु हम जैसे हत् भाग्यों के लिए लकड़ी की डाली ही बरत ली, जिससे क्या लिखा, कोई न पढ़ सके।

प्रजा किसलिए जी रही थी ? उसे किस चीज़ ने जीवित रखा था ? उसके जीते रहने का अर्थ ही क्या था ? उसे ये सब जोर-जबर, भूख-प्यास, दुख-दर्द सहने की शक्ति कहां से आई ? इन प्रश्नों पर विचार करने से मालूम होता है कि यदि सामान्य जन जीता रहा तो उसके पीछे बहुत बड़ी सीमा तक उसका नाच, गान मेले, जातर से प्रेम था। देवी-देवता के प्रति अगाध श्रद्धा ने ही उसे जीवित रहने के लिए प्रेरित किया।

नृत्य

कांगड़ा तथा उससे लगते शिवालिकीय पट्टी को छोड़ नृत्य हिमाचली मानव की रग-रग में है। कोई मेला हो, त्यौहार हो, दूसरा कोई शुभ अवसर हो, शादी-व्याह हो, नृत्य के बिना गुजारा नहीं। फसली काम पूरा हो गया और दूसरा कोई काम नहीं तो बेकार बैठने से क्या लाभ ? दो-चार मित्र इकट्ठे हुए और बुला लिया बाजगी-बजंतरियों को। नृत्य आरंभ हो गया। बाहर बर्फ गिरी है, इधर-उधर आना-जाना नहीं हो सकता, खेत-खलियान दूर हैं, तो क्यों न इस सुअवसर से फायदा उठा नृत्य का आयोजन किया जाए ? कोई त्यौहार, पर्व, मेला और इस तरह का कोई मंगल दिवस हो, सामूहिक नृत्य होना ही चाहिए। नृत्य होता है, और वह नृत्य भी क्या जो पांच-छ: घंटों से पहले समाप्त हो जाए ? इसके लिए न तो पहले से ही कोई तैयारी करनी होती है न पूर्वाभ्यास ही। रंगमंच किसी मन्दिर का प्रांगण, गांव की खाली भूमि, हरी-भरी चरागाहें एवं विशाल

विस्तृत आकाश की छाया। यदि कुछ भी सुलभ नहीं, तो घर का कमरा ही सही।

नृत्य का धर्म के साथ गहरा संबंध है। प्रदेश में नृत्य में ही एक प्रकार का देवत्व आ गया है। किसी भी नाच से पहले बाजगी अपने साजों पर ब्याहुल, सेवा अथवा अर्चना की धुन बजाते हैं। आमतौर पर ब्याहुल देवता की पूजा के समय ही बजाई जाती है। इसी प्रकार जब नाटी नृत्य आरंभ होता है तो ब्याहुल बजती है, पुनः जब कोई व्यक्ति नाच की माला (नाटी) का अगुआ अथवा धुरी बनता है, तो इससे पहले कि नाच शुरू हो, उसके सम्मुख ब्याहुल बजाई जाती है।

यही नहीं कि नृत्य में ही देवत्व देखा गया, स्वयं देवता भी यहां नृत्य में भाग लेते हैं। जिन ग्रामीण देवताओं के रथ हैं, वे सभी नाचते हैं। डोडराक्वार का क्वारजाख देवता लगभग सारी साल, बैसाख से माघ तक हर रोज बिला नागा नाचता है, लोगों को नचाता है। विष्णु भगवान भी छाड़ी नामक नृत्य में नाचते हैं। शिव तो नर्तक हैं ही, नाम ही नटराज है। शिवरात्रि के पर्व पर शिव सुधबुध भूल नाचते रहते हैं, यहां तक कि रात खुल जाने पर भी मृत्युलोक से वह कैलाश-धाम नहीं जाना चाहते। और जब भगवान नाच रहे हों, तो मनुष्य क्यों न उसका साथ दे। इस प्रकार पहले देवता ने मनुष्य को नचाया या मनुष्य ने देवता को नचा डाला, कहना जरा मुश्किल है।

वैसे भी भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से शब्द, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से लय और अथर्ववेद से रस और भाव लिए। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने एक बार एक नाटक प्रदर्शित किया। उससे शिव और पार्वती प्रसन्न हुए। उन्होंने भरत मुनि को तांडव और लास्य नृत्य की शिक्षा दी। पार्वती ने स्वयं शोणितपुर (सराहन) के राजा बाणासुर की पुत्री उषा को लास्य सिखाया और उषा ने किन्नरियों को इस नृत्य की शिक्षा दी। आज तक किन्नौर की किन्नरियां यह नाच नाचती आ रही हैं। पांगी की पंगवालिनों की तरह ही उनके नाच में एक अजीब-सी लय है।

हिमाचली नृत्यों का नामकरण और स्वभाव, स्वरूप और वर्ग निर्धारित करना कठिन समस्या है। इस क्षेत्र में एक प्रकार का अनोखा वैविध्य है। नामकरण कहीं स्थान के नाम पर, कहीं किसी पक्षी को लेकर, कहीं नृत्य की गति को देखते हुए और कहीं नाचते हुए जिस अंग-विशेष का ज्यादा हिलना-डुलना हो, उसी के नाम पर हुआ प्रतीत होता है। नाच स्त्रियों के अलग हैं, पुरुषों के अलग और कुछ ऐसे जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों साथ नाचते हैं। स्त्री-नृत्य के उदाहरण हैं सुई, बीमा, पूडुया, डांगी और ठाकणी। पुरुष-नृत्य संख्या में 40 के करीब हैं; जिनमें नाटी एवं माला सर्वप्रमुख हैं।

संगीत

नाच गाने के बिना तो हो नहीं सकता। इस प्रदेश में काव्य और नृत्य संगीत के लिए ही बने हैं। यही उनकी उपादेयता है, यही आधार। गीत तो गेय होते ही हैं, यहां पर अनेक कथायें और लोकगाथायें भी पद्यबद्ध हैं, इसलिए उनमें भी लय का महत्त्व है। गीत की सार्थकता गाने में है, उसकी लय में है, संगीत में है।

वाद्य संगीत की तरह ही गीतों और गाथाओं के संगीत की अपनी विशेषता है। हृदय में करुणा, वीरता, शृंगार, उत्साह, विराग आदि भावों को जगाने की क्षमता गीतों की कथा और बोलों में ही नहीं, उसके संगीत में भी होती है। झूरी, झझोटी, लामण, बारें, छीजें विदाई गीत, गोपीचन्द और भरथरी तथा अनेक नारी-गीतों को सुनते हुए उनके संगीत-स्वरों के आधार पर कोई भी श्रोता उनका अर्थ समझे बिना उनकी भावभूमि का अन्दाजा लगा सकता है। यदि हम कहें कि इस प्रदेश के लोक साहित्य के एक बहुत बड़े भाग का काम एक प्रकार से संगीत के लिए बोल उपलब्ध कराना है, तो अनुचित न होगा।

करुण गीतों की लय प्राय: लम्बी और दबी-दबी-सी होती है, प्रेम-गीत, विशेषत: झूरी, लामण, दशी, झंझोटी, झुलिया और गुलाबी में हृदय का उल्लास ध्वनि के साथ नाचता-थिरकता प्रतीत होता है। गीत और संगीत के इस सम्मिलित रूप को ध्यान में रखते हुए ही यह कहा गया होगा कि "लामण दो हृदयों को एक करने का बड़ा प्रभावशाली तरीका है।" वीर-गीतों में स्वरों का आरोह अधिक होता है। संगीत के विद्वानों का कहना है कि पहाड़ी प्रदेश में आज भी संगीत की वह पद्धति विद्यमान है जो प्राचीन यूनान और भारत की पद्धति की तरह अवरोह पर आधारित है।

पहाड़ी संगीत का अध्ययन शास्त्रीय संगीत के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं हो सकता है। दोनों के मानदंड अलग-अलग हैं, लेकिन मूल आधार एक ही है। संगीतशास्त्री मानते हैं कि रागों का जन्म तीन स्रोतों से हुआ है—अलौकिक ऋषि, मुनियों द्वारा प्रगीत तथा लोक संगीत। वस्तुत: लोक संगीत का आधार बड़ा प्रबल है। राग पहाड़ी स्पष्टत: शास्त्रीय संगीत के लिए इस प्रदेश की देन है। इसके इलावा दुर्गा, सारंग, पूरिया, पूर्वी, हिंडोल, भीम पलासी, भैरवी, मालकौंस, केदार आदि रागों की थोड़ी-बहुत रूपरेखा यहां के संगीत में भी मिलती है। सुगम संगीत और सिनेमा संगीत को समृद्ध बनाने में हिमाचली संगीत ने बहुत योगदान दिया है।

लोक मन में संगीत की श्रेष्ठता दिखाने के लिए राजा इन्द्र की सभा का उदाहरण दिया जाता है। उस सभा के प्रमुख संगीतकार गन्धर्वों और किन्नरों के वंशज आज भी हिमाचल में मौजूद हैं जबकि इन्द्र के अन्य संगीतकार केवल पौराणिक उपाख्यान बन कर रह गए हैं।

संगीत के प्रति साधारण हिमाचली के मन में कितना मोह है, उससे कितना प्यार है, यह उस लामण से सिद्ध हो जाता है जिसमें गायक प्रार्थना करता है कि

देउआ राजीआ, सेवा साहिबो तेरे,
लामण इयेरे शांगे कोरे वाजले मेरे ।

हे देव, मैं सदा तेरी सेवा करता आया हूं। आज मैं लामण लगाना (गाना) चाहता हूं। कृपया मेरे कंठ को साफ बना दे जिससे इसमें सुरीलापन, लोच, माधुर्य और गांभीर्य आ जाए। स्वयं लामण कितने प्यारे हैं, यह उस युवती के कथन से मालूम पड़ जाता है जो

जौऊ फीरे पीउले, हौरी गिहूं री सेरी,
तेरे इन्हें झूरी, लामणे, मांझी बाते भलेरी ।

घर से जौ की पकी फसल काटने खेत की ओर निकली, लेकिन मार्ग में उसे झूरी व लामण की टेर सुनाई दी । कोई लामण लगाए और वह प्रत्युत्तर में लामण न लगाए ? उसने जवाबी लामण गाया। इस प्रकार लामण सुनते-सुनाते जौ का खेत भूल ही गया और वह बीच मार्ग में ही लामणों में उलझी रह गई ।

वाद्य-यंत्र

हिमाचल को यह गौरव प्राप्त है कि शास्त्रों में जिन-जिन वाद्य-यंत्रों का उल्लेख है, वे आज भी उसी रुचि से यहां बजाए जाते हैं। भारतीय समाज ने डमरू और बांसुरी को देवतुल्य माना, क्योंकि वे शिव और कृष्ण के प्रिय वाद्य थे। माना यह जाता है कि सारा ब्रह्मांड इन्हीं दो यंत्रों के संगीत की लय पर घूमता है। इस प्रदेश में यह डमरू, जिसे ढेंकुली, धोंस, हुलक और पैओल भी कहा जाता है, और बांसुरी देवपूजा, विशेषतः विष्णु-पूजा के अनिवार्य यंत्र हैं। कई भागों में चाहे सामाजिक नृत्य हो या पौराणिक व धार्मिक देव-पूजा हो या कोई पर्व, उत्सव, या त्यौहार, डमरू और बांसुरी का होना नितान्त आवश्यक है । दियाउड़ी जैसे युद्ध-नृत्यों में भी इनका प्रयोग होता है। डमरू और बांसुरी के इलावा मुख्यतः ढोल, दमामा, नगाड़ा, कावा, करनाल, तूरी, नरसिंघा, शंख, भाणा, शहनाई, डफ, थाली, खंजरी और मंजीर वाद्यों का प्रचलन है। नरसिंघा और शंख को छोड़ प्रायः सभी दूसरे यंत्र उन लोगों द्वारा बजाए जाते हैं जिन्हें बाजगी, डूमणे, ढोली या बजंतरी कहा जाता है। बाजगी और डूमणे उस दल के सदस्य थे जो सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र से यहां आया था। गद्दियों का बांसुरी-प्रेम देश-प्रसिद्ध है ।

हिमाचल के संगीत को बाजगियों की बहुत बड़ी देन है । वह एक तरह से स्वयंसिद्ध गायक हैं। ढोल और दमामा आकार में बहुत साधारण वाद्य हैं, किंतु बाजगी उनका वादन जिस निपुणता से करते हैं, वह सुनने योग्य है। कहा जाता है कि यह वादन शास्त्रीय पद्धति पर आधारित हैं। देवता के आवाहन

अर्थात् 'गूर छेरा उणा' के समय बाजगी जिस धुन को बजाता है, वह सुनने वाले के शरीर में रोमांच-सा ला देती है, हृदय कांप जाता है। इसी प्रकार देवता के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हुए और शादी-ब्याह पर, वर यात्रा में, ढोल की ध्वनि में स्वाभाविक गति होती है। दूर से सुनने पर ही मालूम हो जाता है कि कोई देवरथ या वरपालकी गतिशील हैं, या कहीं विश्राम कर रहे हैं। इसी तरह नाटी आदि सामूहिक नृत्यों में तथा नाटारंभ व छाड़ी आदि वैयक्तिक नृत्यों में पृथक्-पृथक् वाद्यों, ताल और ध्वनि की परम्परा है। युद्ध और मृत्यु के वाद्यों की बिल्कुल भिन्न शैलियां हैं।

गीतों के साथ वाद्य का प्रयोग केवल उसी स्थिति में होता है, जब नृत्य के साथ गीत भी गाए जा रहे हों। धार्मिक अवसरों, मेलों आदि में वाद्य, गीत और नृत्य तीनों का समावेश होता है।

मेले व त्यौहार

आपत्काल, विपत्ति और संघर्ष में भी मूलभूत मानवीय मूल्यों को बनाए रखना-पहाड़ी लोगों की निजी विशेषता है। इसी ने उन्हें मेलों, त्यौहारों और पर्वों में आनंद प्राप्त करने का मार्ग दिखाया, जिससे बीते हुए कल की भयावहता, आज की समस्याओं और आने वाले कल की दुश्चिन्ताओं से त्राण पा सकें। भले ही यह मुक्ति चंद एक क्षणों की ही हो। पर्व और त्यौहारों पर लोग आमतौर पर मंदिरों में देवपूजा के लिए जाते हैं। कुछ एक ऐसे भी अवसर हैं जब दरिया में नहाना पुण्य माना जाता है। पर्व और त्यौहार प्राय: वही हैं जो देश के अन्य भागों में मनाए जाते हैं, किंतु यहां प्रत्येक संक्रांति भी एक प्रकार का पर्व मानी जाती रही है, विशेषकर वैसाख, जेठ, मघर और माघ की संक्रांतियों के दिन सगे-सम्बन्धियों को न्योता दिया जाता है, कुल-देवता की पूजा की जाती है और मंदिरों में भजन-कीर्तन होता है। जेठ की संक्रांति पर कई जगह नए अन्न के पकवान बनाकर देवार्पण किए जाते हैं। गांव के मुख्य मंदिर में मेला लगता है और गृहिणियां कचौरी, पूले, लूची, पोल्डू और बड़े बनाकर विधिवत् देवता को अर्पित करती हैं। पुरुष मंदिर के प्रांगण में देवकीर्तन करते हैं, मीरा, तुलसी, सूर, कबीर के भजन, देवी ज्वाला की भेंटें गाते हैं और नृत्य करते हैं।

छोटे-मोटे त्यौहार तो बहुत हैं, उनकी गिनती भी आसान नहीं, किंतु शिव-रात्रि, बसन्त पंचमी, होली, फाग, रली, चैत्र और आश्विन के नवरात्रे, नाग-पंचमी, जन्माष्टमी, दीपावली और दशहरा विशेष महत्त्व रखते हैं। कुछ स्त्रियां पूर्णमासी, करवा चौथ और हरितालिका का व्रत भी रखती हैं।

मेले यहां के लोगों के जीवन के अभिन्न अंग हैं। इन्हीं मेलों पर हिमाचलियों का नृत्य-संगीत-प्रेम मुखरित हो उठता है। यदि मेले न हों तो जीवन शुष्क और

नीरस हो जाएगा । कठिन भौगोलिक परिस्थितियों में जीवन बिताने वाले लोगों के लिए ये मेले मनोरंजन के साधन हैं । इन मेलों पर ही वे जिन्दगी की कड़वाहट, प्रकृति के प्रकोप और दुखों को भूल कर नाच-गाने में अपने आप को खो देते हैं। इससे वे आने वाले जीवन-संघर्षों का सामना करने के लिए नव शक्ति का सृजन करते हैं।

मेलों की सामान्यतः कोई निश्चित अवधि नहीं । कोई मेले यदि सिर्फ एक दिन या एक रात में ही समाप्त हो जाते हैं, तो किन्नौर का ऊख्योग एवं मंडी की शिव-रात्रि 8-9 दिन, चम्बा का मिंजर 10 दिन और किन्नौर का ही सुस्कर मेला और चच्योट का कुटोहच 15-15 दिनों तक चलते रहते हैं । चम्बा की चम्पावती जातर तो पूरे 23 दिनों की होती है ।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये मेले आमतौर पर फसल के आरंभ से पूर्व और फसल की कटाई के उपरान्त होते हैं । प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि यदि एक जगह फसली काम खत्म हो जाए, तो दूसरी जगह शुरू होने में हफ्ता-दस दिनों की देरी हो जाती है । इसी तरह कहीं दो-दो फसलें होती हैं, किंतु ऐसे स्थानों की भी कमी नहीं जहां केवल एक ही फसल हो सकती है । नतीजा यह है कि साल के 365 दिनों में हर रोज कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी गांव में कोई-न-कोई मेला होता रहता है । अतः हम कह सकते हैं कि इस प्रदेश में संगीत की स्वर-लहरी, वाद्य-यंत्रों की धुन और नर्तक की पदचाप कभी बन्द नहीं होते हैं ।

इन मेलों में इतिहास है, पुराण हैं, यहां के देवी-देवता, मन्दिर और देउरों का वर्णन है; नृत्य-संगीत, हर्ष-उल्लास, हास्य-विनोद, पूजा-अर्चना की झंकार है । सामाजिक मेल-मिलाप के ये सर्व-सुलभ अवसर हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक हिमाचली इन मेलों में भाग लेने के लिए लालायित रहता है । मेले जन-सम्पर्क और अपनी बात कहने का अवसर भी देते हैं । इनका यह पक्ष पुराने जमाने से प्रमुख रहा है । इसी तरह के एक मेले में विहंगमणिपाल ने लोगों को अपनी तरफ कर कुल्लू के राज्य की नींव डाली थी ।

चित्रकला

भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय हिमाचल प्रदेश ने जोड़ा है । दुनिया के प्रमुख संग्रहालयों में भारतीय चित्रों को प्राप्त करने की जो होड़ है, उसका श्रेय इन हिमाचली चित्रों को है । इस प्रदेश के चित्रों में सार्व-भौमिकता मुखरित हुई है । इनमें भारतीय आत्मा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है । इनका प्रकृति-चित्रण अनूठा है और रूप-चित्रण सजीव है । प्रेम का जैसा अपूर्व, अलौकिक और भावपूर्ण निरूपण इन चित्रों में हुआ है, वैसा शायद ही किसी

दूसरी कला-शैली में हुआ हो। इनकी लयात्मकता में ब्रह्मांड की गति की गूंज है। इन चित्रों में देश का वर्तमान और अतीत दोनों हैं, परन्तु साथ ही ये देश से परे के भी हैं। प्रेम किसी एक जाति या वर्ग, समाज या देश की ही थाती नहीं है, उस पर किसी विशेष समुदाय का अधिकार नहीं। इसलिए प्रेम को अंकित करने वाले चित्र भी सारे मानव-समाज की सम्पत्ति हैं।

"इन चित्रों में समाज के दर्शन होते हैं, संस्कृति इनमें झलकती है। ये चित्र प्रदेश की धार्मिक मान्यताओं की झांकी प्रस्तुत करते हैं और यहां के राजनीतिक उत्कर्ष की कथा कहते हैं। चूंकि ये चित्र हिमाचल के साथ लगते दूसरे पहाड़ी इलाकों में भी उपलब्ध हैं, अत: इन्हें सुविधा के लिए पहाड़ी चित्र तथा इनकी अपनी विशिष्ट शैली को पहाड़ी चित्र शैली कह सकते हैं।"[1]

भारतीय जीवन चित्रों से जुड़ा है। सरस्वती-सिन्धु सभ्यता में रंगे भांडों और ठीकरों पर जो चित्रकारी हुई है, वह हमारे पूर्वजों के चित्र-प्रेम की साख भरती है। इन भांडों और ठीकरों पर अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियां मिलती हैं, जो मुख्यत: काले और फिरोजी रंगों से बनी हैं। चित्रित आकृतियों में वृक्ष तो आते हैं किंतु मानव-आकृति का चित्र अभी तक नहीं मिला है। अपवाद के रूप में, मोर की पीठ पर नृत्य करती हुई दो मानव-आकृतियां हैं। डा० आनन्द कुमार स्वामी का कहना है कि वेदों के समय में भी चित्रों का चलन भारतवर्ष में था। उनके अनुसार ऋग्वेद में अग्नि के चित्र का हवाला है जो चमड़े पर बना रहा होगा। इसी प्रकार यह भी भासित होता है कि उस समय, इन्द्र की मूर्तियां दस गौओं में बिकती थीं।

जातकों में जिस समाज का वर्णन है, उसे हम चित्रकला से पूर्णरूप से व्याप्त पाते हैं। जातकों में विविध वर्णनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि चित्रों का समाज पर इतना अधिक प्रभाव था कि लोग उनके विरुद्ध सोचने को लाचार हो गए थे। बुद्ध के समय, चित्र इतने मोहक बनते थे कि बुद्ध ने भिक्षुओं को चित्र देखने की मनाही कर दी थी। शुक्राचार्य ने भी इसे अस्वर्ग्य अर्थात् सांसारिकता में लगाने वाला कहा है। जान पड़ता है कि बुद्ध के समय शबीह (व्यक्ति चित्र) बनाने की विद्या पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। फलत: बुद्ध को अपनी शबीह बनाने और उसकी पूजा करने का निषेध करना पड़ा। परवर्ती साहित्य जिस समाज का प्रतिबिम्ब है, उसमें चित्र का विशिष्ट स्थान मिलता है। प्रत्येक घर चित्र से अलंकृत होता था और उसकी भीति पर चित्र बनते थे। चित्र तीन प्रकार के फलकों पर बनाए जाते थे, प्रथम फलक भीति या दीवार थी, दूसरा फलक चर्म या वस्त्र था,

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन।

और तीसरा फलक लकड़ी, तालपत्र, पत्थर और हाथी के दांत होते थे ।[1]

'की' चित्र

भारतीय चित्रकला के चमत्कारों का असली खजाना अजन्ता की गुफाओं में हैं। इन गुफाओं में से कुछ तो पहली-दूसरी सदी ईसा पूर्व की हैं और कुछ चौथी से लेकर सातवीं सदी ईसवी तक की। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व जिस कला-शैली का समारंभ हुआ था और जो गुप्तकालीन स्वर्ण युग में अजन्ता और बाघ की गुफाओं में हिमालय जैसी ऊंचाई छू गई थी, हिमाचल प्रदेश की कला उसी की जाया है। अजन्ता और बाघ की गुफाओं को जिन कलाकारों ने अमरत्व प्रदान किया, और जिनके वंशजों ने अलोड़ा के विश्वविख्यात चित्रों को अंकित किया, उन्हीं के भाई-बन्धों ने हिमाचल के सीमान्त में 'की' विहार की भीतियों को भी चित्रित किया था।

स्पिति के इस बौद्ध विहार की भीतियां उसी प्रकार बौद्धधर्म विषयक चित्रों से भरी पड़ी हैं, जिस प्रकार अजन्ता की। 'की' की भीतियों पर बौद्धिसत्व, नारसिंह, बुद्ध के जीवन और जातक की अन्य कथाएं अंकित हैं। चौकठे के बाद चौकठे कला-सौष्ठव के इन मनोहारी उदाहरणों से भरे हुए हैं। इनमें देवियों के भी चित्र हैं, जिनमें तारादेवी और दुर्गा उल्लेखनीय हैं। एक ओर तो लगभग 13 मीटर लम्बी और 9 मीटर से कुछ अधिक ऊंची भीत्ति में एक ही चित्र है, जो आज भी अपनी चमक अक्षुण्ण बनाए हुए है। दुर्भाग्यवश 'की' के बहुत से चित्रों को स्वतंत्रता के बाद स्पिति में नियुक्त कला से अनभिज्ञ एक सरकारी कर्मचारी ने किसी अनाड़ी चित्रकार से पुन: रंग भरवा कर प्राय: नष्ट कर दिया है। न मूल रंगों का ध्यान रखा गया और न रेखाओं की गहनता का ही। जो कुछ थोड़े से चित्र इस चितेरे के हाथों से बच पाए, और अपने मौलिक स्वरूप को बनाए रख पाए, उनके देखने से ज्ञात होता है कि इनमें एक विचित्र-सा गौरव, एक अनूठी भारतुल्यता और कुछ-कुछ अलगाव-सा है। सभी चित्रों में रेखाओं का सुन्दर प्रयोग हुआ है। शैली में निपुणता है किन्तु उस पर तांत्रिकता का प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

इन चित्रों पर तांत्रिक प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। जैसा हम पूर्व अध्याय में देख चुके हैं, जब स्पिति, लद्दाख तथा तिब्बत में बौद्ध मत का प्रसार हुआ, तब तक वह अपनी जन्मभूमि में तन्त्रयान का रूप धारण कर चुका था। बौद्ध मत का महान् प्रचारक, पद्मसंभव, स्वयं तन्त्रयान का प्रकांड विद्वान था। 'की' विहार के लामा का कहना है कि दसवीं शताब्दी के आसपास भारतीय चित्रकारों ने इन भीति चित्रों को चित्रित किया था। चित्रों के नए रंगों के कारण इस दावे पर

1, संस्कृति के चार अध्याय।

स्पष्ट मत व्यक्त करना कठिन है। दुख केवल इतना है कि भारतीय संस्कृति की इस अनमोल खजाने की ओर कलापारखियों का ध्यान समय रहते नहीं गया।

पहाड़ी कलम

किन्तु हिमाचल की चित्रकला को ऊंचे आसन पर बिठाने का श्रेय 'की' के इन भीति चित्रों को नहीं है। वह उस लहर को है जिसने 'की' से छः सात शताब्दियों के उपरांत 17वीं से 19वीं शताब्दी तक समूचे प्रदेश को पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक आप्लावित किया था। इसी लहर द्वारा जनित शैली को ही पहाड़ी कलम का नाम दिया गया है।

पहाड़ी कलम की चर्चा करते हुए दिनकर[1] ने कहा है कि "इस शैली की परिपक्वता के प्रमाण 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से मिलने लगते हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि मुगल कलम के चित्रकार जब दिल्ली से हटने लगे, तब उन्हीं में से कुछ लोग तराइयों में चले गए तथा वहां राजपूत कलम की जो परम्परा पहले से विद्यमान थी, उसमें मुगल कलम का पुट डालकर उन्होंने पहाड़ी नामक एक नई कलमी का विकास किया। 19वीं सदी में यह कलम तराई से बाहर निकली और अन्य राज्यों में भी वर्धन और विकास पाने लगी। अमृतसर और लाहौर के सिख राजदरबारों में पहाड़ी कलम को प्रश्रय मिला था एवं पंजाब के बहुत-से व्यक्तियों के पास इस कलम के चित्र पाए गए हैं। पहाड़ी कलम राजपूत कलम की दीर्घजीविनी परम्परा है। मुगल कलम जब राजपूत कलम से मिलकर और अधिक भारतीय हो गई, तब पहाड़ी कलम का विकास हुआ।" वह आगे कहते हैं कि "पहाड़ी शैली में एक ओर मुगल शैली की परिपक्वता और दूसरी ओर भावनापूर्ण चित्रवस्तु, इन दोनों तत्वों के मिलने से एक ऐसी उपलब्धि हुई है, जो भारतीय चित्रों के लम्बे इतिहास में अजन्ता को छोड़कर, बेजोड़ है। यहां चित्रकार उन्मुक्त वातावरण में आ गया है, जहां विलास एवं मुगलों के अन्तःपुर के सीमित वातावरण से मुक्ति पाकर उसकी कल्पना अनजान ऊंचाई तक उड़ सकी है।"

यहां ध्यान देने की बात यह है कि 'की' और इस पहाड़ी कलम के जन्म एवं विकास के पूर्व वर्ष ऊसर नहीं थे, उनमें कला विलुप्त नहीं हुई थी। वह तो स्थापत्य एवं मूर्तिकला के रूप में पनपती रही। चम्बा जैसे क्षेत्रों की विशिष्ट रूमाल-चित्र शैली और किन्नौर व कुल्लू की पट्टुओं और ऊनी तथा पशमीनी चादरों पर बेलबूटी एवं चित्रकारी इस कला के प्रवाह के प्रतीक हैं। हुआ यह कि 17वीं शताब्दी के मध्य में इस लोककला को उपयुक्त वातावरण मिला, कुछ नये चित्रकार उपलब्ध हुए, नई शैली से इसका साक्षात्कार हुआ और राज-प्रश्रय तथा समुचित प्रोत्साहन

---

1. संस्कृति के चार अध्याय।

मिला। इन साजगार हालात में यह कला खिल उठी और विकास की सभी संभावनाओं का लाभ उठाकर विश्व कला क्षेत्र में अपने लिए अलग स्थान बना पाई।

प्रश्न यह उठता है कि वे परिस्थितियां क्या थीं जिन्होंने इस शैली को चार चांद लगाए ? जैसा दिनकर ने कहा, "सबसे बड़ा कारण मुगल साम्राज्य का पतन था।" मुगलों की कमजोरी पहाड़ी कला के लिए वरदान साबित हुई। किसी भी कला के लिए सर्वाधिक आवश्यक तत्व शान्त वातावरण है। वातावरण थोड़ा-सा भी तनावपूर्ण या अशांत हुआ कि फलती-फूलती कला कुम्हलाने लगती है। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में देश में एक प्रकार की अराजकता सी थी। केन्द्रीय सत्ता अपना अधिकार खो बैठी थी। मुगल साम्राज्य आखिरी सांसें ले रहा था। सन् 1739 में नादिरशाह के आक्रमण से दिल्ली त्रस्त थी। उसके बाद अहमदशाह अब्दाली ने मुगलों की शक्ति को और भी जर्जरित कर दिया था। पंजाब अब्दाली के अधिकार-क्षेत्र में था। पूर्व और दक्षिण के सूबे दिल्ली की पहुंच से बाहर हो रहे थे। आगरा और दिल्ली में अकबर के काल से चले आए कलाकार वर्ग को राज-प्रश्रय मिलना औरंगजेब ने ही बन्द कर दिया था। कलाकार एक तरह से अपने को निराधार और असुरक्षित महसूस करने लगे थे। वे शान्त वातावरण और आश्रयदाताओं की खोज में थे।

पहाड़ी राजाओं का अकबर के समय से ही मुगलों के साथ गहरा सम्पर्क था। युवराज तथा अन्य राजकुमार मुगलों के दरबार में वर्षों व्यतीत किया करते थे। इसके इलावा कांगड़ा, नूरपुर, चम्बा, जम्मू, सिरमौर आदि के राजा मुगलों के सैन्य अभियान में हिस्सा लेते रहा करते थे। इस तरह से ये पहाड़ी राजा मुगलों के तौर-तरीकों, रस्मो-रिवाज, रहन-सहन, आदाब से बखूबी वाकिफ थे। यह लाजिम था कि मुगल दरबार में काम करने वाले, या मुगलों के आश्रित कलाकारों से इन राजाओं और राजकुमारों की निजी जानकारी बढ़े। दोनों पक्ष एक दूसरे को अच्छी तरह जानने लग पड़े और जब भी उचित समय मिला, ये राजा अपनी पसन्द के कलाकार को अपने राज्य में आमंत्रित कर गए। यह निमंत्रण इन कलाकारों ने मुगलों के पतन के दिनों में सहर्ष स्वीकार किया। राजाओं में मुगलों से स्पर्धा की भी चाह थी। दोनों ने उपयुक्त अवसर पाया। चित्रकार आगरा और दिल्ली छोड़ शिवालिक और हिमालय की गोद में आ गए। यहां आकर उन्हें सुरक्षा मिली, धन-धान्य मिला, राज्याश्रय मिला, अपने अभिभावकों और प्रश्रय-दाताओं से दैनिक सम्पर्क का मौका मिला और उससे भी बढ़कर हिमालय का प्राकृतिक सौन्दर्य मिला और अद्वितीय पहाड़ी मानवों का रूप मिला।

इसके अतिरिक्त, इन चित्रकारों को सौ-डेढ़ सौ वर्षों में पहली बार अपनी कला की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता मिली। मुगल दरबार में मुस्लिम धर्म के

बन्धन के कारण और बाद में औरंगजेब जैसे कलाद्वेषी शासकों की संकुचित नीतियों के कारण वे कुछ घुटे-घुटे महसूस कर रहे थे। उनका कलाक्षेत्र सीमित रह गया था। आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में "मुगल कला का उद्भव, विकास और ह्रास केवल दो सौ वर्षों में पूरा हो जाता है।" हिमाचल में आकर ही ये कलाकार खुलकर अपने साहित्य, धर्म और संस्कृति को आधार बना,चित्र बना पाए।

उत्तरी भारत में साहित्य का भक्तिकाल समाप्त होकर रीतिकाल में बदल रहा था, परन्तु बारहवीं शताब्दी से चले आये वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अन्त नहीं हुआ था, हां, आराध्य राम, और विशेषकर कृष्ण साधारण मानवीय रूप में परिवर्तित होते जा रहे थे। इसकी शुरुआत जयदेव ने गीतगोविन्द और विद्यापति ने अपनी पदावली से कर ली थी। साहित्यकार और कलाकार, कवि और चितेरे इस आन्दोलन से प्रभावित थे। कवि तो अपने भावों की अभिव्यक्ति कर लेते थे, किन्तु चित्रकार नहीं कर पाए। उन्हें इसके लिए राजपूत राजाओं के राज्यों में राजस्थान तथा अन्यत्र जाना पड़ा। राजस्थानी तथा दूसरे राजपूत राजवंशों के साथ हिमाचल के राजवंशों का शादी-ब्याह का रिश्ता था। आम तौर पर हिमाचल के राजपूत राजा राजस्थान में ही रिश्ता पसन्द करते थे। इस प्रकार दोनों तरफ से सम्पर्क गहरा हुआ। जो राजस्थानी राजकन्यायें हिमाचल में ब्याही गईं वे अपने साथ राजस्थानी कला के नमूने जरूर लाईं होंगी; और जो हिमाचली बेटियां राजस्थान गईं, उनके साथ जाने वाले राज-परिवार के सदस्यों का सम्पर्क राजस्थानी चित्रकारों से बढ़ा होगा। यह भी मुमकिन है कि इन राजकुमारियों ने राजस्थानी चित्र अपने पीहर भिजवाए होंगे। इस तरह से हिमाचली राजवंश मुगल और राजस्थानी दोनों शैलियों से स्वयं भी परिचित थे और अपने चित्रकारों को भी दोनों शैलियों के नमूने दे सकते थे।

उत्तरी, पूर्वी भारत से सिद्ध, नाथ योगी, वैरागी व वैष्णव साधुओं का हिमाचल में आना-जाना बराबर बना हुआ था। वे देश में होने वाले भक्ति-आन्दोलन से पूरी तरह परिचित थे। वे लोग पहले ही इस प्रदेश में राम-कृष्ण पर आधारित संस्कार गीतों का प्रचलन करवा गए थे। इसके अतिरिक्त भक्तों की वाणी और भ्यांदड़े (प्रभाती) के वैष्णव गीतों को भी उन्होंने प्रदेश में लोकप्रिय बना दिया था। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में कुल्लू में बाबा पयहारी का अखाड़ा, डमटाल में बाबा शामदास और भगवान का आश्रम तथा सिरमौर में बाबा बनारसीदास का स्थान वैष्णव भक्ति के केन्द्र थे। इन्हीं स्थानों पर भक्ति का श्रृंगारपरक स्वरूप भी आना शुरू हो गया था। सूरदास के पद, मीरा के भजन तथा अन्य सन्त कवियों की वाणी इनका मुख्य आकर्षण था।

पहाड़ी राज्यों में परम्परा से चली आती लोककला के द्वारा मुख्यतः देवी-

देवताओं को ही अंकित किया गया था। यह बात भीति चित्रों, रूमालों, चोलियों, पंखों आदि पर की जाने वाली कशीदाकारी से सिद्ध हो जाती है। अत: लोककला ने पहले से ही उपयुक्त भूमि तैयार कर रखी थी, जो वैष्णव साहित्य और रीतिकालीन शृंगारिक कथावस्तु के सम्मिश्रण से नये रूप में वेगवती धारा बन कर प्रवाहित हो गई।

अठारहवीं सदी पहाड़ी राजाओं के लिए आशा का काल था। त्रिगर्त का प्राचीन राज्य एक बार फिर अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाने के स्वप्न देख रहा था। अन्य राजा राणा अपनी-अपनी शक्ति सुदृढ़ करने की कोशिश में थे। समूचे समाज में आगे बढ़ने का उत्साह था, अपने आप पर विश्वास था। मुगल सेना में उच्च पदों पर आसीन होकर मध्य एशिया जैसे इलाकों को फतह कर यहां का शासक-वर्ग अपनी शक्ति पहचान चुका था। सन् 1758 ई० में दुर्रानी ने संसारचन्द के पितामह घमंडचन्द को जालन्धर द्वाब का गवर्नर नियुक्त किया था। इस घटना ने कटोच्चों के मन में चिर-संचित अभिलाषा को प्रोत्साहन दिया। इसने कांगड़ा राज्य को बिजली की तरह झंकृत कर दिया। इस तरह की उत्साहवर्धक परिस्थितियां ही वस्तुत: उच्च कला को जन्म देती हैं अत: आश्चर्य नहीं कि इस काल में उत्कृष्टतम चित्र सामने आए।

विभिन्न केन्द्र

इस प्रदेश में चित्रकला के लगभग 40 केन्द्र रहे, या यों कहें कि यहां जितने राज्य थे, उनकी राजधानियां सामान्यत: कला की स्थली थीं। उल्लेखनीय केन्द्र गुलेर, हरिपुर, कांगड़ा, नूरपुर, नदौन, टीरा, सुजानपुर, आलमपुर, चम्बा, मंडी, सुकेत, कुल्लू, बिलासपुर, अर्की, सिरमौर और रामपुर थे। इस संबंध में अधिकारपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्येक केन्द्र में चित्रकारों का पृथक् वर्ग था, उनका अपना-अपना घराना था, या एक राज्य के कमजोर हो जाने पर ये चित्रकार दूसरे राज्य में जाकर नया आश्रयदाता खोज लेते थे। लगता यह है कि बड़े-बड़े राज्यों में चित्रकारों के अपने वर्ग, अपने घराने भी रहे होंगे और अन्य स्थानों से जाकर नई जगह भी बसे होंगे। चित्रकारों का कई पुश्तों तक एक सक्रिय घराना पंडित सेऔ का था। सेऔ पंडित मैदान से आकर जसरोटा में बसा था। उसका पुत्र नैनसुख तो वहीं रहा, किन्तु पौत्र निक्का गुलेर आ गया, जहां इस परिवार के कामा, मानक अथवा मानकू, जीहरू और रामलाल चित्रकार हुए। संसारचन्द के दरबार के कुछ चित्रकारों के नाम थे—खुशाला, कुशनलाल, बसिया, फत्तु और पुरखू। पुरखू एक निपुण कलाकार था और बसिया सिद्धहस्त चितेरा। बसिया का प्रपौत्र लक्ष्मणदास बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक चित्र बनाता रहा। इसी तरह सिमलोटी का गुलाबूराम भी हाल तक चित्रण करता रहा। पद्मू और दोखू

नाम के दो और चितेरों का नाम कांगड़ा दरबार से संबंधित है। चम्बा में दुर्गा, कुल्लू में सजनू और भगवान, नूरपुर में नरोत्तम, मोतीराम और मुहम्मदी के नाम विख्यात हैं। आमतौर पर ये चित्रकार तरखाण कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण, राजपूत हिन्दू, मुसलमान सभी थे।

उपर्युक्त केन्द्रों में भी शैली की दृष्टि से गुलेर और कांगड़ा का स्थान सबसे ऊपर है। असल में गुलेर से ही पहाड़ी कलम की शुरूआत मानी जाती है। गुलेर कलम का पहला चित्र सतारहवीं सदी के मध्य का मिलता है। कांगड़ा कलम का स्वर्ण युग संसारचन्द का शासनकाल है। सन् 1800 ई० के आस-पास के 'ग्रीष्म स्नान' और 'प्रेमज्वर' इस शैली के उत्कृष्ठ नमूनों में से हैं।

पहाड़ी कलम की तीन माध्यमों द्वारा अभिव्यक्ति हुई है और इसके फलक के लिए कागज, भीत्ति और रुमाल, पट्टू व चादर का प्रयोग हुआ है। कथावस्तु के आधार पर हम इन चित्रों का विभाजन इस तरह कर सकते हैं—धार्मिक और पौराणिक; ऐतिहासिक; श्रृंगारिक; रागमाला; और लोक जीवन पर आधारित। भूरे रंग के सियालकोटी कागजों पर बने लघु चित्र ही वास्तव में पहाड़ी कला के प्रतिनिधि हैं।

रामायण, महाभारत, जातक, भागवत, विष्णु और शिव पुराण के रोचक प्रसंगों पर सहस्रों चित्र बनाए गए हैं। नल-दमयन्ती, सत्यबान-सावित्री की गिनती भी हम धार्मिक व पौराणिक वर्ग में कर सकते हैं। एक वाक्य में कहें तो वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध, सभी प्राचीन धार्मिक आन्दोलनों का प्रतिनिधित्व करने वाले चित्र बहुत बड़ी संख्या में हैं। ऐतिहासिक चित्र मुख्यत: आश्रयदाता राजाओं के रूपचित्र हैं। रागमाला के चित्र पृथक् वर्ग बनाते हैं।

श्रृंगार ऐसा विषय है, जिससे समूची पहाड़ी कला ओत-प्रोत है। गीतगोविंद और केशवदास की कविप्रिया और रसिकप्रिया तथा बिहारी की सतसई जैसे रीतिकालीन काव्य, बारहमासा, कृष्णलीला और रासलीला को मूर्त रूप देने का श्रेय इसी कलम को है।

केन्द्र-बिन्दु

लेकिन सच्चाई यह है कि "नारी और उसका प्रेम पहाड़ी कलम का केन्द्र-बिन्दु है। स्त्रियों की आकृतियों के रेखांकन में प्रवाह है, लय है। रेखाओं से एक अनिर्वचनीय संतुलन और लयात्मकता का सृजन किया है। उजले रंग और बारीक रेखाओं से चित्रकार ने नारी की सुकुमार देह और आकृति में अपार सुषमा, शरीर में लावण्य और मुख पर विशिष्ट कांति भर दी है।"[1]

---

1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन

लगभग दो शताब्दियों तक यहां का चित्रकार नारी को चित्रित करता रहा। परिणामत: उसका जो स्वरूप निखरा वह विश्व में अद्वितीय है। अत्यन्त श्रेष्ठ इक्के-दुक्के स्त्री-चित्र हर कहीं बने होंगे। 'मोना लिसा' और 'वर्जिन मेरी' जैसी महान कृतियां कई चितेरे बना पाए किन्तु स्त्री-शरीर का ऐसा लयात्मक, गीतात्मक, कलात्मक रूप और उसका सामूहिक सृजन शायद ही किसी दूसरी कला-शैली में हुआ हो।

रीतिकाल के कवियों की तरह इन त्रखाणों ने नारी के अंग-प्रत्यंग और नख-शिख का चित्रण किया। उसका आठों पहर और बारह महीनों का जो जीवन है, उसी के ताने-बाने से इन्होंने अपना फलक भरा। पुरुषों को, यहां तक कि स्वयं कृष्ण को, कई बार केवल पृष्ठभूमि के लिए, या राधा-आकृति के प्रभाव को बढ़ाने के लिए अंकित किया गया है। यदि इन चित्रों से कृष्ण को हटा दिया जाए,तो भी चित्र के सौन्दर्य में अधिक अन्तर नहीं आएगा, लेकिन यदि राधा को निकाल दिया जाए, तो चित्र अपनी सार्थकता ही खो बैठेगा।

कृष्ण

पहाड़ी चित्रकार ने कृष्ण की कल्पना विशुद्ध मानवीय परिवेश में की है। उन्हें गीता के कृष्ण की निस्बत गीतगोविन्द में वर्णित कृष्ण के प्रेमाचार को चित्रित करना ही प्रिय लगा। कृष्ण मानव है, एक प्रेमी है। वह सिर्फ नायक है और राधिका नायिका। इस प्रकार वैष्णवों के आराध्य राधाकृष्ण, जिनका गान करते-करते अन्धा सूरदास भक्तिभाव से सुधबुध बिसरा देता था, शृंगार के विविध चरणों, पूर्वराग, मिलन, संभोग, विरह और भाव-सम्मिलन के स्पष्टीकरण के माध्यम मात्र बनकर रह गए। प्रत्येक नायक कृष्ण बन गया और प्रत्येक नायिका राधा। भक्ति का स्थान कामुकता ने ले लिया और राधा-कृष्ण मानवीय प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति के साधन बन गए। इसका मुख्य कारण शायद समाज का विलासितापूर्ण सामन्ती रूप रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज अपना दायित्व भूल शृंगार में डूब रंगरलियां मनाता रहा हो।

आठवां अध्याय

नवजागरण

ठकुराइयों और रियासतों की सीमाओं को लांघकर बड़ी प्रशासनिक इकाई बनने के क्रम का पहला चरण गोरखों और सिखों की बेदखली के बाद अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित हो जाने से ही शुरू हो गया था। व्यास घाटी की आठ रियासतों को समाप्त कर अंग्रेजों ने कांगड़ा, कुल्लू, लाहुल और स्पिति का एक जिला बना दिया था, जिसका मुख्यालय भी कांगड़ा न रखकर भागसू (धर्मशाला) बना दिया था। प्राचीन त्रिगर्त केवल इतिहास की कहानी मात्र शेष रह गया था।

क्षोभ

सन् 1846 में अंग्रेजों और सिखों के बीच हुई सन्धि के अनुसार सतलुज और व्यास के बीच के सभी क्षेत्र अंग्रेजों के हाथ में आ गए थे। इस क्षेत्र के राजाओं को आशा थी कि जिस प्रकार अंग्रेजों ने सतलुज घाटी के राजाओं को गोरखों के चंगुल से मुक्त करा उन्हें उनके राज्य वापिस कर दिए थे, उसी प्रकार उनकी रियासतें भी वापिस दे दी जाएंगी। लेकिन रावी के क्षेत्र में चम्बा, और व्यास घाटी में मंडी-सुकेत को छोड़ अंग्रेजों ने यह सारा इलाका अपने अधीन ले लिया। राजाओं को जागीरें और पेंशनें देकर किनारे बैठा दिया था। अपनी पैतृक सम्पत्ति और शक्ति एवं अधिकार खो जाने से क्षुब्ध हो इन सभी राजाओं ने अंग्रेजों की सत्ता को ही समाप्त करने का प्रयत्न किया और एक बार नूरपुर से लेकर रोपड़ तक का सारा क्षेत्र अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह से भड़क उठा। इस विद्रोह में नूरपुर के रामसिंह की भूमिका विशेष उल्लेखनीय रही थी। विद्रोही राजाओं को अंग्रेजों ने बन्दी बना कर अल्मोड़ा भिजवा दिया था।

उधर सतलुज क्षेत्रीय रियासतों को अंग्रेजों ने, शिमला, स्पाटू, कोटगढ़, कोटखाई जैसे सामरिक महत्त्व के स्थानों को छोड़, ठाकुरों, राणाओं और राजाओं को लौटा तो दिया था लेकिन उन पर पोलिटिकल अफसर एवं सुपरिन्टेन्डेन्ट जैसे अंग्रेज अफसर लाद दिए थे। ये अफसर न केवल राजाओं-राणाओं की गतिविधियों पर नजर रखते थे, बल्कि इनकी मंजूरी के बिना कोई महत्त्वपूर्ण कदम उठाया

ही नहीं जा सकता था। इस प्रकार यहां भी अंग्रेजों ने प्रच्छन्न रूप से अपना ही अधिकार जमा दिया था। वे ही राजाओं के उत्तराधिकारियों और वजीरों आदि की नियुक्ति किया करते थे। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों को खुश रखना ही इन राजाओं का परम धर्म बन गया। अपनी सुरक्षा की जिम्मेदारी अंग्रेजों के हवाले कर इन लोगों ने अपना जीवन ऐशोआराम में डुबो दिया। वजीर आदि अहलकार मनमानी करने लगे। राजा लोग पोलिटिकल अफसरों और सुपरिटेन्डेन्टों को खुश रखने के लिए और अपने दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिए प्रजा के ऊपर बेतहाशा कर लगाने लगे, बेगार लेने लगे।

निरंकुशता

इक्के-दुक्के अपवादों के सिवाय राजा प्रायः गैर जिम्मेदार बन गए। उनको और प्रजा के बीच संबन्धों का जो सिलसिला चला आ रहा था, वह टूट गया और राजा के देवता रूप में भी बदलाव आता गया। प्रजा कुशासन की दोहरी चक्की में पिसने लगी, उसकी सुनवाई के मार्ग एक प्रकार से बन्द हो गए। जनता ने कुप्रबन्ध एवं करों के असहनीय भार के विरुद्ध आन्दोलन चलाए, लेकिन अंग्रेजों की सहायता से उन्हें कुचल दिया गया। इस प्रकार के विद्रोह 1859 में बुशैहर में, 1870 और 1880 में सिरमौर, 1876 में नालागढ़ और सुकेत, 1883 और 1930 में बिलासपुर और 1905 में बाघल में हुए थे।

दोहरा आन्दोलन

इस तरह अंग्रेज-शासित क्षेत्रों में पुराने राजाओं, मियांओं और राजकुमारों ने विद्रोह किए और उधर राजाओं की रियासतों में लोगों ने इन राजाओं के विरुद्ध छुट-पुट आन्दोलन चलाए। चाहे उद्देश्य जो भी रहा हो, कारण कुछ भी रहे हों, दोनों क्षेत्रों में किसी-न-किसी रूप में आजाद होने की भावना ने जन्म ले लिया था। कांगड़ा-कुल्लू आदि अंग्रेज-शसित इलाकों के लोगों को देश के अन्य आंदोलनों में हिस्सा लेने के मौके मिले, लेकिन रियासतों के लोगों को राजाओं से ही छुटकारा पाने के संघर्ष में जूझा रहना पड़ा।

नतीजा यह हुआ कि इस पहाड़ी क्षेत्र के लोग दो भागों में बंट गए और उनके आन्दोलनों के स्वरूप भी दो तरह के हो गए। एक भाग राजाओं की दासता से मुक्त हो गया और दूसरा उनकी बेड़ियों में जकड़ा रह गया। इसका सीधा प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र पर भी पड़ा। व्यास उपत्यका के लोगों के बीच आधुनिकीकरण, जागरण की लहर पहले आ गई। उनके माध्यम भी पृथक् रहे। कांगड़ा, कुल्लू के लोग कांग्रेस जैसे राजनीतिक और आर्य समाज जैसे धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों में भाग लेने लगे, लेकिन सतलुज-गिरि क्षेत्र के लोगों को 'सुधार

सभाओं', 'भ्रातृ-मंडलों' और 'प्रजा-मंडलों' का सहारा लेना पड़ा। ये राजा लोग अधिकांशत: पुरातनवादी थे अत: उन्होंने सामाजिक चेतना से भी अपने लोगों को अछूते रखने का प्रयत्न किया। लेकिन कब तक ?

जन-प्रयास

बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक ये रियासतें भी देश में चले आ रहे स्वतंत्रता-आन्दोलन से प्रभावित होने लग पड़ीं। मंडी के हरदेव तथा हिरदाराम ने गदर पार्टी में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्हीं से प्रेरित होकर मंडी में एक युवक-संस्था बनी जिसके प्रमुख सदस्यों में राजा भवानीसैन की खैरागढ़ी रानी भी थीं। इस संस्था के कुछ अन्य सदस्य थे सिद्धु खराड, सिद्धु, ज्वाहरसिंह, ज्वालासिंह, बदरी, शारदाराम, लौंगू और दलीपसिंह। इन्होंने मंडी और सुकेत में क्रांतिकारी आंदोलन की ज्वाला भड़काई। रानी खैरागढ़ी को देशनिकाला दिया गया और अन्य नेताओं को कैद की लम्बी-लम्बी सजायें दी गईं। इससे पूर्व शोभाराम ने मंडी शासकों के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया था और विफल होने पर काला-पानी की सजा भुगती थी।

शिमला और कांगड़ा कांग्रेस के आन्दोलनों के केन्द्र थे। अंग्रेजों की ग्रीष्म-कालीन राजधानी शिमला में पंडित गैंदामल, मौलाना मुहम्मद नौनी, अबदुलगनी, ठाकुर भागीरथ लाल और हकीम त्रिलोकनाथ थे। कांगडा में पहाड़ीगांधी बाबा कांशीराम, ठाकुर हजारासिंह, गोपालसिंह और चतुरसिंह सन् 1927 में सुजान-पुर के निकट तल के विख्यात कांग्रेस सम्मेलन के प्रमुख नेता थे। अंग्रेजों की बलोची पुलिस ने कार्यकर्ताओं को मारा-पीटा, उनकी गांधी टोपियां उतार फेंकीं। नेताओं को गिरफ्तार कर मुकद्मा चलाया गया और उन्हें लम्बी कैद की सजाएं दी गईं। अंग्रेजों द्वारा कांगड़ा में दमनचक्र का एक यह भी कारण था कि अंग्रेजी फौज में कांगड़ा के बहुत सारे लोग भर्ती थे। वे नहीं चाहते थे कि डोगरों के इस भर्ती क्षेत्र में किसी प्रकार का आन्दोलन जड़ पकड़े। इसी सभा में पहाड़ी गांधी ने यह व्रत लिया कि जब तक देश आजाद नहीं हो जाता, वह काले कपड़े ही पहना करेंगे। कामरेड रामचन्द्र अपने विद्यार्थी-जीवन से ही स्वतंत्रता-संग्राम से संबद्ध हो गए थे और सारी उमर आजादी की जंग में भाग लेते रहे। ऊना आदि क्षेत्रों में श्रीमती सरला शर्मा ने स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय भाग लेकर जनता में नवजीवन का संचार किया। उनके पति कामरेड परसराम ने कांगड़ा के लोगों को संगठित करने और उनमें आजादी के प्रति उत्साह जागृत करने में बड़ा योगदान दिया। यह दम्पति युवक-युवतियों के लिए प्रेरणा-स्रोत रहा और इसने गरीबी, अज्ञान-जनित शिथिलता को दूर करने में बड़ा काम किया।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में न केवल राजनीतिक आन्दोलन चले, बल्कि अनेक

धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने भी लोगों को प्रभावित कर नई चेतना फैलाई, जिसने हिमाचल के गठन के बाद प्रदेश में नव जागरण का सूत्रपात किया और चहुंदिशी विकास के वे आयाम स्थापित किए, मूल्यों में वह बदलाव आया कि समाज का स्वरूप ही एकदम बदल गया।

युवा नेतृत्व

प्रत्येक परिवर्तन लाने में सदैव, सर्वत्र युवा-वर्ग का हाथ हुआ करता है। वे ही हर क्रान्ति के सेनानी होते हैं। हिमाचल प्रदेश में भी यही स्थिति रही। यहां से लोग पढ़ाई के लिए बाहर जाते रहे। उच्च शिक्षा के लिए यहां कोई सुविधा नहीं थी। ले-दे के एक-आध इंटरमीडियेट कालिज थे। रियासतों में तो थोड़ी-बहुत नौकरियां राजदरबारों में मिल जाती थीं, अंग्रेजी इलाकों में नौकरियां ज्यादा नहीं थीं, इसलिए नौकरी के लिए भी बाहर ही जाना होता था। कांगड़ा से तो युवक मुख्यत: फौज में जाते थे, जहां उन्हें केवल सिपाही भरती किया जाता था। यदि फौज में भरती नहीं हो पाए, तो कहीं-न-कहीं घरेलू नौकरी कर लिया करते थे। इधर शिमला के आसपास के लोग बाहर जाकर घरेलू नौकर ही बन पाते थे, या शिमला में सरकारी दफ्तरों में नौकरी कर लेते थे। अकसर ये नौकरियां छोटे दर्जे की हुआ करती थीं, क्योंकि उच्च शिक्षा तो बहुत कम लोग प्राप्त कर सकते थे। पढ़ाई का केन्द्र लाहौर हुआ करता था। लेकिन इस स्थिति का एक अच्छा नतीजा यह हुआ कि ज्यादा से ज्यादा लोग देश की परिस्थितियों से वाकिफ होते गए। उनका सम्पर्क बढ़ता गया और अपनी हालत पर वे गहराई से सोचने लग पड़े।

रियासतों में राजनीतिक क्षेत्र में युवक प्रजामंडल की गतिविधियों के साथ जुड़ गए और जब सन् 1945 में शिमला में हिमालयन हिल स्टेट्स रीजनल कौंसिल का गठन हुआ। इन प्रजामंडलों का जाल काश्मीर से लेकर गढ़वाल तक फैल चुका था। इस कौंसिल के डा० यशवन्तसिंह परमार, सर्वश्री पद्मदेव, शिवानन्द रमोल, सत्यदेव बुशैहरी, दौलतराम सांख्यायन, सदाराम चंदेल और मनसाराम अग्रणी नेता थे। सन् 1946 में चम्बा से गढ़वाल तक की 48 रियासतों के प्रतिनिधियों की जो कान्फ्रेंस मंडी में हुई, उसमें इस क्षेत्र के लोगों ने पहली बार प्रदेश के भावी राजनीतिक स्वरूप की परिकल्पना का स्पष्ट चित्रण किया। कान्फ्रेंस ने एक प्रस्ताव पास किया कि सारी पहाड़ी रियासतों के नुमाइंदों की एक निर्वाचित संस्था बनाई जाए जिसे रियासतों में मन्त्री व कर्मचारी नियुक्त करने के अधिकार हों।

एकीकरण की ओर

देश के स्वतंत्रता-संग्राम में युवकों ने प्रदेश के भीतर और बाहर खुलकर काम किया। कांगड़ा, शिमला, कुल्लू, आदि इलाकों के लोग कांग्रेस में शामिल

होकर कार्यरत थे और रियासतों में प्रजामंडलों द्वारा यह आन्दोलन चलाया जा रहा था। अंग्रेजी इलाकों में हो रहे संवैधानिक परिवर्तनों का प्रभाव रियासतों पर भी पड़ रहा था और वहां जो प्रान्तीय सरकारें सन् 1937 के चुनाव के बाद बनी थीं, उनसे ही प्रेरित होकर रीजनल कौंसिल ने मंडी कान्फ्रेंस का प्रस्ताव पास किया था।

सन् 1947 में देश आजाद हुआ, लेकिन रियासतों की प्रजा तो गुलाम ही रही। उन पर राजाओं-राणाओं का शासन बना ही रहा। इसीलिए, सन् 1948 के प्रारंभिक दिनों में, देश की आजादी के पांच महीने बाद, इन रियासतों की प्रान्तीय स्तर पर सिरमौर के शिवानन्द रमोल की प्रधानगी में एक अस्थायी सरकार का गठन किया गया, जिसमें बुशैहर के पद्मदेव, सुकेत के मुकुन्दलाल और बिलासपुर के मास्टर सदाराम चन्देल सदस्य थे। जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थी और राजा-राणा अपने अधिकारों को बनाए रखने में प्रयत्न-शील थे। इन शासकों को देश की राजनीतिक एवं सामाजिक मुख्य धारा में लाने के लिए जनता को काफी लम्बा संघर्ष करना पड़ा। धामी, मंडी, पझौता, रामपुर-सराहन, सुकेत, सभी जगह आन्दोलन किए, गोलियां खाईं और राजाओं की जेलें भरीं।

नायक

इस लम्बे राजनीतिक संघर्ष में कुछ नाम बार-बार उभर कर सामने आते हैं, जिन्होंने युवकों को उत्साहित करने, उन्हें प्रेरणा देने, उनके आत्मसम्मान को जगाने और अपने अधिकारों के प्रति सजग करने तथा संगठित करने में उल्लेखनीय काम किया है। इस तरह के लोग न केवल राजनीति बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में थे।

गदर पार्टी के गठन से भी पहले मंडी में शोभाराम ने सशस्त्र विद्रोह कर सारी रियासतों में सनसनी पैदा कर दी थी और गदर पार्टी के काम में हरदेव और हिरदाराम ने बड़ा नाम पाया। बम्ब बनाने में माहिर हिरदाराम को तो मौत की सजा सुनाई गई थी। हरदेव पुलिस के हाथ नहीं आ पाया और साधु बन कर स्वामी कृष्णानन्द बना। वह भारतीय कांग्रेस के जाने-माने सदस्यों में से रहा। उसने पार्टी के लिए सिन्ध में बहुत काम किया। रानी खैरागढ़ी का उल्लेख हम कर ही चुके हैं कि किस प्रकार उसने क्रांतिकारियों की सहायता में अपना सब कुछ स्वाहा कर दिया था। स्वामी पूर्णानन्द का नाम भी सफल जन-प्रतिनिधित्व करने के लिए आदर से लिया जाता रहा है।

सिरमौर से, हम देख चुके हैं, शिवानन्द रमोल, डा० यशवन्त सिंह परमार और पझौता आंदोलन के नायक वैद्य सूरत सिंह, बस्तीराम पहाड़ी, चौधरी शेरजंग एवं चेतसिंह वर्मा और बुशैहर से पंडित पद्मदेव, सत्यदेव बुशैहरी, ठाकुर-

सेन नेत्री और घनश्यामदास, जुब्बल से भागमल सौहटा, बाघल से हीरासिंह पाल, बिलासपुर से दौलतराम सांख्यायन, कसौली के सूबेदार भीमसिंह, कुल्लू से कंवर टेढ़ीसिंह और लालचन्द प्रार्थी, लाहुल से ठाकुर खुशहाल सिंह, कांगड़ा से रामसिंह पठानिया, कामरेड रामचन्द्र, कामरेड परसराम, बाबा काशीराम पहाड़ी गांधी, अमरनाथ, ब्रह्मानन्द और सरला शर्मा चन्द एक ऐसे नेता हैं, जिन्होंने युवक-युवतियों के लिए आदर्श का काम किया। इनके कार्यकलापों के विवरण लोकवार्ता के अंग बन गए। इनमें से बहुतों पर गीत बने।

लेकिन राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने में अप्रैल 1948 में हिमाचल के निर्माण ने सबसे ज्यादा प्रभाव डाला। विलय होने वाली रियासतों की जनता इतिहास में पहली बार एक प्रशासनिक इकाई में बंध गई और पहली बार ही फरवरी 1952 में आम चुनाव में भाग ले सकी। यह नितान्त अलग अनुभव था, अत: जब डा० परमार के मुख्यमंत्रित्व में तीन सदस्यों के मन्त्रिमंडल ने प्रदेश का कार्य-भार संभाला, तो जनता का उत्साह केवल राजनीतिक आधार पर ही नहीं था, उससे भी बढ़कर वह सांस्कृतिक था। पहली बार हिमाचल के आदमी का अपना व्यक्तित्व बना, वह अपने भाग्य का खुद मालिक बना। राजा-राणा हट गए और जनता उनके स्थान पर बैठ गई। मजेदार बात यह हुई कि अंग्रेजी इलाकों में तो चुनाव भारत के अन्य भागों की तरह सन् 1919 के बाद से होने शुरू हो गए थे और आजादी मिलने पर पहले आम चुनाव में वहां से ज्यादा संख्या में प्रतिनिधि पंजाब के विधानमंडल में गए। लेकिन वे उसी तरह बहुत बड़े जिला में पंजाब राज्य के भाग रहे। देश के बंटवारे के कारण केन्द्र और राज्य का सारा ध्यान पाकिस्तान से आए विस्थापितों को दोबारा बसाने की तरफ था, इसलिए कांगड़ा-कुल्लू के लोगों का शासन के साथ उस सीमा तक सीधा दखल नहीं रहा जितना नवगठित हिमाचल की जनता का हो पाया। इस स्थिति से जहां उनमें पंजाब के प्रति सौतेलेपन का भाव-सा पैदा होने लगा, वहां हिमाचल के प्रति मानसिक, भावात्मक एकता का भाव ज्यादा मजबूत हो गया। हिमाचल का आकर्षण बहुत बढ़ा, वहां के विकास की गति ने प्रभावित किया। उन्हें नौकरियां पंजाब की अपेक्षा हिमाचल में ज्यादा मिलने लगीं। विडम्बना यह रही कि जो क्षेत्र राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक दृष्टि से अपने आपको तुलनात्मक रूप से आगे समझता था, वही हिमाचल बनने से पीछे पड़ गया। उसमें भी हिमाचल के साथ मिलकर सम्पूर्ण पहाड़ी प्रान्त बनाने की भावना मजबूत होती गई।

जब केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त राज्य पुनर्गठन आयोग ने सन् 1956 में बहुमत द्वारा हिमाचल प्रदेश को पंजाब के साथ मिलाने की सिफारिश की, तो सारे क्षेत्र में चनाब रावी से लेकर यमुना तक, इसका तीव्र विरोध किया गया। यह महसूस किया गया कि यदि हिमाचल का पंजाब में विलय कर दिया जाए, तो

इस क्षेत्र का विकास तो रुकेगा ही, इसकी सांस्कृतिक परम्परा और निधि को बहुत भारी धक्का लगेगा। विरोध के तूफान की तीव्रता को देखकर केन्द्र सरकार हिमाचल को अलग रखने के लिए तैयार तो हो गई, लेकिन बदले में जनता को लोकतन्त्रात्मक प्रणाली को कुरबान करना पड़ा। इस कड़ी में हिमाचल की पृथक् सत्ता को बचाए रखने का बहुत बड़ा श्रेय डा० परमार को जाता है, जिन्होंने प्रदेश के भविष्य को सुरक्षित करने के लिए अपना मुख्यमन्त्री का पद छोड़ दिया।

परमार व प्रार्थी

यों भी डा० यशवन्त सिंह परमार का हिमाचल के नवजागरण में बहुत बड़ा योगदान है। वह सही अर्थों में हिमाचल के निर्माता हैं। वह स्वप्नद्रष्टा थे और स्वप्न की पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। उन्हें पहाड़ी होने और पहाड़ी कहलाने का गर्व का। यहां की संस्कृति से उनका अथाह लगाव था। सांस्कृतिक जागृति के सन्दर्भ में दूसरा नाम लालचन्द प्रार्थी का है। प्रार्थी न केवल राज-नीतिक व्यक्ति थे, वह कलाविद् थे, नर्तक, गायक, कवि, लेखक एवं अन्वेषक थे। लोकवार्ता के विविध आयामों से उनका अत्यन्त गहरा परिचय था। उनकी 'कूलूत देश की कहानी' ने उसी प्रकार प्रदेश की जनता को प्रभावित किया, जैसा कुछ दशाब्दियों पहले चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' नाम की कहानी ने सारे हिन्दी भाषाई क्षेत्र को किया था। प्रार्थी की गजलों में अनूठा सोज था, देश-प्रेम था, तड़पन थी। जिस तरह कुछ पहले पहाड़ी गान्धी ने कहा था कि

"जिन्दगी मौत एक कहानी है, कांशी इक मुट्ठी राख की निशानी है।"

और

"जिन्दगी से जिन्दगी बेजार हो गई, मौत भी डरती है कि आती नहीं।"

उसी ढंग से प्रार्थी भी कभी कहा करते थे कि

"खुशी की बात मुकद्दर से दूर है बाबा, कहीं निजाम में कोई फतूर है बाबा।
शिकस्ता जाम लिए यूं खड़ा हूं मैहशर में
कि लोग देखें यह मय का गरूर है बाबा।"

उन्हें मलाल था कि

"रोशनी लूट ली उभरे हुए मीनारों ने, पस्त जर्रों के मुकद्दर में वही रात रही।"

लेकिन उन्होंने कभी मन नहीं हारा। वह कहते थे कि

"घबरा न अंधेरे में शबे गम के मुसाफिर, तेरे लिए बेताब है आगोश सहर का।"

क्योंकि उन्हें अपने प्रदेश से प्रेम था, उनके लिए इकबाल के शब्दों में—

"पत्थर की मूर्ति में समझा है तू खुदा है,
खाके वतन का मुझ को हर जर्रा देवता है।"

यहां की मिट्टी का हर कण देवता था। डा० परमार और प्रार्थी ने इन्हीं कणों को संजोने, इन्हीं देवताओं के अमरत्व को सुनिश्चित करने के लिए अनथक प्रयत्न

किए। भाषा संस्थान बनाया, साहित्य, कला, संगीत की अकादमियां स्थापित कीं। नये-नये लेखकों, कवियों, कहानीकारों, अभिनेताओं, वाद्यकारों और संगीत-कारों व चित्रकारों को प्रोत्साहित किया। यहां के लोक-जीवन, लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य एवं लोक-कला के पुनरोत्थान के लिए भगीरथ प्रयत्न किए। यह डा. परमार और प्रार्थी के ही प्रयत्नों का फल है कि आज हिमाचल का लेखक देश-भर में आदर पा रहा है। यह उन्हीं की देन है कि हिमाचल प्रदेश का अपना इतिहास, अपना साहित्य, अपने चित्र, अपने गीत का संकलन, अन्वेषण पूरे जोर से हो रहा है और यहां के युवा-वर्ग के मानसिक विकास के सभी साधन सुलभ हो गए हैं। साहित्य के क्षेत्र में नई लहर आई, पहाड़ी भाषा का विशिष्ट स्वरूप निखरा, पहाड़ी संस्कृति के प्रति नया मोह जगा।

यह डा० परमार की दूरदर्शिता, उनकी बौद्धिक परिपक्वता एवं पहाड़ी संस्कृति से अगाध प्रेम का फल है कि हिमाचल के लोगों ने अपने गांव, अपने परगने, अपनी-अपनी रियासत को 'देश' कहना छोड़ दिया। धार और गाड की सीमाएं तोड़ दीं और हिमालय को धौलाधार, किन्नर कैलाश, श्रीखंड और चूड़-धार तक सीमित न रख कर नगाधिराज देवात्मा की सम्पूर्णता में देखने लगे। अपने भूत को जानकर, वर्तमान की स्थिति से अवगत हो, भविष्य का मार्ग सुनिश्चित करने के सार्थक प्रयत्न होने लगे। लोक-साहित्य एवं लोक-कला के विविध आयामों का अध्ययन, अन्वेषण और प्रकाशन होने लगा। इसमें हिमाचल सरकार द्वारा प्रकाशित 'हिमप्रस्थ' ने सराहनीय काम किया। इस मासिक पत्र ने सबसे पहले अपने पृष्ठ नये लेखकों और लोक-साहित्यकारों के लिए खोले और उन्हें प्रोत्साहित किया। शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि प्रदेश के वर्तमान लेखकों, कवियों और अन्य साहित्यकारों में से बहुतों को बनाने का श्रेय हिमप्रस्थ को हो। इस दिशा में हिमाचल सैक्रिटेरियेट लायब्रेरी के लायब्रेरियन मियां गोवर्धनसिंह ने भी सराहनीय योग दिया।

हिमाचल साहित्य, कला एवं भाषा अकादमी ने भी अपने प्रकाशनों द्वारा नव-जागरण की गति को तीव्र करने में, और उसके स्वरूप को निश्चित करने में काफी बड़ा भाग लिया। इतना ही नहीं, उदीयमान लेखकों की पुस्तकें छपवाकर उन्हें श्रेष्ठ साहित्य तैयार करने की प्रेरणा दी। इसका सुखद फल यह हुआ कि हिमाचल पर नई, गंभीर, विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी जाने लगीं। गहन, विशद खोज का क्रम आरम्भ हुआ और प्रदेश के जीवन को विभिन्न कोणों से देखा जाने लगा।

पत्रकार व शिक्षक

प्रदेश के जन्म के प्रारंभिक वर्षों में पंडित घनश्याम दास ने अपने 'सहयोग' के माध्यम से, श्री हीरासिंह पाल ने 'हिमाचल सन्देश' द्वारा, पंडित विद्यासागर ने हिम कल्पद्रुम और श्री जन बिहारीलाल खाची ने 'पीक' के सम्पादन से सामू-

हिक जागृति लाने में बड़ा काम किया। खाची की सशक्त कलम ने, तर्कपूर्ण सम्पादकीयों ने नवयुवकों को रोमांचित किया था। प्रदेश से बाहर दिल्ली में स्टेट्समैन जैसे मान्यता-प्राप्त समाचारपत्रों के राजनीतिक व्याख्याकार के रूप में धामी के चन्द्रशेखर पंडित ने कई युवकों को पत्रकारिता अपनाने को प्रेरित किया। उधर श्री शिवशरणसिंह ठाकुर रेडियो नाट्य में सारे भारत में बड़ा नाम कमा चुके थे। प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानीकार, साहित्यकार यशपाल की कृतियों ने हिमाचली युवकों को प्रेरित किया, और उनकी आत्मश्रद्धा को बढ़ाया।

धामी के ही आचार्य दिवाकर दत्त ने संस्कृत एवं संस्कृति के रक्षण-प्रसारण के लिए संस्कृत मासिका 'दिव्यज्योति' का सम्पादन-प्रकाशन कर न सिर्फ हिमाचल प्रदेश में बल्कि सारे उत्तरी भारत में नए कीर्तिमान स्थापित कर दिए। 'दिव्य-ज्योति' संस्कृत-हिन्दी प्रेमियों, विद्वानों एवं अनुसन्धानकर्ताओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध हुई।

नूरपुर के जस्टिस मेहरचन्द महाजन का सुप्रीम कोर्ट का चीफ जस्टिस बनना और प्रदेश में ठाकुर चेतराम का हाई कोर्ट का जज बनना, दो ऐसी घटनाएं थीं, जिन्होंने युवकों के अहं को बल दिया, उसी तरह जैसी जनरल कशमीरसिंह कटोच्च, जनरल आनन्दसिंह पठानिया व जनरल महेन्द्रसिंह पठानिया का सेना के उच्चतर पदों का भार संभालना और देश-भर में उनकी प्रशस्ति की चर्चा होना। उनकी देखादेखी अनेक सुशिक्षित युवक वकालत और फौज की ओर मुड़े। कांगड़ा से अब सिपाही के संग-संग सेना के तीनों अंगों में अफसर भी बड़ी संख्या में बनने लगे। सन् 1965 के युद्ध में वीरेन्द्रसिंह पठानिया ने जब पाकिस्तान के सेबर जेट को हवाई युद्ध में मार गिराया और देश के मनोबल को उन्नत किया तो सारा हिमाचली युवक वीरेन्द्रसिंह की तरह ही अपने आप को नायक समझने लगा था।

नवजागरण के सूत्रपात के लिए उपयुक्त भूमि तैयार करने में कतिपय शिक्षकों की भूमिका की चर्चा करना उचित होगा। इस सन्दर्भ में यह बात भूलनी न होगी कि शिक्षा का प्रसार रियासतों में वहां के शासकों की दूरदर्शिता तथा रुचि का ही परिणाम था। इन शासकों में बुशैहर के राजा पद्मसिंह का नाम प्रमुख है। स्वयं अधिक पढ़ा-लिखा न होने पर भी राजा पद्मसिंह ने अपनी रियासत में शिक्षा के प्रसार के लिए अनथक प्रयत्न किए। जगह-जगह लड़कों और लड़कियों के स्कूल खोले और वजीफा देकर प्रखर बुद्धि के विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए लाहौर, दिल्ली और दूसरे केन्द्रों में भेजा। इस राजा का नियम था कि जब रियासत के बच्चे हाई स्कूल की परीक्षा देने शिमला जाते, तो उन्हें राजमहल में बुलाकर उनसे मिलता, उनके सिर पर प्यार से हाथ फेरकर उन्हें आशीर्वाद देता था। उसके इस कार्य में हेडमास्टर पंडित दौलतराम का बहुत भारी सहयोग रहा। अथक परि-श्रमी, अनुशासनप्रिय, निर्भीक, निष्पक्ष, अपने विषयों का प्रकांड विद्वान यह अध्यापक रामपुर हाई स्कूल का हैडमास्टर तो था, राज्य में शिक्षा का सर्वोच्च अधिकारी

भी था। उसी के समान शिक्षा के लिए जीवन समर्पित करने वालों में किन्नौर के नेगी वंगडुप छरिंग, कुल्लू के पंडित यज्ञानन्द और दुर्गादेव काश्यप, कांगड़ा के कवि मार्तंड गोपाल शर्मा शास्त्री और कोटगढ़ के पादरी धनसिंह थे। गोपाल शर्मा ने शिक्षा के इलावा इतिहास एवं साहित्य रचना द्वारा भी युवकों को प्रेरित किया। पादरी धनसिंह, पंडित दौलतराम की तरह अपने जीवन में ही स्वयं में एक संस्था बन गए थे। मिशन स्कूल कोटगढ़ का हेडमास्टर राजपूत से इसाई बना। यह पादरी हिमाचली संस्कृति की प्रतिमूर्ति था। सच्चा, ईमानदार, दयालु, सहृदय, भोला, कर्मनिष्ठ, लग्न का पक्का, हंसमुख, इस पहाड़ी संस्कृति के शैदाई शिक्षक ने, अपने विचार, आचार, शिक्षा-दीक्षा से बीसयों युवकों को प्रदेश की समोन्नति का अग्रदूत बनाया। प्रार्थी के समान ही पादरी धनसिंह को लोक-गीत, लोक-नृत्य से प्यार था। लामण गीतों का जितना संग्रह इसके पास था, शायद ही किसी दूसरे के पास रहा हो। पादरी धनसिंह स्वयं भी उच्च कोटि का लामणकार था। उसके ये पदद्वय— गांगा बोहा खोदली, जोबना बोहा सूरू ए झोटे,

दायें हाथे धौर्मा, दे न संगिया खोटे। तथा

कांडेआ कोर्था, नैइए मेरे आ घोला, डैन्दी मेरी चिड़िए, छाती दी बुणदी कोला। अर्थ की गंभीरता, भावों की गहनता तथा शुचिता के अच्छे नमूने हैं।

सेब और आलू

प्रदेश के लोगों के आत्म-सम्मान व गौरव को बढ़ाने का इसी कोटि का कार्य किया पादरी सैम्युअल स्टोक्स ने। अमेरिका से आए इस मिशनरी ने ईसाई धर्म छोड़कर हिन्दू धर्म स्वीकार किया। सत्यानन्द नाम रख कर पूर्ण निष्ठा से हिन्दू धर्म के आदर्शों के प्रचार-प्रसार में जीवन व्यतीत किया। इस धर्म-परिवर्तन ने सारे प्रदेश के लोगों को चमत्कृत कर दिया और अभी तक हीनता की जिस भावना से वे दबे थे, एक झटके के साथ ऊपर उठ आए। स्टोक्स ने पूरी तरह अपने आप तथा अपने सारे परिवार को भारतीय परिवेश में ढाल दिया। उसका दूसरा दूर रस कार्य था सेबों की वैज्ञानिक तरीके से बागवानी का प्रसार। खुले दिल से उसने कोटगढ़ और आसपास के लोगों को सेबों की नई किस्मों से वाकिफ कराया और उन्हें बड़े पैमाने पर, बागवानी करने के लिए प्रेरित किया। सच्चे अर्थों में सत्यानन्द स्टोक्स ही हिमाचल प्रदेश की सेब-अर्थ-व्यवस्था का जनक कहा जा सकता है। कोटगढ़ और दूसरे इलाकों के जीवन का कायाकल्प कराने का श्रेय इसे ही है।

सेब और आलू की काश्त ने कुल्लू, शिमला, मंडी, सोलन, किन्नौर और सिरमौर तथा चाय के बागान ने पालमपुर की अर्थ-व्यवस्था को एकदम बदल दिया। सम्पन्नता के नये युग का सूत्रपात हुआ, जिसे शासन की विविध विकासोन्मुखी योजनाओं ने सुदृढ़ किया। अकेले सेब से प्रदेश में प्रतिवर्ष लगभग 200 करोड़ रुपया आने लगा। रोजगार के नये-नये मार्ग खुले। जगह-जगह बिजली

आई। सड़कों का जाल बिछ जाने से प्रदेश की सारी अर्थ-व्यवस्थां को आधुनिक स्थायी आधार मिला। जीवन ज्यादा व्यस्त हो गया और जिन्दगी जीने के साधन व तरीके बदल गए। इसका सीधा प्रभाव समाज के गठन और उसकी संस्कृति पर पड़ा। पुराने बन्धन ढीले हो गए। व्यक्ति, परिवार, गांव सभी कुछ बदलने लगा।

बदलाव का सबसे अधिक प्रभाव समाज के उन दो वर्गों पर पड़ा जो आज तक सबसे ज्यादा कुचले जा रहे थे। ये वर्ग थे नारी और अनुसूचित जातियां। पहली बार उन्हें खुले वातावरण में सांस लेने का मौका मिला और अपनी इच्छानुसार आगे बढ़ने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ। बाहिरके और भीतर के का भेद मिटने लगा।

नारी

यह कहना कदापि अतिशयोक्ति नहीं है कि पहाड़ी प्रदेश में आर्थिक और सामाजिक जीवन का मूलाधार नारी है। इसी कारण वह स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी। कठिन जीवन, रात-दिन का कमरतोड़ परिश्रम, घर से दूर खेतों, वनों, जंगलों में काम, गृहस्थ की देखभाल और लगभग समूचे कृषि-कर्म की जिम्मेदारी ने उसे स्वच्छन्दता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास दिया, लेकिन समाज के सम्पन्न, शिष्ट, सुसंस्कृत और उच्च वर्गों में वह एकदम परतंत्र बन गई। यह विरोध सरसरी तौर पर देखने से भी मालूम पड़ जाता है।

उच्च, सम्पन्न घरानों में नारी जीवन-पर्यन्त आर्थिक रूप से परतन्त्र चली आती रही है। बचपन में वह अपने माता-पिता और विवाहोपरान्त पति पर आश्रित रही है। हिन्दू उत्तराधिकार कानून से पहले उसकी अपनी न तो कोई जमीन होती थी और न ही अन्य जायदाद। विधवा हो जाने पर या तो वह अपने ससुराल वालों पर या अपने माता-पिता पर आश्रित थी। इस वर्ग की स्त्रियां, खासकर उच्च राजपूत और ब्राह्मण घरानों में, केवल घर के भीतर का कामकाज ही देखती थीं। वह खाना पकाती हैं, चक्की चलाती हैं, कातती हैं, पानी भरती हैं, लेकिन सामान्यतः खेती का काम नहीं करती हैं।

इस वर्ग की स्त्री में नारीत्व के प्रति गर्व है। अपनी मान की रक्षा वह जान पर खेलकर भी करती है। प्रातिव्रत्य में उसका आदर्श बहुत ऊंचा रहा है। चम्बा में छत्राढी तथा कुल्लू में निरमंड जैसे ऐतिहासिक सांस्कृतिक केन्द्रों में उच्चकुलीय स्त्रियां पर-पुरुष की परछाईं तक से दूर रहा करती थीं। उनका सदा यह प्रयत्न रहा करता था कि पर-पुरुष के सामने से वे गुजरें भी न, जिससे उसे उनके शरीर-सौष्ठव की ओर आकर्षित होने का मौका ही न मिल पाए। यही कारण है कि वे स्थांग या थाणीं व चौतड़े के पीछे से चला करती थी, ताकि थाणीं, थाणों पर बैठे समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति, जनपदीय नेता उन्हें न देख सकें। कांगडा, हमीरपुर में उच्च राजपूत घरानों की स्त्रियां बहुधा पालकी में आया-जाया करती थीं। जिन परिवारों का पालकी रखने या कहार करने का सामर्थ्य नहीं था, उनकी स्त्रियां

अपनी यात्रा का ऐसा समय और रास्ता इख्तियार करती थीं, जहां पर-पुरुष की नजर न लगे। घर पर भी बड़े-बजुर्गों से पर्दा करती थी, और सदा सिर झुका कर ही बात करती थीं। शील और संयम की वे साकार मूर्ति थीं। समाज भी उनसे शील और पातिव्रत्य का ऊंचा आदर्श मांगता था। इसीलिए भूंडा जैसे धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर सार्वजनिक तौर पर उनके पातिव्रत्य की परीक्षा ली जाती थी और सहस्रों लोगों के सामने उन्हें 'दिया भरना' होता था।[1]

समाज के घिरथ, राठी, खश, कनैत, राहू और कोली आदि अन्य वर्गों में और पूर्वोत्तरी सीमान्त में स्त्रियां अपेक्षाकृत स्वालम्बी हैं। वे पुरुषों से बढ़कर काम करती हैं। पुरुष तो केवल हल चलाते हैं। खेती की गुड़ाई, नलाई, गोबर डालना, फसल काटना, आदि सभी काम स्त्रियां करती हैं। गाय, बैल, भैंस की देखरेख उनके जिम्मे है। घास-लकड़ी लाना उनका काम है। खाना पकाना वे जानती ही हैं। उपजाऊ भूमि थोड़ी, काम करने का समय, मौसम के कारण, थोड़ा, उपज थोड़ी लेकिन जिम्मेदारियां ज्यादा हैं। यही कारण है कि वे एक ओर जीवन के भार तले दबी, कुचली, दीनहीन, निरीह पशुतुल्य दीखती हैं, तो दूसरी ओर उनमें आत्म-सम्मान की कमी भी नहीं है। वे अपना आर्थिक मूल्य जानती हैं। अतः यदि पति-गृह उन्हें उचित सम्मान और तुष्टि देने में असमर्थ हो जाए, तो उसका परित्याग करने में भी उन्हें झिझक नहीं होती है। वे दूसरा घर बसा सकती हैं और कई बार बसा भी लेती हैं। अपने महत्त्व एवं अधिकार के प्रति यह जागरूकता ही पति-त्याग और पुनर्विवाह का कारण है।[2]

स्वतन्त्रता के बाद हिमाचली नारी का यह स्वरूप कुछ धुंधला पड़ता जा रहा है। उसके दोनों वर्गों में बदलाव बड़ी तेजी से आ रहा है और दोनों एक ही धरातल पर आ रहे हैं। निचला वर्ग तीव्र गति से ऊपर वाले वर्ग के पास पहुंचना चाहता है और ऊपर वाला वर्ग आर्थिक तथा अन्य कारणों से नीचे आकर उससे मिल रहा है। अतः इस समानीकरण की प्रक्रिया ने ही हिमाचली नारी को एक नया व्यक्तित्व दे दिया है, जिसमें न केवल उसकी वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन, भाषा-बोली बदल गयी बल्कि उसके बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया और उसका व्यक्तित्व, उसका जीवन अधिक पूर्णत्व प्राप्त कर रहा है।

यह संक्रामक काल है, मूल्य बदल रहे हैं, पुराने की जगह नए मूल्य, नए आदर्श नई आशाएं, नई आकांक्षाएं आ रही हैं। यह जितना सच नारी के लिए है, उतना ही सारे समाज के लिए भी। एक तरह से यह समुद्र-मंथन है, जिससे विष भी निकला, लेकिन साथ में लक्ष्मी और अमृत भी।

□□
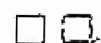
1. हिमाचल प्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन।
2. वही

सहायक पुस्तकें

1. Harappan Civilization —G. L. Possehl
2. Harappan Civilization —B. K. Thapar
3. Surviving Harappan Civilization —P. C. Kashyap
4. Prehistory and Proto history of India and Pakistan —H. D. Sankalia
5. The Indus Civilization —R. E. M. Wheeler
6. Indus Civilization —A. D. Pulaskar
7. Transformation of Harappan Culture in Panjab —Y. D. Sharma
8. Advanced History of India — R. C. Mazumdar
9. The History and Culture of the Indian people —R. C. Mazumdar
10. Advanced History of India —K. A. Nilakanth Shastri
11. History of Indian Civilization —Radhakamal Mukherjee
12. A Comparative History of Vedic Literature —Satya Shrava
13. History of Himachal Pradesh — Goverdhan Singh
14. Cultural Heritage of the Himalayas —K. L. Vaidya
15. The Himalaya Borderland —Ram Rahul
16. Himachal Pradesh —H. C. Saraswat
17. Himalayan Polyandry —Y. S. Parmar
18. Himachal Pradesh Area and Language —Y. S. Parmar
19. History of Agriculture in India —M. S. Randhawa

20. Kangra Valley Paintings —M. S. Randhawa
21. Chamba Paintings —M. S. Randhawa
22. Kangra Paintings on Love —M. S. Randhawa.
23. Early Wooden Temples of Himachal Pradesh —Hermann Goezr
24. Culture and Civilization of Ancient India —D. D. Kosambi

हिन्दी

1. संस्कृति के चार अध्याय —रामधारीसिंह दिनकर
2. कुलूत देश की कहानी —लालचन्द प्रार्थी
3. वैदिक वाङ्मय का इतिहास —भगवद्दत्त सत्यश्रवा
4. बौद्ध धर्म-दर्शन —आचार्य नरेन्द्र देव
5. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा —आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
6. हिमाचल प्रदेश, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन —पद्मचन्द्र काश्यप
7. कुल्लुई लोक साहित्य —पद्मचन्द्र काश्यप
8. हिमाचली लोक गाथाएं —लोक सम्पर्क विभाग, शिमला
9. हिमाचल प्रदेश —देवराज शर्मा
10. हिमानियों के देश में —रामकृष्ण कौशल
11. ऋग्वैदिक आर्य —राहुल सांकृत्यायन
12. मध्य एशिया का इतिहास —राहुल सांकृत्यायन
13. पंजाब का पर्वतीय साहित्य —मोहन मैत्रेय
14. ऋग्वेद
15. महाभारत
16. हिमाचल प्रशस्ति —गोपाल शर्मा शास्त्री
17. जन साहित्य पार्वती लोक मानस विशेषांक
18. लोमहर्षिणी —कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी
19. भगवान परशुराम —कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
20. अर्थशास्त्र —कौटिल्य

□□